वर्ष : 8 • अंक : 30 • अक्तूबर-दिसम्बर 2021 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

रूपेश कुमार चौहान
स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक
द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।
दूरभाष संख्या-09555222747, 9267944100, 9555666907
Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 5000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* लेख में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोध लेखक के अपने विचार हैं तथा इसमें सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल के विचारों की उद्भावना स्पष्टत: नहीं है। अत: इसके लिए शोध-लेखक स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**

*** शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. एम.एस. चौहान**
(निदेशक, राष्ट्रीय डेयरी शोध संस्थान, करनाल, हरियाणा)
- **प्रो. अरविन्द कुमार पाण्डेय**
(पूर्व कुलपति, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व कला संकाय अध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **महामहोपाध्याय प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री**
(पूर्व उप-कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. शम्स-उल-इस्लाम**
(प्रधानाचार्य, गया कॉलेज, गया, बिहार)
- **प्रो. राम सरेख सिंह**
(पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **प्रो. पवन अग्रवाल**
(हिन्दी एवं आधुनिक भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)
- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)
- **प्रो. आभा त्रिवेदी**
(पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)
- **प्रो. कमला उपाध्याय**
(विभागाध्यक्षा, संस्कृत, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर, जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय, जम्मू)
- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)
- **डॉ. विक्रमादित्य राय**
(अध्यक्ष, समाज-शास्त्र विभाग, डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, (बी.एच.यू.) वाराणसी
- **प्रो. राजेश रंजन**
(पालि विभाग, नालन्दा नव-महाविहार)
- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. मनीष सिन्हा**
(अध्यक्ष, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)
- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Mob : 9555222747, 9540468787,
9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Assistant Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
Asst. Prof., Department of Sanskrit
PGDAV College, University of Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Co- Editor
Abhishek Priyadarshi
M.A., Ph.D. (History),
Asst. Prof., History Department
Satyawati College, University of Delhi
Mob. 9971656921

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
I-11, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (Bihar) :
Prof. D.S. Chauhan
C/o Late Bindeshwari Singh, Jaiprakash Nagar, Gewal Bigha,
Gaya*-823001*
Mob. : 9263078395

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

Correspondence Address :
B-11/39, MIG Flats, Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747
www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. वी.के. यादव**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. कृष्ण लाल**
(सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, अरविन्दो कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **डॉ. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. दिलीप कुमार झा**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. राजमोहिनी सागर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. सुभाष कुमार सिंह**
(संस्कृत विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चन्द्रशेखर राम**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. लालजी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

प्रो. मदन मोहन अग्रवाल

पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. दलवीर सिंह चौहान

पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार

प्रो. राजवीर शर्मा

पूर्व उपाचार्य, राजनीति शास्त्र विभाग,
आत्माराम सनातन धर्म महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय ..... *viii*

टीका और उसकी अन्य लाक्षणिक प्रवृत्तियों का सैद्धान्तिक अवलोकन 1
डॉ. शंकर नाथ तिवारी

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में मानवतावाद .. 19
डॉ. मीनाक्षी

लोकगीतों के धरोहर : देवेन्द्र सत्यार्थी 23
लक्ष्मी

मानवाधिकार का संदर्भ और भारतीय परिप्रेक्ष्य में इनके अनुपालन की चुनौतियाँ 28
डॉ. कमलेश रानी

उस्ताद अमीर खां साहब का संगीत में योगदान 32
डॉ. सुनीति दत्ता

निराला की लम्बी कविताओं से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद 37
डॉ. अनिल कुमार

जो दिया जग ने वही फिर भाव बनकर लौट आया 42
डॉ. भवानी दास

नयी सदी के हिंदी सिनेमा की स्त्री पर पश्चिमी सिनेमा का प्रभाव 46
डॉ. दिनेश के. सैनी

प्रकृति-राग और दिनकर की कविता 49
डॉ. ज्ञान प्रकाश

भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में पुरातात्विक स्रोतों की प्रासंगिकता 53
मुकेश पासवान

रामकाव्य परंपरा में साकेत का स्थान 57
डॉ. पुष्कर सिंह

नई शिक्षा नीति 2019 के संदर्भ में विकलांग व्यक्तियों के समवायजन 62
पंकज कुमार सोनी

महामारी में हिंदी साहित्य एवं शोध के बदलते आयाम 66
रेनु कुकरेती

हिंदी कहानी में हाशिये पर संघर्षरत किन्नर समाज 69
डॉ. सत्येंद्र प्रताप सिंह

प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों के भाषा कौशल में बहुभाषीय परिवेश का योगदान 74
परमजीत कौर

उपनिषदों में वाक् का स्वरूप 79
डॉ. प्रीति कौशिक

वेदान्त दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों की मीमांसा 82
बिभूति कुमार

कबीर के समय का समाज 87
मनीषा

जनसंचार माध्यम और हिंदी 92
डॉ. संगीता रानी

'कारमाँवाली' में भारत विभाजन की त्रासदी 98
डॉ॰ मिथुन कुमार

बृहत्संहिता में पर्यावरण बोध 102
डॉ. सरिता शर्मा

शब्दानुशासन (मुष्टिव्याकरण) में तात्कालिक समाज का चित्रण 107
डॉ. जितेन्द्र कुमार

वैश्वीकरण : सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष ... 113
शिवपूजन प्रसाद पाठक

दशरहस्यवाद के आलोक में वैदिक, पौराणिक तथा पाश्चात्य सृष्टिप्रक्रिया विमर्श का तुलनात्मक अध्ययन 124
डॉ. श्रुतिकान्त पाण्डेय

पाणिनीय व्याकरण में ज्ञापक-विमर्श 128
डॉ॰ रतीश चन्द्र झा

योग का चिकित्सकीय आयाम 132
डॉ. श्री भगवान

महाकवि निराला के काव्य की भाव-भूमि 135
डॉ. पंकजेन्द्र किशोर

भ्यसो भ्यम् : एक व्याकरणिक समीक्षा 138
डॉ. रवि प्रभात

पद्मावत और सार्वभौमिक मानव मूल्य 141
डॉ. भारती

पाली जिले का सांस्कृतिक वैभव एवं साहित्य सृजन परम्परा : ऐतिहासिक अध्ययन 147
आईदान सिंह

भारतीय चिन्तनपरम्परा में परिवार संकल्पना 157
डॉ. आशा तिवारी

हिंदी उपन्यास में किन्नर समाज 162
डॉ. मनीष कनौजिया
हिन्दी उपन्यास और मुस्लिम जीवन का यथार्थ 167
हृदय कुमार
विजयदेव नारायण साही की आलोचना-दृष्टि .. 174
आशु मिश्रा

सम्पादकीय

''आजादी का अमृत महोत्सव'' इस कार्यक्रम का उद्घाटन प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 12 मार्च 2021 को अहमदाबाद में किया। निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार अमृत महोत्सव 15 अगस्त 2022 से 75 सप्ताह पूर्व प्रारंभ हुआ। यह अद्भुत और भव्य राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम 15 अगस्त 2023 तक चलेगा। किसी भी राष्ट्र के लिए आजादी के 75 वर्ष होना अपने आप में बहुत ही पवित्र अवसर एवं उल्लेखनीय उपलब्धि की तरह है। पराधीनता के उस दौर की कल्पना कीजिए जब लाखों-करोड़ों लोगों ने अपना सर्वस्व न्योछावर कर इस आजादी के सपने देखे थे। आज आजादी के 75वें वर्ष में उन महान् बलिदान की परम्परा को नमन करते हुए देश के लिए कुछ करने एवं जीने का संकल्प करने का अवसर यह अमृत महोत्सव प्रदान कर रहा है। आजादी के लिए उस कालखंड में जितने भी आन्दोलन हुए सारे महत्वपूर्ण आन्दोलन थे। 1857 की क्रांति हो या संथाल क्रांति, भील आन्दोलन, मुंडा क्रांति से लेकर भक्ति आन्दोलन तक सबकी अपनी अपनी भूमिका है। रामकृष्ण परमहंस, चैतन्य महाप्रभु और शंकर देव जैसे संतो ने पूर्वी भारत में लोगों के बीच नई ऊर्जा एवं जिजीविषा की प्रेरणा दी। पश्चिम भारत में मीराबाई, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, नरसी मेहता, उसी तरह से दक्षिण भारत में निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, आचार्य मधव, रामानुजाचार्य जैसे आचार्य ने भक्ति काल के इस कालखंड में लोगों को जागृत किया। जनसामान्य को त्याग और बलिदान का पाठ पढ़ाया। जीवन जीने का मार्ग बताया। रामानंद, कबीरदास, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, गुरु नानकदेव जैसे संतों ने भी लोगों को जगाया। इस तरह कहा जा सकता है कि अनेक व्यक्तियों ने इस आंदोलन में अपनी अपनी सीमा में रहकर अपने-अपने तरीके से लोगों को जागृत किया। मंगल पांडे, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु, अशफाक उल्ला खान से लेकर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार बल्लभ भाई पटेल, बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर, सुभाषचंद्र बोस, मौलाना आजाद, खान अब्दुल गफ्फार खान, वीर सावरकर जैसे अनगिनत आजादी के दीवानों ने इस आजादी के सपने देखे और उसको पूरा करने के लिए अपना सब कुछ लगा दिया। महान् बलिदानियों को युवा पीढ़ी से परिचित कराने के लिए वाक् सुधा विशेषांक निकालने के लिए संकल्पित है। आजादी के अमृत महोत्सव पर केंद्र एक नहीं कई त्रैमासिक अंक निकल सकते हैं। इसलिए सभी शोधकर्ताओं, युवा शोधार्थी मित्रों और अन्य सभी तरह के अध्येता का आह्वान करता हूँ कि अच्छे विद्वतापूर्ण, शोध आलेख भेजें। सबको उद्बोधित करने के लिए इस अक्टूबर-दिसम्बर 2021 के अंक के कवर पेज पर अमृत महोत्सव का लोगो लगाया गया है।

अंत में एक बात कहकर अपनी बात समाप्त करूंगा। वह बात यह है कि वर्ष 2021 पिछले 100 वर्षों में सबसे भयानक वर्ष की तरह बीता। मानव मात्र के लिए यह भय, कोरोना की विभीषिका से सम्पूर्ण विश्व कराह उठा। करोड़ लोगों को कोरोना वायरस ने बीमार कर दिया। लाखों लोगों की मृत्यु हो गई। हजारों परिवार बर्बाद हो गए। कितने उद्योग, व्यापार, रोजगार नष्ट हुआ इसका आकलन होना अभी बाकी है। इस समय जब नया वर्ष 2022 जब शुरू ही हुआ है तब उसी कोरोना का नया वेरिएंट ओमिक्रोन फैलने लगा है। परन्तु यह उतना खतरनाक नहीं है। फिर भी सतर्कता बहुत जरूरी है 'सावधानी हटी दुर्घटना घटी'। इसलिए सतर्क रहें सावधान रहें, पैनिक हुए बिना कोरोना पर सरकार द्वारा समय-समय पर जारी किए जा रहे, दिशानिर्देशों का पालन करें। सभी को नववर्ष 2022 की मंगलकामना।

- राजेश कुमार

शोध-पत्र

टीका और उसकी अन्य लाक्षणिक प्रवृत्तियों का सैद्धान्तिक अवलोकन

डॉ. शंकर नाथ तिवारी

टीका : व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

टीका शब्द (टीकृ गतौ) गत्यर्थक टीकृ-टीक् धातृ से घञ् के अर्थ में किये गये क्-अ प्रत्यय से निष्पन्न होकर स्त्री प्रत्ययान्त टाप् प्रत्यय लगाने से बना है,[1] जबकि वाचस्पत्य संस्कृत-कोशकार करणार्थ में टीक् धातु से घञ् होने पर टीका की निष्पत्ति मानते हैं।[2] जितने गत्यर्थक् धातु होते हैं, वे ज्ञानार्थक भी होते हैं, इस परिपाटी के अनुसार उपर्युक्त टीका का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ''टीक्यते गम्यते ग्रम्यार्थोऽनया' (ग्रन्थ का अर्थ इसके द्वारा जाना जाता है। टीका-टीक्यते, गम्यते, प्रविश्यते, ज्ञायते वा अनया इति टीका) वह टीका कहलाती है। अतः यह स्वयं सिद्ध है कि टीका ग्रन्थों के अर्थ को बतलाने के लिए प्रमुख साधन है। 'टीका गुरूणां गुरुः' वाली उक्ति भी इसलिये प्रसिद्धि पाई है कि बिना गुरु के भी ग्रन्थों की जटिल ग्रन्थियों को सुलझाने का काम टीका द्वारा बड़ी ही सरलता से साधा जा सकता है, अथवा टीका गुरुजनों को भी ग्रंथ की ग्रन्थियों को सुलझाने में सहायता पहुँचाती है।[3]

राजशेखर ने यथासम्भव अर्थ के स्पष्टीकरण के प्रयत्न को 'टीका' माना है।[4] संक्षेप में भाषा एवं भाव-स्पष्टीकरण के प्रयत्न को टीका कहा जाता है। ज्यों-ज्यों आवश्यकता बढ़ती है, आविष्कार अपने पंख फैलाया करता है। टीका की विविधता और विभिन्न परिभाषाएँ भी मानव के अधिकाधिक चिन्तन की उपज है।

अनेक ग्रन्थों के मनन में जब उनकी दुरूहता का आभास होता है और उनके भावार्थ को ग्रहण करने में बृद्धि कुण्ठित हो जाती है, तब रेगिस्तान में पीयूषवाहिनी गंगा-स्वरूप टीकारूपी ज्ञानगंगा का दर्शन ही निराशा में आशा का संचार करता है। 'टीका साहित्य की गूढ़ निधियों की कुंजी है'[5], अतः इस कुंजीरूपी अलभ्य लाभ के साधन को देख सहसा विचार उठता है कि मर्मज्ञ टीकाकारों के माध्यम से कृति-विशेष की भाषा, भाव, प्रसंग-सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए पाठकों को उसका भली भांति से रसास्वादन कराने वाली टीका यदि नहीं होती तो वेदाध्ययन द्वारा प्राचीन ज्ञान-गरिमा का ज्ञान कैसे प्राप्त होता? उनके भाव-सौन्दर्य तथा उनके भावार्थ का ज्ञान साधारण-बुद्धि पाठक को कैसे होता? वेद तो दैवी-रचना के रूप में मान्य है और मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों द्वारा स्थिति को प्राप्त हुए हैं।[6] वेदों की वैदिक भाषा जिसे देववाणी कहा जाता है–के भावों का बोध भाष्यकारों की अनुपस्थिति में कौन कराता? सायण आदि के भाष्य न होते तो कोई विद्वान्, क्या वेदों के बीहड़ जंगल में घुसने का साहस कर सकता था? श्रीधर आदि की दीपिका-टीका न होती तो क्या उनके उत्तरकालवर्ती विद्वान् भागवत के निकुंजों में घुस पाते, शाङ्कर-भाष्य न होता तो ब्रह्मसूत्रों के दस-दस पाँच-पाँच अक्षरों के सूत्रों के तात्पर्य को कोई निकाल सकता था? यही हालत उपनिषदों की होती। शंकराचार्य के बताये हुए मार्ग से ही इन शास्त्रों में तदुत्तरकालवर्ती विद्वान् घुस पाये हैं।

वास्तव में टीका-प्रवृत्ति का मानव-मस्तिष्क में निर्माण कर ईश्वर ने उसकी ज्ञान पिपासा को शान्त करने में सुधादान का कार्य किया है। भावों में तरंगायित सागर को काव्य-गागर में भरकर मनुष्य ने टीका के सम्बल से ही उसे चिरंजीवी बनाया है। टीका शापित मानव का वरदान है। यह वरदान कब, कैसे और कितने परिश्रम एवं सोपानों

से प्राप्त हुआ, यह कह सकना तो कठिन है, किन्तु अनुमान के सहारे उसकी प्रकृति एवं स्थिति का साधारण ज्ञान अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।

मानव मस्तिष्क अपने उष:काल से ही सारल्प की ओर आकर्षित होता रहा है। अपनी सीमाओं और काव्य-शास्त्रीय गहनताओं एवं साहित्य की विशालता के कारण उसकी इस सरलता की प्रवृत्ति ने ही सम्भवत: टीका को जन्म दिया होगा। मानव जब अपने प्रारम्भिक काल में भाषा का प्रयोग नहीं जानता था तब उसे संकेतों से ही अपने अन्तर के भावों का प्रकटीकरण करना पड़ता था। मूक-मानव के उन हाव-भावों एवं चेष्टाओं की सांकेतिक-भाव-भाषा की सरलता से समझ लेना कठिन कार्य था और इसी कारण उसे समझने के लिए आदि-मानव को परस्पर एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता हुई होगी। प्रोफेसर कापड़िया ने इसके सम्बन्ध में अनुमान किया है कि मानव ने जब अपने विचारों का आदान-प्रदान प्रारंभ किया होगा उसी समय टीका की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी।[7] विचारों के आदान-प्रदान की इस प्रारंभिक अवस्था से लेकर आज तक के विकास एवं उत्तरोत्तर उन्नत भावों के प्रकटीकरण की विभिन्न विधियों के साथ-साथ भाव-ग्रहण की इस प्रवृत्ति (टीका) ने भी अनेक करवट बदली, अनेक रूप धारण किये। टीका के प्रारंभिक स्वरूप तथा आज के स्वरूप में परिवर्तन का स्वरूप यदि हम खोजना चाहें तो उसका उत्तर यही होगा कि साहित्यकार के समय-समय पर परिवर्तित होनेवाले दृष्टिकोण तथा उसी के अनुरूप साहित्य में उसके नवीन अनुभवों के प्रकटीकरण के फलस्वरूप टीका के स्वरूप एवं उसकी विधायिनी शक्ति में भी अन्तर उपस्थित होता रहता है।[8] आदि मानव की इस प्रारम्भिक टीका-वृत्ति ने काव्य सौन्दर्य को परखने में उत्तरोत्तर विकसित दृष्टिकोण उपस्थित किया और आने वाली परम्परा में उसका नामकरण करके उसे स्थायी बना दिया।

मनोविज्ञान का यह मान्य तथ्य है कि बालक में बाल्य के संस्कार जितने चिरस्थायी होते हैं उतने जीवन के उत्तरकाल में सम्भवत: अन्य संस्कार नहीं। टीका प्रवृत्ति ऐसे ही संस्कारों में से एक है। हमारी दृष्टि में जब कोई आकर्षक दृश्य उपस्थित होता है तो उस दृश्य के आकर्षण का थोड़ा बहुत वर्णन किसी दूसरे के समक्ष किये बिना हमारे मन को शान्ति नहीं मिलती, यह प्रतिदिन के अनुभव से ज्ञात होता है। कान्ट इसी दृष्टि को यथार्थ मानता है।[9] इस प्रकार अनुभूति अभिव्यक्ति को जन्म देती है। यह अभिव्यक्ति भी टीका का ही एक स्वरूप है। मानवविकास की इस दीर्घ आयु में उसके बाल्यकाल की वह प्रवृत्ति, वह संस्कार जिसे हम टीका की संज्ञा देते हैं, एक जन्मजात सुसंस्कार के रूप में चिरस्थायी स्वरूप को प्राप्त कर रसज्ञ-कलाविदों के लिये क्रमश: साहित्य के क्षेत्र में कौशल प्रदर्शन का श्रेष्ठ माध्यम बन गया। ज्ञान-विज्ञान के मानव-रूपी इस पुतले ने अनेक परिवर्तन उपस्थित किये, अनेक आविष्कार को जन्म देखकर सृष्टि के स्वरूप को परिवर्तित कर दिया, किन्तु फिर भी वह टीका-प्रवृत्ति के अपने प्रारम्भिक संस्कार को विस्मृत नहीं कर सका, अपितु उसके विकास ने उसके इस संस्कार को एक सुन्दर एवं सुदृढ़ स्वरूप प्रदान किया और शब्दार्थ न जानने वाले की शरीर का बोझा ढोनेवाला कह कर निन्दा की।[10] ऋग्वेद, वरिवस्या-रहस्य, सुश्रुत सूत्रस्थान तथा महाभारत आदि में अर्थ-जान की महत्ता एवं अर्थज्ञान के बिना शास्त्रज्ञान की निरर्थकता का स्पष्टीकरण कर प्राचीन मनीषियों ने पुरुषार्थ सिद्धि के लिए अर्थज्ञान को आवश्यक माना है।[11]

टीका शब्द का जन्म सम्भवत: बाद में हुआ, किन्तु टीकाकार्य सृष्टि के प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में चलता रहा है। 'नानारूप-घरो भूत्वा सर्वेषामीप्सितप्रद:' होकर टीका-कार्य की इस प्रवृत्ति ने विभिन्न रूप धारण कर अपने चमत्कार से जन-जीवन एवं भावनाओं को सरस एवं चमत्कृत बनाया तथा साहित्य की जटिल ग्रन्थियों को सुलझा कर उन्हें बोधगम बनाया, यह निर्विवाद है। इस प्रवृत्तिवश 'एकोऽहं बहुस्याम' शब्दब्रह्म ने अकेलेपन की भावना से ऊबकर मानो टीका के रूप में सृष्टि-विलास किया और अपने पार्थिव स्वरूप का दर्शन हमें वेदों पर लिखे निरुक्त में कराया। निरुक्त ही टीका का अस्तित्व-सम्पन्न सुन्दर स्वरूप है, इससे पूर्व टीका का ऐसा स्वरूप कहीं परिलक्षित नहीं होता। निरुक्त, 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' आदि इसी टीका-प्रवृत्ति के निखरे हुए स्वरूप है।

विभिन्न परिस्थितियों में साहित्यकार अपनी प्रतिभा का आलोक फैलाता है। बिना उनका सूक्ष्म अध्ययन किये उसके अन्तरतम की आकांक्षाओं को आभा पाना अत्यन्त कठिन है, और यही कारण है कि वैदिक काल के उन ऋतम्भरा-प्रज्ञाशाली मन्त्र दृष्टाओं की अमूल्य धरोहर वेदों

का वास्तविक अर्थ प्रायः अज्ञात ही है। फिर भी अर्थ उद्‌बोधन के प्रयत्न में साहित्यकार में तादात्म्य स्थापित कर कृति द्वारा उसके अन्तर की गहराइयों में पैठ करने का टीकाकार का प्रयत्न एक सफल प्रयास के रूप में प्रतिष्ठित है।[12] प्रत्येक टीकाकार अपनी-अपनी दृष्टि को लेकर ही टीकाकार्य में प्रवृत्त होता है और अपनी-अपनी मान्यतायों को टीका में विशेष महत्त्व (स्थान) देता है। इस वैभिन्न्य के फलस्वरूप टीका में भी विभिन्न रूपों का जन्म होता जाता है। यही कारण है कि प्रारम्भ में जो टीका केवल ग्रन्थ का अर्थज्ञान प्राप्त करने तक ही सीमित थी, वह धीरे-धीरे 'टीका निरन्तर व्याख्या'- 'सुगमाना विषमाणाम् च निरन्तर व्याख्या' होती हुई इतनी विकसित हुई कि उसको एक साधारण परिभाषा की परिधि में बाँधना कठिन हो गया और कहीं टीका वृत्ति की भांति संक्षिप्त मानी गई तो कहीं ग्रन्थ की सभी गुत्थियों की सुलझानेवाली कृति के रूप में बना दी गई।[13] पं. आद्याप्रकाश मिश्र ने 'हिन्दी साहित्यकोश' में टीका के स्वरूप की इन विभिन्नताओं पर निर्णायात्मक विचार कर लिखा है-'यो तो संस्कृत के विशाल टीका साहित्य में शायद ही कोई टीका ऐसी मिले जिसमें प्रतिपद व्याख्यान हो, परन्तु प्रायः उपलब्ध सभी टीकाओं में मूल के प्रायः आवश्यक सभी पदों की व्याख्या मिलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दो चार टीकाओं में भले ही केवल विषम-पदों का व्याख्यान हो और वे बहुत संक्षिप्त हों, परन्तु प्रायः सभी टीकाग्रन्थों के सम्बन्ध में टीका का द्वितीय लक्षण ही अधिक घटित होता है।''[14] संस्कृत साहित्य में जो जो अर्थ 'टीका' का ग्रहण किया गया है, उस अर्थ में हिन्दी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।[15] हिन्दी ने जहां संस्कृत की सभी परिपाटियां अपनाई, वहाँ टीकाओं का ढंग भी थोड़ा-बहुत लिया यद्यपि वह गद्य के प्रभाव में बहुत ही अपूर्ण रहा।[16]

संस्कृत साहित्य में टीका का यह विस्तार अपने एक ही स्वरूप में सीमित नहीं रहा। टीका का शरीर तो वही था, किन्तु टीकाकारों ने उसे अपनी-अपनी मान्यताओं के आधार पर उसका शृंगार किया और नूतन-नूतन वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करके उसके स्वरूप में चकाचौंध उपस्थित कर दी, और वही टीका अपने उसी शरीर में विभिन्न नामों से पुकारी जाने लगी। कार्य वही था, किन्तु उसमें किसी ने एक विशेषता को स्थान दिया तो किसी ने दूसरी को, और इस प्रकार न्यूनाधिक्य के फलस्वरूप टीका के अनेक पर्यायवाची नाम प्रचलित हो गये। अर्थ, कुंजी, टिप्पणी, टिप्पन, तफसील, भाष्य, विवरण, विवेचन आदि टीका के अनेक पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख श्री भोलानाथ तिवारी ने स्वसम्पादित 'बृहत् पर्यायवाची शब्दकोश' में किया है।

टीका के स्वरूप

टीका के स्वरूप का प्रथम दर्शन निरुक्त में होता है। निरुक्त के अतिरिक्त धीरे-धीरे टीका-साहित्य की वृद्धि के साथ विभिन्नताओं के आधार पर 'टीक्यते गम्यते ग्रन्थार्थोऽनया' की परम्परा में विकसित होनेवाले स्वरूप निम्नलिखित हैं-

(1) निरुक्त (2) वृत्ति (3) वार्त्तिक (4) विवृत्ति (5) विवेचन (6) लघु-भाष्य (7) बृहद्-भाष्य (8) पद्धति (9) समीक्षा (10) पञ्जिका (11) वचनिका (12) कारिका (13) चूर्णि-चूर्णिका अथवा अवचूर्णि (14) अवचूरि (15) व्याख्या (16) विवरण (17) दीपिका (18) फक्किका (19) निर्युक्ति (20) न्यास (21) टिप्पणी (22) पर्याय (23) अर्थ-लव (24) अक्षरार्थ (25) बालावबोध (26) छाया (27) परिभाषा (28) व्याकरणात्मक आलोचना (29) विडम्बनात्मक टीका (30) आक्षेप टीका (31) अनेकार्थ टीका (32) चित्रटीका आदि।

इन टीका प्रकारों के भी भेद पाये जाते हैं। यथा-(1) गद्यटीका (2) पद्यटीका (3) गद्यपद्यात्मक टीका। इसी प्रकार टीका के उपयुक्त भेदों में भी कुछ के अनेक भेद हुए हैं, यथा-भाष्य कई प्रकार के होते हैं जिनका उल्लेख भाष्यचर्चा के साथ किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि टीका कार्य का क्षेत्र प्रारम्भिक अवस्था में जितना साधारण था उतना ही आज वह विस्तृत हो चुका है। संस्कृत-भाषा में तो टीकाओं को इतना महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा कि उनके बिना मूल ग्रन्थ का अस्तित्व ही असम्भव लगता है।[17] यही कारण है कि पं. जानकीनाथ जी शर्मा ने अपने लेख 'संस्कृत भाषा का टीका साहित्य' में यह माना है कि इस दृष्टि से संस्कृत भाषा के सामने संसार की सभी भाषाएँ दरिद्र सी जंचती हैं।[18] अतः यथासम्भव टीका के इस विस्तृत क्षेत्र पर दृष्टिपात कर लेना भी समीचीन होगा।

(1) निरुक्त

सर्वप्रथम वेदों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये जो प्रयास किये गये, वे ब्राह्मण ग्रन्थ', 'निदान-सूत्र' तथा निरुक्त रूप में प्रकट हुए हैं। 'बाह्मण' शब्द का प्रयोग उस वैदिक साहित्य के लिये किया जाता है जिसमें वैदिक मन्त्रों, यज्ञ सम्बन्धी कर्मों तथा मन्त्रों के यज्ञ सम्बन्धी

विनियोग की वस्या होती है। ये गद्य में लिखे गये हैं तथा उनका मूल उद्देश्य वेदों की कर्मकाण्डीय मीमांसा करना है।[19] वाचस्पति मिश्र एवं पं. बलदेव उपाध्याय ने 'वैदिक साहित्य' पुस्तक में इस कथन की पुष्टि में यह श्लोक उद्धृत किया है।

'नरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठाने विधिश्चर्व ब्राह्मणं तदिहोच्यते॥'[20]

इस प्रकार कर्मकाण्डीय मीमांसा के रूप में 'ब्राह्मण' ग्रन्थों का बड़ा महत्त्व है। इसी प्रकार 'निरुक्त' के सम्बन्ध में यह धारणा कि 'निरुक्त का प्रयोजन वेदार्थ को स्पष्ट करना है' यह निरुक्त शास्त्र वेदरूपी सागर में व्याप्त था वहीं से आनुभविक हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह अंकुरित हुआ है, निदान सूत्रों में पल्लवित हुआ है। इसी का यास्काचार्य ने काण्डत्रयात्मक निरुक्त और पञ्चाध्यायात्मक निघण्टु में ग्रन्थन कर प्रवचन किया है।[21] निरुक्त के महत्त्व का प्रतिपादन करती है। वास्तव में निरुक्त के द्वारा वेदों का रहस्योद्घाटन हो सका है, अन्यथा आज वेदार्थ का जो स्वरूप हमारे सामने विद्यमान है, सम्भवतः यह स्वरूप भी तिरोहित हो जाता है।[22] वास्तव में वेदार्थ की यह सुरक्षा। निघण्टुओं[23] के माध्यम से निरुक्तकारों द्वारा हुई है। निघण्टुओं में केवल एक ही निघण्टु उपलब्ध है, प्राचीन काल में कितने निघण्टु रहे होंगे. यह नहीं कहा जा सकता। इन निघण्टुओं में वेद के कठिन शब्दों का सङ्ग्रह हुआ और उन निघण्टुओं की टीका का अर्थ 'निरुक्त' में हुआ।[24] निरुक्त, शब्द के अर्थज्ञान में दूसरे व्याकरणादि की अपेक्षा के बिना स्वयं अर्थ प्रकट करने में समर्थ है।[25] 'वाचस्पत्यम् शब्दकोश' में कोशकार ने पदों के अत्यवार्थ का निःशेषरूप से एवं निश्चय-पूर्वक कथन को निरुक्त कहा है।[26] तथा निरुक्त के स्त्रीलिंग निरुक्ति को प्रकृति-प्रत्ययादि अत्यवार्थ कथन द्वारा अर्थबोध का साधन बताया है।[27] नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात यह जिसमें होते हैं उसे निरुक्त कहते हैं।[28] यह परिभाषा भी प्राप्त होती है। अर्थ-निरुक्त पाँच प्रकार का होता है-(1) वर्ण का आगम होने से, जैसे 'हंस' (2) वर्ण के उलटफेर से, जैसे सिंह (3) वर्ण के विकार से, जैसे षोडश (4) वर्ण के नाश से, जैसे वृषोदर और (5) धातु का उसके अर्थातिशय के साथ योग से, जैसे भ्रमर।[29] निरुक्त के समान ही पाली में 'निरुक्त' शब्द प्राप्त होता है किन्तु यह न तो कोई मौलिक रचना है और न ही कोई टीका।[30] इसी प्रकार जैन टीकाओं में निर्युक्ति भी टीका का एक रूप माना गया है, जिसे प्राकृत में 'निजुत्ति' कहा गया है।[31] निश्चयपूर्वक अर्थ-प्रतिपादन की युक्ति को निर्युक्ति[32] कहा गया है। दूसरे शब्दों में निर्युक्ति पूर्ण रूप में अर्थ स्पष्टीकरण का प्रयत्न है।[33] जैन साहित्य में 'निजुत्ति' (संस्कृत-निर्युक्ति) ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी से सम्बन्धित है। इसे भारतीय अर्थ-साहित्य में पद्यटीका के रूप में सर्वप्राचीन कहा जा सकता है।[34] इस प्रकार निरुक्त और निर्युक्ति दोनों में साधारण भेद के साथ एक ही प्रकार का कार्य हुआ है। निरुक्त की परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निरुक्त प्रायः व्याकरण का ही परिशिष्ट है जिसमें बाहुलकादि साध्य, लोप, आगम, विकार आदि का संग्रह होता है। दूसरे शब्दों में निरुक्त शब्दार्थ का ज्ञान कराने में समर्थ साधन के रूप में माना जा सकता है। इसकी पुष्टि इस कथन से भी होती है कि 'स्मृतियों में भी बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता।'[35] निरुक्त के समान ही वेदार्थ का बोध कराने एवं उसके स्वरूप को सुरक्षित रखने में 'पद पाठ' द्वारा भी बहुत सहायता प्राप्त हुई है।[36] वैदिक संहिता के पाठ की विविध प्रणालियाँ[37] है और पाठ में आठ विकृतियां बताई गई हैं-जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ तथा धन। इन विकृतियों के द्वारा वेद-मन्त्रों का अर्थ बताने का प्रयास तो नहीं किया गया है, किन्तु वेद-मन्त्रों का सन्धि-विच्छेद-स्वरूप अवश्य लक्षित होता है जो अर्थ ज्ञान में सहायक है। इस प्रकार वैदिक साहित्य की टीका के लिए निरुक्त तथा पदपाठ दोनों का अपना एक विशेष महत्व है और इन दोनों रूपों ने ही टीका के प्रारम्भिक स्वरूप का रूप उपस्थित किया। इसी की सहायता से टीकाकार टीका के क्षेत्र में प्रवेश का साहस कर सकता है। टीकाकार के लिये यह परम आवश्यक है कि वह किसी रचना के मूल की टीका करने से पूर्व उस रचना के शब्दार्य तथा सन्धि-विच्छेद आदि के माध्यम से ग्रन्थकार के भावों तक पहुंचने की शक्ति प्राप्त कर ले। संस्कृत साहित्य में सम्भवतः निरुक्त का ही यह प्रभाव हुआ कि काव्य-ग्रन्थों के अर्थावबोध के लिये अन्वय को महत्त्व दिया जाने लगा और इस प्रकार अन्वय भी टीका साहित्य का एक अंग बन गया।

अन्वय

संस्कृत साहित्य में श्लोक साहित्य की जटिलताओं को

सुलझाने एवं उसमें प्रयुक्त कर्ता, कर्म, क्रिया आदि को यथास्थान लाने के लिये अन्वय की आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योंकि संस्कृत की यह प्रणाली है कि कहीं कर्ता, कहीं कर्म और कहीं क्रिया रहती है।[38] इसी कारण अन्वय का यह लक्षण बन गया है-''विशेषणं पुरस्कृत्य, विशेष्यं पदनन्तरम्। कर्तृ-कर्म-क्रियायुक्तमेतदन्वयलक्षणम्।।'' ये अन्वय भी दो प्रकार के होते हैं-(1) दण्डान्वय तथा (2) खण्डान्वय। दण्डान्वय का प्रयोग आधुनिक समय में भी प्रचलित है, जबकि खण्डान्वय की परिपाटी केवल प्राच्य पाण्डितों तक सीमित थी जिसका उदाहरण नैषधीयचरित की नारायणी टीका आदि से मिलता है।

'कथा कौमुदी मनोरमा' में डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी ने दण्डान्वय तथा खण्डान्वय की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है-**दण्डान्वय-**'दण्डान्वय के अर्थ में डण्डे की जो भावना है उसका तात्पर्य यह है कि पूरे श्लोक का एक डण्डे के समान संग्रह किया जाये जिसका ओर-छोर स्पष्ट हो तथा बीच की ग्रन्थियां भी अपने-अपने स्थान पर अपने अस्तित्व की स्पष्टता व्यक्त करती रहें।[39] **खण्डान्वय**-''खण्डान्वय का प्रकार यह है कि इसमें कर्ता, कर्म और क्रिया को पद्य में से चुनकर फिर उसके आधार पर 'किं भूतः, पूनः किं विशिष्टः' यादि प्रश्न करते हए अन्य विशेषणों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। इसमें खण्ड-खण्ड करके पदार्थ समझाया जाता है, अतः इसे खण्डान्वय कहते हैं।[40] इस प्रकार अन्वय के ये दोनों रूप किसी भी रचना के भावार्थ तक पहुँचने के लिये माध्यम का कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में 'अन्वय ग्रन्थकार के सेवक-सकुल विविध आवासों से अनुस्यूत महाप्रासाद में प्रवेश पाने के लिये सर्व प्रथम देहली-द्वार है।'[41] इसी के आधार पर भारतीय संस्कृताध्यापक वर्गों में भी यह परम्परा प्रवाहित होती रही है, जिसमें विभक्ति, सन्धि आदि का सरलीकरण रहा करता है। इतना ही नहीं, वेदों में भी प्रकृति-प्रत्यय का निर्देश करते हुए पदाम्नाय का प्रचलन था और इसी गहराई में पहुँचते हए आचार्यों ने प्रत्यक्षर-विश्लेषण में भी पीछे पर नहीं रखा।[42] वे तो इतने आगे बढ़े कि 'ऊँ नमः शिवाय' इसकी पदव्याख्या में अकरोत्तरवर्ती उकार, तदुत्तरवती सकार-नकारादि का व्याकरणसम्बन्धी स्थान, प्रत्यय एवं अक्षरोच्चारण विधिजन्य स्वर, उदात्त, अनुदात्त, समाहार, स्वरित आदि का पूर्ण विश्लेषण किया है। इस प्रकार निरुक्त की इस परम्परा ने टीका कार्य को सरल बनाने, टीका कार्य का महत्त्व बढ़ाने एवं गूढ़ार्थों के स्पष्टीकरण में अत्यन्त श्लाघनीय कार्य किया है।

वृत्ति-वृत्ति शब्द (वृत् + क्तिन्)[43] का साधारण अर्थ सत्ता, भाव, वर्तमानता, स्वभाव, दशा, अवस्था, व्यवहार, आचरण, जीविका, जीवनोपाय (वर्तते अनयेति करणे क्तिन्) वृत्ति, पारिश्रमिक, घूमना, चक्कर, पहिये या गोले की परिधि से होता है। परन्त यहाँ 'वृति' के इन अर्थों से कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। 'वृत्ति' का विशेष अर्थ ही यहाँ ग्राह्य है। जिसके अनसार किसी मौलिक ग्रन्थ[44] को पूर्ण व्यवस्था या टीका को वृत्ति कहा जाता है।[45] यथा-अष्टाध्यायी पर जयादित्य और वामन द्वारा रचित 'काशिका वृत्ति' अथवा यास्ककृत निरुक्त पर दुर्गाचार्य कृत 'ऋज्वर्था' नामक वृत्ति। वृत्ति सामान्यतः वार्तिक और भाष्य दोनों की अपेक्षा संक्षिप्त होती है। परन्तु आगे चल कर जब यह शब्द व्याख्यामात्र का वाचक बन गया तब ग्रन्थकार या लेखक स्वेच्छानुसार अपने व्याख्यान ग्रन्थों का नाम वृत्ति, टीका, टिप्पणी आदि रखने लगे और वृत्ति शब्द सूत्रों तक ही सीमित नहीं रह गया। भाष्यकार शंकराचार्य ने 'कठ' और 'बृहदारण्यक' उपनिषदों के व्याख्यानों को 'वृत्ति' ही कहा है, परन्तु आगे वे ही 'भाष्य' नाम से बोधित हुए। भाष्यकार के शब्दों से तो यही स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'वृत्ति' मूल में थी संक्षिप्त ही।[46] इसी प्रकार व्याकरण शास्त्र में एक वर्ष के भीतर दूसरे नये अर्थ को प्रकट करने वाली गूढ़ शब्दरचना 'परार्थाभिधान वृत्तिः' होती है। यह वृत्ति पाँच प्रकार की होती है-(1) कृत् (2) तद्धित (3) समास (4) एक शेष, जैसे 'माता च पिता चेति पितरौ' एवं (5) सन् इत्यादि प्रत्ययों में बने हुए धातुरूप जैसे गम् धातु में जिगमिष् (जाने की इच्छा), पा धातु से (पीना) पिपासा (पीने की इच्छा करना) आदि। इन वृत्तियों का गूढ़ अर्थ समझाने के लिये इनका विग्रह या खण्ड करना पड़ता है। हिन्दी में टीका के रूप में वृत्ति का उपयोग नहीं किया जाता। इसी प्रकार वृत्ति शब्द से ठक् वृत्तौ साधुः वार्त्तिकम। बनता है तथा 'वृत्तिरूपेण कृतो ग्रन्थो वार्त्तिकम्' के आधार पर वृत्तिरूप में की गई टीका को ही वार्त्तिक कहते हैं। हेमचन्द्र कोश के अनुसार मूल में कथित, प्रकथित या अस्पष्ट करने वाली उक्ति 'वार्त्तिक' कहलाती है।[47] इसी प्रकार वे ग्रन्थ जिनमें मूल का भाव स्पष्ट करने वाले नियम दिए गए हों, 'वार्त्तिक' कहलाते हैं। यह लक्षण पाणिनि की अष्टाध्यायी पर कात्यायन द्वारा लिखे गए

वार्त्तिकों के विषय में विशेष रूप से घटित होता है। ये वार्त्तिक पाणिनि कृत सूत्रों की ही भाँति संक्षिप्त और गद्यात्मक है। पर इन्हें छोड़ प्रायः अन्य सभी वार्तिक छन्दोबद्ध या पद्यात्मक ही है।[48] ये सूत्र तथा उनकी वृत्ति की अपेक्षा संक्षिप्त होते हैं पर इनका अपवाद भी मिलता है, जैसे कुमारिल के 'श्लोकवार्त्तिक' तथा स्वामी शंकराचार्य कृत 'बृहदारण्यकोपनिषद्' भाष्य पर सुरेश्वराचार्य के वार्त्तिक भाष्यों से छोटे नहीं, बहुत बड़े हैं। टीका के बहुत से नाम तो केवल साधारण-सा भेद होने के कारण अस्तित्व में आ गए हैं अन्यथा उनमें एक ही मुख्य कार्य रहा है और वह है टीका का। विवृत्ति, विवेचन, पञ्जिका, पद्धति आदि अनेक ऐसे ही नाम हैं। वार्त्तिक की भाँति विवृत्ति भी एक टीका का प्रकार है, यह कुछ विस्तृत टीका होती है।[49] इसी प्रकार विवेचन में ग्रन्थ के सम्बन्ध में चर्चा की जाती है, और तदनुसार विवेचन के माध्यम से भी ग्रन्थ के भावों तक पहुंचने में सहायता प्राप्त होती है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में हिन्दी में की गई टीका को 'वचनिका' के नाम से पुकारा जाता है।[50] टीका भेदों में 'विवरण' ग्रन्थ के भावों को स्पष्टीकरण का एक प्रयास होता है। वास्तव में 'विवरण' किसी व्याख्यान ग्रन्थ पर किये गए व्याख्यान को कहते हैं।[51] जैसे 'पातञ्जल भाष्य' पर 'वाचस्पत्य-विवरण' तथा कैयट पर नागेश कृत 'विवरण आदि। 'पद्धति' के सम्बन्ध में राजशेखर ने 'सूत्रवृत्तिविवेचनं पद्धतिः'[52] कहकर पद्धति के स्वरूप को स्पष्ट किया है। 'पद्धति' वास्तव में ग्रन्थ के सूक्ष्म अर्थों का विवेचन है। योग्यायोग्य अर्थ चर्चा को 'समीक्षा' कहा गया है।[53] 'समीक्षा' में ग्रन्थ पर सम्यक् रूप से विचार कर उसकी पर्यालोचना प्रस्तुत की जाती है। अर्थ को स्पष्ट करने वाली कृति को ये। 'कारिका' कहते हैं।[54] यह एक प्रकार की पद्यबद्ध टीका है। 'सांख्यकारिका', 'नाट्यकारिका', 'माण्डूक्यकारिका' आदि इनमें कुछ स्वतन्त्र व्याख्यान भी होता है। 'दीपिका' में अपने और अन्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए टीकाकार अपनी मान्यता के अनुसार अर्थ को प्रकाशित करता है तथा साथ ही दूसरे के द्वारा किये गए अर्थ को भी स्पष्ट करता है। 'रचना' के शब्दों को दूसरे पर्यायवाची शब्दों में परिवर्तित करने को 'पर्याय' कहते हैं। 'पर्याय' में केवल पर्यायवाची शब्दों के माध्यम से किसी रचना की बोधगम्य बनाने का कार्य होता है। 'फक्किाका' भी इसी प्रकार टीका के लिये एक पर्यायवाची शब्द है, तत्त्व-निर्णय के लिये जो टीका-कार्य हो उसे 'फक्किका' कहा जा सकता है। 'स्तबक' यह शब्द जैन सम्प्रदाय की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में अधिक रूप में प्राप्त होता है और यह एक प्रकार से गुजराती में लघु व्याख्या होती है। गुजराती और प्राकृत में इसी को 'टबो'[55] कहा जाता है। ग्रन्थकार के भावों का संक्षिप्त संकलन ही इसका उद्देश्य है। जैसे कई पुष्पों का एक गुच्छ बनाकर सरलता से उसके सौरभ का अनुभव किया जा सकता है उसी प्रकार गुच्छ-स्तबक के रूप में संगृहीत ग्रन्थकार के साहित्य का आस्वाद 'स्तबक' द्वारा प्राप्त होता है। 'म्यास', 'अक्षरार्थ', 'अर्थलव' एवं 'बालावबोध' आदि में भी इसी प्रकार साधारण परिवर्तन के साथ लघु टीका का कार्य निहित है। प्राकृत में दिये हुए अंश की संस्कृत को 'छाया' कहते हैं। इसे 'प्रति संस्कृत' भी कहते हैं।[56]

पंजिका–

ग्रन्थ के विषम-पदों को स्पष्ट करने वाले प्रयास को पञ्जिका कहते हैं। हेमचन्द्राचार्य ने पञ्जिका की व्याख्या इस प्रकार की है-''पञ्जिका पदभञ्जिका'' इति मूलम्। पच्यन्ते व्यक्तीक्रियते पदार्थोऽनया इति 'पञ्चिका' 'पृषोदरादित्याज्जत्वे पञ्जिका' 'अर्याद्विषमाण्येव पदानि भनक्ति पद-भञ्जिका'।[57]

इससे स्पष्ट होता है कि जिन पदों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है, उनके ही अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास पञ्जिका में होता है। यथा-वक्रोक्ति पंचाशिका की व्याख्या में वल्लभदेव ने 'पञ्जिका क्रियते लघुः' उल्लेख किया है।

परिभाषा–

परि + भाष् + वद् = संज्ञायाम् से परिभाषा शब्द बना है। परिभाषा का तात्पर्य होता है-संज्ञा के अवयवार्थ की उपेक्षा करके उसके विशिष्ट अर्थ का बोध कराना।[58] परिभाषा में अभिधेयार्थ को महत्त्व न देते हुए उसके विशिष्ट सम्भावित अर्थ की ओर ध्यान दिया जाता है। हिन्दी में परिभाषा शब्द का प्रयोग शब्द के द्वारा भाषित होनेवाले लक्षणों को समास शैली में स्पष्ट करने के रूप में होता है।

चूर्णि–

'चूर्णि' में प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म बात पर ध्यान दिया जाता है और इस प्रकार शब्दों को तोड़क (अर्थात् उनके मूल का अध्ययन करके) उनके अर्थ को व्यक्त करने वाली कृति को चूर्णि कहा जाता है। उदाहरणार्थ पतंजलि द्वारा पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्र पर लिखा गया महाभाष्य

भी चूर्णि के रूप में माना जाता है। यह सम्भवतः इसीलिये माना जाता है कि पतंजलि ने पाणिनि के व्याकरण के सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रसंग को स्पष्ट किया है। चूर्णि को चूर्णिका अथवा अवचूर्णि, अवचूरि आदि भी कहते हैं। मोनियर विलियम के संस्कृत-इंग्लिश शब्दकोश में चूर्णिका को एक प्रकार का सरल गद्य कहा है।[59] इसी प्रकार जैन साहित्य में चूर्णि को परिभाषा के रूप में भी माना है। यह श्री चन्द के 'तथा परिभाष्यते अर्थो अनयेति परिभाषा चूर्णिरुच्यते'[59क] कथन से सिद्ध होता है।

व्याख्या–

व्याख्या शब्द वि + मा + ख्या + अच् से बना है। व्याख्या अथवा व्याख्यानरूपी टीका को भाष्य के बाद सबसे बड़ा माना गया। व्याख्या का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है–

पदच्छेदः पदार्थ च विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्॥

''अर्थात् पदच्छेद (वाक्य के पदों को अलग-अलग करना), पदार्थ (पदों का पर्थ समझना), विग्रह (समासार्थावबोधक वाक्य विग्रहः अर्थात् समासयुक्त पदों का बोधक वाक्य), अन्वय, आक्षेप (जो शंकाएँ उस विषय पर किसी ने की हो, अथवा जो शंकाएं हो सकती हैं उनका उल्लेख) और समाधान व्याख्या के ये छः भेद होते हैं।'' मानस पीयूष बालकाण्ड पृ. 441-42

इस प्रकार व्याख्या में वस्तुतः वे सब लक्षण पाते हैं, जो भाष्य में होते हैं। इसी कारण प्रायः इन लक्षणोंवाली व्याख्यानों को कहीं-कही भाष्य भी कह दिया गया है। मुहूर्त चिन्तामणि की पीयूषधारा व्याख्या तथा मनुस्मृति का मेधातिथिकृत 'मनुव्याख्यान' इसी प्रकार की व्याख्याएँ हैं। इसी प्रकार भाष्यों पर लिखी गई व्याख्याएँ भी अनेक मिलती हैं। जैसे महाभाष्य की कैयट कृत 'प्रदीप व्याख्या' और उसकी नागेश कृत 'उद्द्योत टीका' तथा 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' पर 'भामती-व्याख्या' और उस पर 'वेदान्त कल्पतरु', 'परिमल', 'आभोगादि' अनेक व्याख्याएं हैं।

इसी प्रकार टीकाग्रन्थों पर हुई व्याख्या को टिप्पणी भी कहते हैं। टिप्पणी वह टीका होती है जो व्याख्या के रूप में प्रयुक्त होती है[60] किसी स्पष्ट अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे टिप्पणी कह सकते हैं।

भाष्य-टीका साहित्य में 'भाष्य' को ही सबसे बड़ा माना गया है। 'भाष्य' के सम्बन्ध में अति-विस्तृत तथा मध्यम, दोनों रूप प्राप्त होते हैं। भाष्य (भाष् + यत्) का साधारण अर्थ, वचन, उक्ति, कोई व्याख्यान ग्रन्थ जैसे सायण कृत 'ऋग्वेद भाष्य', महीधर कृत 'यजुर्वेद भाष्य' आदि, भाषा ग्रन्थ। (वाजसनेयी प्रातिशाख्य, गृह्यसूत्र तथा हरिवंश और मोनियर विलियम्स) इस अर्थ में भाष्यशब्द भाषा से निकला हुआ प्रतीत होता है। जनभाषा या लोकभाषा के अर्थ में भाषा का हिन्दी में प्रयोग तो 'भाषा भनिति भोर मति थोरी' इत्यादि से स्पष्ट ही है, पर संस्कृत में भी इसका यह अर्थ प्राचीन प्रतीत होता है। भाष्य का विशेष अर्थ इस प्रकार है-(1) सूत्र ग्रन्थों के विशिष्ट शैली में लिखे गये भाष्य, जैसे शंकराचार्य कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य, शबरकृत मीमांसा भाष्य, अष्टाध्यायी का पंतजलिकृत महाभाष्य इत्यादि। इस शैली के व्याख्यान में पहले सूत्रपदों का संक्षिप्त सूत्रात्मक वाक्यों में अर्थ देकर फिर उन वाक्यों के पदों का भी विशेष व्याख्यान किया जाता है, जैसा कि भाष्य के निम्नलिखित प्राचीन लक्षण से ज्ञात होता है–

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

''प्रायः भाष्य सूत्र या शास्त्र ग्रन्थों पर होता है। शास्त्र में दर्शनों के अतिरिक्त व्याकरण, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और कुछ धर्मसूत्र (धर्मशास्त्र) आते हैं।''[61] शास्त्रग्रन्थों में विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा निष्कर्ष (सिद्धान्त) ये पाँच अधिकरण भेद आते हैं।[62] हिन्दी में इसका पर्व सामान्यतः कोई भी व्याख्यान ग्रंथ से लिया जाता है। नागेश भट्ट ने भाष्य के सम्बन्ध में अपने उद्द्योत में इस प्रकार का मन्तव्य दिया है कि विस्तार से युक्त तथा अतिविस्तारहीन साधारण लोगों के समझने योग्य भाष्य-प्रदीप का व्याख्यान अपनी मति के अनुसार करता है।[63] इस प्रकार भाष्य का उद्देश्य ग्रन्थ को साधारण जन के लिए बोधगम्य बनाने का होता है। भाष्य की राजशेखर ने काव्य मीमांसा में 'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्' परिभाषा दी है।

इस प्रकार भाष्य ग्रन्थ के गुण दोषों का विवेचन भी करता है। भाष्य का व्यापक अर्थ ग्रहण करने पर टीका, व्याख्यान आदि का भी समावेश उसमें हो जाता है। भाष्य के सीमित एवं व्यापक दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जाते हैं।

टीका के विविध भेदों की तरह भाष्यकारों ने भाष्य के भी विविध रूप प्रस्तुत किये हैं। साधारण जानकारी हेतु इन विविध रूपों का उल्लेख भी यहाँ समीचीन-(1) प्रतिज्ञा

भाष्य, (2) आक्षेप भाष्य, (3) सिद्धान्त वादियों का समाधान भाष्य (4) उदाहरण भाष्य (5) प्रश्नवादी का शब्द-स्वरूप निर्धारणार्थक प्रश्न भाष्य (6) तत्व जिज्ञासु प्रश्नवादी का आशंका भाष्य (7) निराकरण भाष्य (8) जिज्ञासा भाष्य (9) प्रयोजनान्तर भाष्य (10) उपपादन भाष्य (11) प्रतीक भाष्य (12) व्याख्यान भाष्य (13) उपसंहार भाष्य (14) उत्तर-प्रत्युत्तर भाष्य (15) उक्ति-प्रत्युक्ति भाष्य (16) प्रतिज्ञाबाधक भाष्य (17) साधक भाष्य[64] का आदि विविध भाष्य के रूप होते हैं। भाष्य का अपना एक विस्तृत क्षेत्र है तथा इसके प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालने का प्रयत्न प्रतिविस्तार का रूप ले लेगा। इसी विस्तारभय से भाष्य का स्वरूप ज्ञान ही पर्याप्त है।

उपर्युक्त टीका भेदों के अतिरिक्त आक्षेप टीका एवं विडम्बनात्मक टीका के दो टीका भेद ऐसे हैं जिनमें या तो किसी प्रकार का आक्षेप होता है या फिर ऐसा अर्थ किया जाता है, जिसे विडम्बना के अतिरिक्त कुछ न कहा जा सकता।

आक्षेपटीका-संस्कृत साहित्य में विद्वानों के पारस्परिक संघर्षों का प्रतिफल आक्षेप-टीकाओं के रूप में प्रतिफलित हुआ है और इसका मूल उद्‌गम न्यायशास्त्र की विरोधपरिहारिणी प्रवृत्ति के द्वारा हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि कोई भी नैयायिक अपनी उक्ति को निरर्थक अथवा अप्रामाणिक नहीं होने देता।

साहित्य में इस प्रवृत्ति का पण्डितराज जगन्नाथ, अप्पय दीक्षित की घटना तथा व्याकरण में भट्‌टोजी दीक्षित तथा पंडितराज के खण्डनात्मक प्रयोगों से हमें कुछ रूप प्राप्त होता है। हिन्दी में श्री पद्‌मसिंह जी शर्मा द्वारा पं. ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की 'सतसई' की टीका पर 'सतसई संहार' शीर्षक से लिखे गये लेख भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का कार्य है। वैसे संस्कृत की शास्त्रार्थ शैली और खण्डन-मण्डनात्मक टीका प्रटीकाएं बहुत ही मनोरंजक मिलती हैं।

विडम्बनात्मक टीका-विडम्बनात्मक टीका में टीकाकार प्रतिपाद्य विषय से दूर केवल जनमनोरञ्जन की दृष्टि से कवि के पद्यों के विडम्बनारूप अर्थों के सामंजस्य को उपस्थित करता है। उदाहरणार्थ वेद मंत्र-'अग्ने नय सुपथा राये' का विडम्बनात्मक अर्थ करते हुए टीकाकार कहता है कि हे अग्नि! अर्थात् हे 'इंजिन' सुपथा-अच्छे मार्ग से अर्थात् कम खर्च और शीघ्र पहुँच जाने वाले रास्ते से, राये-धन के लिये अर्थात् व्यापार केन्द्र कलकत्ता आदि बड़े नगरों तक, नय-ले चल। इस प्रकार का चातुर्य प्रदर्शन है। इसी प्रकार 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इस मन्त्र का अर्थ हजार अनेक डिब्बोंवाली, अनेक खिड़कियोंवाली, अनेक पहियों वाली भूमि पर व्याप्त होकर भी 'दशांगुल' अर्थात् थोड़े से स्थान पर रुकने वाली रेल की स्तुति पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार की टीकाओं को हम विडम्बनात्मक टीका कहेंगे, क्योंकि इसका टीकाकार विडम्बना के उद्देश्य से ही बुद्धि-कौशल दिखाता है। इस परम्परा में गीता में आने वाले 'चाय' 'चाह' 'च' शब्दों को लेकर चाय की उपयोगिता एवं प्रियता बतलाना, अहं शब्द की अनेकधा उक्ति के आधार पर कृष्ण के अहमद नामक मित्र की कल्पना करना और 'बहूनि म व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन' का अर्थ 'मे' से 'मई' तथा 'जून' से 'जून' मास का निदर्शन भी इसी कोटि में आता है। कालिदास के 'कुमार सम्भव' की 'पष्टिवर्षसहस्राणि धूम्रपानमधोमुखी' पंक्ति पर हिमलायवासिनी पार्वती के तम्बाखू पीने की कल्पना को जो मूर्त रूप दिया गया है वह भी कम विडम्बनापूर्ण नहीं है। इसी प्रकार 'शुक्लाम्बरधर' से दही-बड़े का कल्पना भी ऐसी विडम्बनात्मक टीका का ही फल है।

आलोचनात्मक टीका-व्याख्या या टीका और आलोचना दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है, किन्तु बहुधा ऐसा समय भी आता है जब दोनों एक-दूसरे का सहारा लेती है, यथा-व्याख्याकार जब किसी ग्रन्थ की व्याख्या के साथ-साथ एक आलोचक की तरह उसकी आलोचना भी करता जाता है तो कृति आलोचनात्मक व्याख्या का रूप ले लेती है। इसी प्रकार जब आलोचक अपनी आलोचना के साथ-साथ किसी ग्रन्थ की व्याख्या भी प्रस्तुत करता जाता है तो वह कृति व्याख्यात्मक आलोचना का रूप ग्रहण कर लेती हैं। दोनों दिशाओं में एक ही कार्य होता है, किन्तु एक में आलोचना को महत्त्व दिया जाता है तो दूसरी में व्याख्या को। इस प्रकार का कार्य छोटे बड़े रूप में हर आलोचना ग्रन्थ में प्राप्त होता है और इस प्रकार यदि एक ही ग्रन्थ पर लिखे गये अनेक आलोचना ग्रन्थों से व्याख्यात्मक अंशों को एकत्र किया जाए तो सम्भवतः उस ग्रन्थ की एक स्वतन्त्र टीका बन जायेगी। इस प्रकार के कार्य से आलोचक और टीकाकार का समन्वित रूप प्राप्त होता है। ''इस प्रकार की आलोचना में आलोचक सहृदयता पूर्वक कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश कर उसके भावों को समझाने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि

तैयार कर उनके हृदयंगम कराने में सहायक होता है। वह व्याख्याता ही नहीं वरन् स्रष्टा भी बन जाता है।''[65] वास्तव में तो आलोचना में व्याख्या निहित रहती ही है'' आलोचना के तीन प्रयोजन हैं-रचना (क्रीएशन), व्याख्या (इण्टरप्रिटेशन) और निर्णय (जजमेन्ट)'' कार्लायल ने आलोचना का तथ्य इस प्रकार बताया है-''आलोचना प्रेरित और अप्रेरित के बीच में व्याख्याता का काम करती है, सिद्ध पुरुष और उसके ऐसे श्रोताओं के बीच में व्याख्याता का काम करती है जो उसके शब्दों की सुस्वरता सराहते हैं और उनके वास्तविक अर्थ की कुछ झलक पा जाते हैं परन्तु उनके गहनतर अभिप्राय नहीं समझ पाते''[66] दूसरी ओर 'इस विचार से व्याख्याता का कार्य यही निश्चित होता है कि वह कलाकृति सम्बन्धी मूर्त सृष्टि का पुनरुत्पादन करे और उस पुनरुत्पादन को तार्किक बुद्धि से शब्दों में व्यक्त करे।''[67] इस प्रकार आलोचक और व्याख्याता दोनों ही कृति के महत्व को आंकने वाले और उसके अर्थ को स्पष्ट करने वाले होते हैं। किसी लेख अथवा वक्तव्य के सम्पूर्ण अर्थ में भिन्न-भिन्न प्रकार की कई धाराएं होती हैं। उनमें से चार उल्लेखनीय हैं-आशय, भाव, ध्वनि और उद्देश्य। इन पर प्रकाश डालना टीकाकार और आलोचक का कार्य है। दोनों के कार्यों में इतना साम्य होते हुए भी दोनों का कार्य पृथक्-पृथक् होता है। व्याख्या आलोचन से पहले आती है। आलोचना कृति को पढ़ती है, फिर उसे ध्यान में रखती है, और तब उसके गुणों और दोषों पर अपना निर्णय देती है। व्याख्या उस कृति में जिसकी वह व्याख्या करती है, प्रवेश कर जाती है और कृति के प्रबुद्ध ग्रहण से परे नहीं जाती। व्याख्या कलाकार की चित्त सृष्टि का पुनर्निर्माण करती है। आलोचना ऐसी चित्त सृष्टि पर निर्णय देती है। व्याख्या तुलना से दूर रहती है और यदि वह तुलना का प्रयोग करती है तो उसे कृति के प्रबुद्ध ग्रहण का एक साधन मानती है, आलोचना तुलना का बराबर उपयोग करती है, उसका उद्देश्य यह होता है कि देखें कि प्रस्तुत कृति दूसरी सदृश कृति से अच्छी है या बुरी। व्याख्या ग्रहणशील होती है, वह नवीन अनुभव को स्वीकार करती है, आलोचना क्रियाशील होती है। वह पुराने और नवीन साहित्य की वर्तमान मानदण्डों से जाँचती है और भविष्य के मानदण्डों के लिये आचार-अन्वेषण में सावधान रहती है तथा साथ ही यह भी निश्चित करती है कि आगे साहित्य निर्माण कैसा होगा। श्री लीलाधर गुप्त के अनुसार 'निःसंदेह आलोचना व्याख्या से आगे है परन्तु वह संकुचित क्षेत्र में काम करती है। यदि आलोचना की को किसी परम सुन्दर कृति का सामना पड़ता है तो उसकी क्रिया शांत हो जाती है, इसके अतिरिक्त व्याख्या प्रत्येक कृति का इस प्रत्याशा से आलिंगन करती है कि उससे ऐक्य प्राप्त कर प्रत्यानन्द का अनुभव करे।''[68] इस प्रकार व्याख्या का महत्व प्रतिपादित होता है, किन्तु यदि व्याख्या और आलोचना दोनों का समन्वित रूप नहीं प्रस्तुत होता है तो वहां अपूर्णता की ही संभावना है। संस्कृत साहित्य में यह परम्परा भी प्राप्त होती है कि एक ग्रन्थ की टीकाकार टीका करता है और उसी टीका की पुनः कोई आलोचना करते हए अपनी ओर से टीका प्रस्तुत करता है। इस प्रकार का कार्य नागेश भट्ट द्वारा 'रस गङ्गाधर' की आलोचना और पुनः टिप्पणीकार द्वारा नागेश की कड़ी आलोचना के रूप में हुआ है।[69]

अनेकार्थ टीकाः-कहीं-कहीं टीकाकार किसी एक पद या श्लोक के अनेक अर्थ करता है। वास्तव में ग्रन्थकार का आशय स्पष्ट करने के लिये तो सामान्यतया एक दो पद्य ही पर्याप्त होते हैं, किन्तु टीकाकार ग्रन्थकार की उस गम्भीर उक्ति के अन्तर में प्रवेश करके अपने अध्ययन एवं चातुर्य के बल पर उसमें से अनेक अर्थों की सम्भावना करता है और इस प्रकार एक कुशल टीकाकार के रूप में अपना बुद्धि-कौशल प्रस्तुत करता है। यह पद्धति प्राचीन ही है। निरुक्तादि में 'चत्वारि शृंगा' मन्त्र के अनेक अर्थ हैं। प्रायः इस मन्त्र की सभी शास्त्रकार लिखकर तथा अपने अनुकूल अर्थ करते हैं। महाभाष्यकार इसे व्याकरणपरक उब्बटादि यज्ञ परक, कोई धर्म परक और कोई ज्योतिष परक अर्थ करते हैं।[70] कुमारिल भट्ट ने इसका ज्योतिष परक अर्थ किया है। इसी प्रकार 'पञ्चस्तवी' पर जिसमें कुल 146 श्लोक हैं-काश्मीर के एक पण्डित ने 16000 श्लोकों की टीका की थी। अनन्तशयन के राजकीय पुस्तकालय में 'लघुस्तव-जिसमें 21 श्लोक हैं, की लघु-वृंहिणी नामक 2000 श्लोकों की टीका प्राप्य है। श्रीनगर (काश्मीर) प. हरभट्ट शास्त्री ने 'पञ्चस्तवी' पर एक नवीन टीका प्रणीत की है। इस टीका के लोकों की संख्या 10000 है। इतना ही नहीं, जैन साहित्य में यह परम्परा और भी आगे बढ़ी। समयसुन्दरमणि ने 'राजानो ददते सौख्यम्' की अष्ट-लक्षार्थी टीका की। ये आठ लाख अर्थ 'अनेकार्य-रत्न-मंजूषा' में मुद्रित है।[71] वर्वमानगणि

कृत स्वोपज्ञ वृत्ति से युक्त 'कुमार-विहारप्रशास्ति' के 86वें श्लोक 'गंभीरश्रुतिभि:' के 119 अर्थ किये हैं, जिसमें 31वां कुमार राजा का वर्णन 41वां हेमचन्द्राचार्य का वर्णन और 109वां वाग्भट मन्त्री का वर्णन है। प्रस्तुत श्लोक में हिन्दू एवं जैन देवी-देवताओं, नक्षत्र, ग्रह, लोकवर्णन, पुरुषार्थ-चतुष्टय, कुछ दृष्टियां एवं सिद्धान्तों आदि का वर्णन किया गया है। सोमप्रभ सूरि सुत्राम सूरि द्वारा सूत्रित 'शतार्थकाव्य' में तीर्थङ्कर (24) परमेष्ठी (5) महाब्रत (5) पुरुषार्थ (4) ग्रह (9) दिग्पाल (10) एवं अन्य अलौकिक वस्तुओं तथा आचार्यों के आधार पर अर्थ किये हैं।[72] हिन्दी में भी इस अनेकार्थ परम्परा के उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा-तुलसीदास जी की एक छोटी सी अर्धाली ''सब कर मत खग नायक एहा। करिय राम पद-पंकज नेहा।'' के अनेक अर्थ किये गये हैं। इन अर्थों का संग्रह पं. बाबूराम शुक्ल-कृत 'श्री तुलसी सूक्ति सुधाकर भाष्य' में हुआ है। ''आपने एक ऐसे अचम्भे का कार्य कर डाला है जैसा कि शायद आज तक किसी देश में किसी भाषा में किसी ने भी न किया है। इसके (उपर्युक्त अर्धाली के) आपने लाखों अर्थ कर डाले हैं। उन्हीं को आपने प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है।''[73] उक्त चौपाई के अनेक अर्थ में जो चमत्कार टीकाकार ने दिखाया है उसकी प्रशंसा में जो कथन-'सरस्वती' में छपा है उससे अनेकार्थ टीका का महत्व प्रतिपादित होता है।''[74]

चित्र टीका—कभी-कभी किसी ग्रन्थ के भावों को स्पष्ट करने के लिये कलाकार उस पर चित्र निर्मित करता है और इस प्रकार अपनी कला के सहारे चित्र द्वारा ग्रन्थ के विशिष्ट पदों का भाव स्पष्ट करने का प्रयास करता है। वास्तव में चित्र टीकारूप नहीं होते किन्तु फिर भी उनका महत्व किसी टीका से कम नहीं होता,-क्योंकि टीका में भावार्थ या अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जिस प्रकार भाषा को माध्यम बनाया जाता है उसी प्रकार चित्र भी एक माध्यम बन जाता है। चित्र 'दृश्य-टीका' के रूप में होता है, और इस प्रकार चित्र को देखते ही ग्रन्थकार के संबद्ध पद का भाव स्पष्ट हो जाता है। चित्र का उपयोग जब टीका के रूप में किया जाता है तो वहाँ उसका अपना एक महत्त्व रहता है। यही कारण है कि काशीराज ने 'रामचरित मानस' के भावों को व्यक्त करने वाले करीब 500 चित्र बनवाये, जो आज भी काशीराज पुस्तकालय, रामनगर वाराणसी में सुरक्षित है। इसी प्रकार वाराणसी स्थित 'मानस-मन्दिर' में पूरी 'रामचरित मानस' दिवालों पर खुदी है और तत्तत् प्रसंग पर ऊपर चित्रों द्वारा भावाभिव्यक्ति का कार्य हुआ है। चित्र टीका के समान ही संगीतकार को भी श्रव्य काव्यमय टीकाकार कहा जा सकता है।[75]

स्वोपज्ञ टीका-उपर्युक्त टीका-भेदों के साथ-साथ टीकाकार की दृष्टि से भी टीका के दो भेद किये जा सकते हैं। एक तो वे टीकाएं जो ग्रन्थकार के अतिरिक्त किन्हीं अन्य रसिक टीकाकारों द्वारा लिखी जाये तथा दूसरी वे टीकाएं जिन्हें स्वयं ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ के साथ लिखा हो। ग्रन्थकार द्वारा ग्रन्थ के साथ लिखी गई टीका को ही टीका कहते हैं।[76] जैन साहित्य में इस प्रकार की टीकाएँ अधिक प्राप्त होती हैं।[77] जैन साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार की टीकाएं प्राप्त होती हैं, जहां स्वयं लेखक ने अपने ग्रंथ पर टीका लिखी हो।[78] इसी प्रकार टीका की अवतरणिका पद्धति का अनुसरण भी 'लक्ष्मी सहस्रनाम' की टीका, 'गणेश-सहस्त्रनाम' पर भास्कररायमखी जी के श्लोकबद्ध वार्तिक 'खद्योत भाष्य' आदि में प्राप्त होता है। इस प्रकार की टीकाओं में पहिले ऊपर टीका दे दी जाती है और फिर नीचे श्लोक दिये जाते हैं। पद्य टीका में तो ऐसा प्रतीत होता है मानो टीका मूल ग्रन्थ हो और ग्रन्थ के श्लोक उस पर पद्य टीका।

टीका के उपयुक्त भेदों के साथ-साथ वैदिक मन्त्रों के लिये अर्थ के भी प्रकार निर्धारित होते हैं। साधारण रूप से वेद मन्त्रों के अर्थ छह प्रकार के होते हैं, यथा-

(1) भावार्थ-जिस मन्त्रार्थ से मन्त्र के भाव साधारण रीति से समझाने के लिये स्थूल रूप से वर्णन किये जाते हैं वह भावार्थ कहलाता है।

(2) संप्रदायार्थ-प्राचीन आर्यों तथा द्विजातियों के लिये केवल संध्या और गायत्री की ही उपासना करना संप्रदाय है। इस लिये जिस अर्थ से सांगोपांग उपासना की विधि का प्रतिपादन किया जाये वही संप्रदायार्थ कहलाता है।

(3) निगम व्याख्यार्थ-जिस अर्थ में निगम या वेद के मतानुसार विशेष करके आख्यान या कथन किया जाये वही निगम व्याख्यार्य है।

(4) सर्व रहस्यार्थ-जिस मन्त्रार्थ में मन्त्र के अन्तर्गत गुप्त या अलक्षित अर्थ फा सम्यक् वर्णन किया जाये वह रहस्यार्थ कहलाता है।

(5) कौलिकार्य-जिस मन्त्रार्थ में कुल शक्ति अथवा गायत्री है और केवल उसी गायत्री की उपासना करने से

द्विजातियों के लिये अर्थ रूपी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो, वह कौलिकार्थ कहलाता है। अथवा परब्रह्म (ॐ शिव) का साकार स्वरूप गायत्री है और फिर वही निराकारावस्था में ॐ कहलाती है और इन दोनों अर्थात् परब्रह्म और ब्रह्म का योगानुष्ठान द्वारा पट्चक्रान्तर में कलाधिकार भेद से उपासना करने पर मोक्ष होता है। यह स्पष्ट ज्ञान जिस अर्थ से सिद्ध होता है वह कौलिकार्य कहलाता है।

(6) महत्तत्त्वार्थ-महत् नाम आत्मा और ब्रह्म का है जो कि सब तत्त्वों का तत्व है, ऐसा भाव जिस अर्थ से सिद्ध किया जाये वही महत्तत्त्वार्थ कहलाता है। अथवा वेदान्तशास्त्रानुसार अद्वैतभाव से ब्रह्म की उपासना जिस अर्थ से सिद्ध की जाये वही महत्तत्त्वार्थ कहा जाता है।[79] इस प्रकार अर्थसिद्धान्तों पर ध्यान देना भी टीका का एक अंग बन जाता है। विशेषकर उन ग्रन्थों की टीका के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है, जहाँ वैदिक मन्त्रों की व्याख्या की गई हो। सम्प्रति संस्कृत टीकाओं का उतना महत्त्व अब नहीं रहा है जितना कि पूर्व में था। संस्कृत भाषा जन साधारण के लिये दुरूह होती जा रही है अत: भाषानुवाद के रूप में संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ हिन्दी आदि भाषाओं में की जा रही हैं। टीकाओं की विविधता एवं उसके स्वरूप के साथ टीका के प्रयोजनों पर भा यहां विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। जो इस प्रकार है–

टीका के प्रयोजन–

मानव मस्तिष्क की ज्ञान-पिपासा एवं उसकी सीमाएँ दोनों ही ऐसे ठोस कारण हैं जो टीका प्रवृत्ति को प्रश्रय देते हैं। सर्व साधारण के लिए किसी ग्रंथ विशेष के भावों का स्पष्टीकरण करना ही टीका का मुख्य प्रयोजन है किन्तु टीकाकारों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों एवं मान्यताओं के कारण अनेक ऐसे प्रयोजन भी उसमें समाविष्ट हो जाते हैं जो टीकाकार्य में सहायक तो हैं, किन्तु अनिवार्य नहीं। पाठक और टीकाकार दोनों को लक्ष्य में रखकर टीका के निम्नलिखित प्रमुख प्रयोजन हो सकते हैं–

(1) शब्दज्ञान की सीमा और अर्थज्ञान की कठिनाई के निराकरण हेतु–

भाषा विशेष के संपूर्ण शब्दों एवं उनके अर्थों का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को नहीं होता। साथ ही, शब्द शक्ति द्वारा व्यंजित होनेवाले अर्थों में से कौन-सा अर्थ कहाँ उपयुक्त है, यह जान लेना भी साधारण पाठक के लिये कठिन होता है। अत: इन कठिनाइयों का निराकरण 'टीका' के माध्यम से ही होता है।

(2) क्लिष्ट साहित्य के सरलीकरण हेतु–

कवियों में जहां भावपक्ष के प्रति प्रबल समर्थन रहता है, वहाँ कभी-कभी चमत्कार प्रदर्शन हेतु कलापक्ष का आडम्बर भी आ जाता है। ऐसे साहित्य में कूट पदों की योजना प्रधान है, यथा सूर के कूट पद आदि। ''दृष्टि कूटों का अर्थ लगा लेना साधारण काम नहीं है। टीका के बिना इनका अर्थ लगाना बड़ा कठिन होता है।''[80] अत: टीका क्लिष्ट साहित्य के सरलीकरण का सुगम-पथ है।

(3) रसानुभूति हेतु–

सरस साहित्य की रसात्मक अभिव्यक्ति को स्पष्ट कर उसका सही आनन्दानुभाव करने के लिये टीका ही एक ऐसा मार्ग है जो निष्कण्टक होकर अध्येता को प्रगति की ओर अग्रसर करता हुआ रस का अनुभव कराता है।

(4) भाषागत प्रगति एवं परिवर्तन से उत्पन्न कठिनाइयों के निराकरण हेतु–

भाषा प्रगतिशील होती है और प्रगति परिवर्तन की जननी है। परिवर्तन से प्रत्येक युग का व्यक्ति परिचित नहीं रहा सकता। मात्र खड़ी बोली जानने वाला व्यक्ति प्राचीन हिन्दी अथवा ब्रज भाषा का अर्थ सरलता से नहीं लगा सकता। टीकाकार उस प्राचीन साहित्य को समय की धुरी पर घुमाता हुआ प्रत्येक काल के अनुकूल रूप प्रदान करता रहता है, और इस प्रकार टीकाकार ही उस साहित्य का महत्त्व अपनी टीका के माध्यम से अक्षुण्ण बनाये रखता है।

(5) अभिरुचि जागृत करने हेतु–

कलाकार अथवा काव्यप्रणेता की भावनाओं का परिपोषण एवं उसी के समान उसके द्वारा प्रस्तुत विषय को देखने का दृष्टिकोण एवं उसके मूल्यांकन के विशिष्ट मनोव्यापार को उपस्थित करने वाले गुण-अभिरुचि को जागृत करने के लिये टीका की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस बात की पुष्टि में श्री कृष्णबिहारी मिश्र का अपना मन्तव्य ''प्राचीन पद्य काव्य पढ़ने की ओर लोगों की रुचि झुकाने के लिए एक मुख्य और अच्छा सा साधन यह भी हो सकता है कि प्राचीन अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के ऐसे सटीक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किये जाये, जिनसे लोग कविता की खूबियां समझ सकें और इस प्रकार प्राचीन काव्य पढ़ने की ओर उनका चित्त आकर्षित हो[81] द्रष्टव्य है। उक्त कथन में लेखक ने टीका का महत्व कविता की खूबियां समझाने तथा प्राचीन काव्य-ग्रन्थों के मनन का ओर अभिरुचि जागृत

करने का प्रचार कार्य करने के लिये प्रतिपादित किया है। यही अभिरुचि टीका-शास्त्र को विकसित करने के लिये भी कारणीभूत है।

(6) स्तुति हेतु–

टीकाकार किसी एक साहित्यकार के प्रति पूज्य भाव रखता है या उसके मत का अनुयायी होता है तो यह अपने भाव उस साहित्यकार द्वारा प्रणीत ग्रन्थ की टीका लिखकर व्यक्त करता है। ''सूर सूर तुलसी शशि...'' कहनेवालों की वाणी में भी कुछ ऐसे ही भावों का आभास होता है। इस प्रकार टीकाकार का किसी एक साहित्यकार के प्रति लगाव होने पर वह उसके पास प्रतिपादन के लिये उसके द्वारा रचित ग्रन्थ की टीका लिखने की ओर अग्रसर होता है और वह स्तुति-टीका प्रस्तुत कर देता है।

(7) आचार्य मत प्रचार हेतु–

टीका द्वारा आचार्यों ने स्वमत प्रचार का कार्य भी किया है। शंकर, रामानुज तया वल्लभ आदि के भाष्य इसके उदाहरण हैं। आचार्य टीका के माध्यम से अपने मत का प्रचार साधारण जनता में करता है और इस प्रकार एक ओर टीका कार्य द्वारा शास्त्रानुभव कराता है तो दूसरी ओर स्वमत की पुष्टि करके आचार्यत्व की प्राप्ति भी कर लेता है।

(8) खण्डन अथवा मण्डन हेतु–

खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति भी कभी-कभी टीकाकार को टीका कार्य में प्रवृत्त कर देती है। इस प्रकार की खण्डनमण्डनात्मक अनेक टीकाओं की रचनाओं के मूल में यही भाव निहित है। जहां टीकाकार के विचारों से वैभिन्न्य हुआ वहीं टीकाकार उसकी टीका करके उसका खण्डन या मण्डन प्रस्तुत कर देता है।

(9) देश, काल एवं परिस्थिति से सामञ्जस्य स्थापित करने हेतु–

देशकाल एवं परिस्थिति के परिवर्तन के फलस्वरूप भी टीका की आवश्यकता होती है। ब्रज के संस्कार एवं लोकाचार तथा मान्यताओं से महाराष्ट्र के लोग परिचित हों, यह आवश्यक नहीं। ऐसी स्थिति में महाराष्ट्र के अध्येताओं के लिये मूल ग्रन्थ में वर्णिन लोकाचारों आदि का सही ज्ञान प्राप्त कर सकना कठिन होगा। यही कठिनाई काला विशेष की रचना के अध्ययन में दूसरे काल में आयेगी। इन कठिनाइयों को सुलझाने का सरल उपाय टीकाकार ही है। अत: टीकाकार टीका के माध्यम से ऐसे समयों में सहायतार्थ प्रस्तुत रहता है।

(10) प्रसिद्धि हेतु–

कभी-कभी मूल ग्रन्थ की रचना में उतना महत्त्व प्राप्त नहीं होता जितना कि किसी एक मान्य एवं प्रसिद्ध ग्रंथ की टीका द्वारा प्राप्त होता है। टीका के मूल में प्रसिद्धि का ध्येय भी टीका का एक मुख्य कारण हो सकता है। प्रसिद्ध ग्रन्थों की टीका करना सदा से महत्त्व प्राप्ति का साधन रहा है और यही कारण है कि प्रसिद्ध ग्रन्थों की अनेक टीकाएँ हमें प्राप्त होती हैं।

(11) प्रतिभा-प्रदर्शन हेतु–

स्वयं की प्रतिभा को प्रदर्शित करने हेतु भी टीका का माध्यम सरल प्रतीत होता है। पद्य टीकाओं के रचयिता कवि हृदय तो अवश्य थे किन्तु उनका काव्यत्व स्वतन्त्र रूप से शायद इतना महत्त्व नहीं पाता जितना कि टीका के रूप में प्रसिद्धि पा सका।

(12) चमत्कार एवं चातुर्य प्रदर्शन हेतु–

टीकाकार को चमत्कार एवं चातुर्य प्रदर्शन की भावना भी टीका के जन्म का कारण बन सकती है। मूल ग्रन्थ की अपेक्षा टीका का और भी क्लिष्ट होना इसी का फल है। यथा-मघवा इस मूल का 'विडौजा' टीका।

(13) विशिष्ट भावों के प्रकटीकरण एवं एकरूपता लाने हेतु–

कभी-कभी कवि अपने काव्य में कुछ विशिष्ट भावों का समावेश करता है जो साधारण जन को बुद्धि से परे होता है। लेखक या कवि के उस रचना में क्या भाव हैं इन्हें प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से नहीं समझ सकता। अत: लेखक एवं पाठक के भावों में तादात्म्य उपस्थित कर उसमें एकरूपता लाने का कार्य टीकाकार अपनी टीका के माध्यम में करता है और ''इस प्रकार पाठक की बुद्धि एवं जिज्ञासा के विकास तथा लेखक की ख्याति बुद्धि के समान रूप में सहायक होकर वह दोनों का उपकार करता है।''[82]

(14) अनेकार्थ शब्दों के स्पष्टीकरण हेतु–

शब्दों के अनेकार्थक होने कारण भी कभी-कभी पाठक के सम्मुख दुविधा सी उत्पन्न हो जाती है कवि के किस अर्थ को ग्रहण करे? इस दुविधा को दूर करने हेतु ऐसे समाधान करने वाले की आवश्यकता होती है जो सकारण ग्राह्य उचितार्थ का निर्णय दे सके। टीकाकार इसके लिए निर्णायक का कार्य करता है और उसका निर्णय वह अपनी टीका में लिख देता है।

(15) शिक्षा प्रसार के हेतु–

आज के युग में शिक्षा के प्रचार-प्रसार की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इस प्रसार कार्य में अनेक ग्रन्थ पाठ्य पुस्तकों के रूप में स्वीकृत किये जाते हैं। अध्ययन की दृष्टि से उन्हें सरल बनाने का कार्य भी किया जाता है, जो टीका का ही एक स्वरूप है। इनका उद्देश्य विद्यार्थियों के लिये उपयोगी संस्करण तक ही सीमित रहता है।

उपर्युक्त सभी ध्येय प्रत्येक टीकाकार में होना आवश्यक नहीं, किन्तु यह तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि टीकाकार जाने-अनजाने इसमें से ही एक या अनेक उद्देश्यों को लेकर टीकार्थ में प्रवृत्त होता है। परन्तु उक्त कथन से यह तात्पर्य भी कदापि नहीं कि टीका हेतु ये ही उद्देश्य हो सकते हैं, अन्य नहीं। रुचि-वैचित्र्य भी इन उद्देश्यों के न्यूनाधिक्य का कारण हो सकती है।

कुछ भी हो, टीका कार्य एक पवित्र उद्देश्य लिये हुये है ओर उसकी इस पवित्रता में ही उसका वृहत् स्वरूप छिपा हुआ है। यही कारण है कि मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा टीका ग्रन्थों की संख्या इतनी अधिक है। टीका के लिये परम आवश्यक बिन्दु पाठक है। पाठक को ही ध्यान में रखकर टीकाकार टीका लिखता है और पाठक ही टीका के महत्त्व को आंकता है।

आदर्श-टीका–''महाकवि गालिब के अनुसार 'सुखनसन्ज (कवि) के सुखन फहम–(कविता का मर्म समझने वाला)–आदमी किसी प्रकार की योग्यता और प्रतिष्ठा से कम नहीं है। यही नहीं, किन्तु पहले से दूसरे का दर्जा बड़ा है, क्योंकि वह कविता के गूढ़ रहस्यों को इस उत्तमता से समझता है और प्रायः उनके ऐसे-ऐसे अपूर्व और विलक्षण अर्थों को सोचता है, जो स्वयं कवि को कभी नहीं सूझते।[83] टीकाकार को यह प्रतिष्ठा तब ही प्राप्त होती है जब वह एक 'आदर्श टीका' उपस्थित करता है।

ग्रन्थ के गुण-दोषों का स्पष्टीकरण, निष्पक्षता, ग्रन्थ की मर्यादा का संरक्षण, पूर्वापर प्रसंग निर्देश, ग्रन्थ के मूल पाठ का संरक्षण एवं पाठ शोधन तथा अर्थज्ञान में बाधक अप्रसिद्ध शब्द और अप्रसिद्ध अर्थ, व्यवहार दोष (विभक्ति दोष तथा उपमा आदि दोष), अन्वय की क्लिष्टता, आवश्यक प्रतिपादन के लिये अनुक्त पदों का योग, रुढ़ि के प्रति अनादर, कठिन समास, व्याकरण विरुद्ध प्रयोग तथा व्रत भंगभय से शब्द-विरूपता आदि[84] कठिनाइयों को दूर कर वास्तविक ग्राह्य अर्थ तक पहुंचना आदि आदर्श टीका के प्रमुख तत्त्व कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त उन दोषों से भी बचना आवश्यक है, जो भोजराज ने निम्नलिखित श्लोक में बताये हैं–

''दुर्बोधं यवतीय तद् विंजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः,
स्पष्टार्थेपि च दिस्तृतिंत विदधति व्यर्थैः समासादिकैः।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिजेल्पेर्भ्रमं तन्वते,
श्रोतृ,णमिति वस्तुविप्लवकृतः प्रायेण टीकाकृतः॥'
भोजराज

(1) जो अत्यन्त कठिन प्रयोग होते हैं और जिनका अर्थ स्पष्ट करना कठिन होता है उनके सम्बन्ध में अर्थ न देते हुए 'अर्थ स्पष्ट' है ऐसा लिख देना।

(2) स्पष्ट अर्थों को व्यर्थ के समासादिकों द्वारा विस्तृत स्वरूप देना।

(3) अनावश्यक एवं भ्रममूलक व्यर्थ की अनेक बातों का उल्लेख करना।

(4) परम्परागत मान्यताओं का उल्लंघन कर विशेष अर्थ करना आदि।

भोजराज ने इस प्रकार के दोषों का प्रायः टीकाकारों में होना बताया है। ये दोष ऐसे साधक हैं जो टीकाकार के बाधक हैं। टीकाकार का उद्देश्य ही यह होता है कि वह ग्रंथ के अन्तर्निहित भावों को आत्मसात् कर अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा पाठकों को उसका रसास्वादन कराये। यदि यह स्वयं ही भ्रमपूर्ण तथ्यों को उपस्थित करेगा तो फिर पाठकों की स्थिति तो और भी चिन्तनीय हो जाएगी।

टीका के उपर्युक्त आदर्शों का पालन करते हुए भोजराज द्वारा निर्देशित दोषों से रहित जो टीकाकार टीका करता है वह आदर्श टीकाकार कहलाने का अधिकारी होता है।[85]

सम्भवतः यही बात ध्यान में रखकर टीकाकार अपनी टीका के प्रारम्भ में अथवा अन्त में टीका का महत्व और अपनी न्यूनता आदि का उल्लेख किया करते थे। 'काव्य-प्रकाश' की टीकाओं में उपलब्ध एक दो उद्धरण इस दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत करना अनुचित न होगा। यथा–

1. माणिक्यचन्द्र कृत 'संकेत' टीका–

गुणानपेक्षिणी यस्मिन्नर्थालङ्कार तत्परा।
प्रौढापि जायते बुद्धिः सङ्केतः सोऽयमद्भुतः॥1॥
नाना-ग्रन्थ-समुद्धृर्तरसकलैरप्येष संसूचितः,
सङ्केतोऽर्थलवैलविष्यति नृणां शङ्के विशङ्कं तमः।

निष्पन्ना ननु जीर्णशीर्णवसनैनीरन्ध्रविच्छित्तिभिः,
प्रालेयप्रथितां न मन्यति कथं कन्थाव्यथां सर्वथा।।2।।

2. और भट्ट बामनाचार्य झलकीकर कृत 'बालबोधिनी टीका–

प्राचीनासु च टीकासु दुरुहासु विमुह्यताम्।
नानाविधासु विद्यासु सदा व्यापृतचेतसाम्।।3।।
इदानीन्तन-बालानां सुखबोधाय यत्नतः।
टीका काव्यप्रकाशस्य रच्यते बालबोधिनी।।4।।
क्वाहं मन्दमतिः क्व चातिगहनः काव्यप्रकाशाभिधो,
ग्रन्थो यत्र धियोऽपि निर्मलधियामाकुण्ठिता वै पुनः।
सर्वं सत्यमिदं तथापि सुधियां प्राचां कवीनां वचो-
राशेः कल्पतरोः सुसन्निधिवशाच्छङ्के न
किञ्चित्क्वचित्।।5।।

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय,
अगरतला, त्रिपुरा

संदर्भ सूची

1. टीका–[टीकृ गतौ (भ्वादि) + अः+स्त्री प्रत्यय टाप् टीक्यते गम्यतेऽर्थो यया सा] - हिन्दी साहित्य कोश-प्रथम भाग ज्ञान मण्डल बनारस–लेखक आद्या प्रकाश मिश्र पृष्ठ 311
2. टीका–स्त्री. टौंक्यते ग्रन्थार्थोऽनया। टीक् करणे, घञ्, घञर्थे क वा। विषमपदव्याख्यारूपे ग्रन्थभेदे।–वाचस्पत्यम् शब्दकोश
3. 'टीका गुरुओं की भी गुरु है, गुरुओं को भी शास्त्र अध्ययन कराते समय टीका की जरूरत रहती है।'– श्रीमद्भगवद्गीता-हरिभाष्य, पृष्ठ 12
4. 'यथा सम्भवमर्थस्य टीकनं टीका' द्वितीयोध्यायः, शास्त्रनिर्देशः, काव्यमीमांसा (गायकवाड औरियन्टल सीरीज), सं. 1, पृष्ठ 50
5. साहित्य सन्देश–वर्ष 1 अंक 3, सितम्बर 1937 'हिन्दी साहित्य के टीकाकार'–लेखक डॉ. नगेन्द्र।
6. According to the strict orthodox faith of the Hindus the vedas are A-paurusheya, 'Not human composition' being supposed to have been directly revealed by the Supreme being Brahman and are called srutile. 'What is heard or revealed', as distinguished from smriti i.e. what is remembered or is the work of human origin; and the several sages to whom the hymns of the vedas are ascribed are therefore called द्रष्टार : 'Seers' and not कर्तार : or खष्टार; 'Composers. The Sanskrit English Dictionary V.S. Apte P. 532
7. "It seems that the need for explanation must have been felt from the time human beings began to communicate their thoughts to one another, and in this way exegetical literature of all people must have come into existance, that of the Indians, being no exception to this rule." Prof. H.R. Kapadia–The Jain Commentaries, P. 292
8. ''वांग्मयाच्या मूल्यमापनात टीकेच्या नव्या नव्या कसोट्या कशा-मुले निर्माण होतात, या प्रश्नाला कलावंताचा कालानुरूप बदलत जाणारा दृष्टिकोन आणि तदनुसार त्याच्या हातून निर्माण होणारे निर निराले वांग्मयविषयक अनुभवजन्य प्रयोग हेच उत्तर मिलते।'' टीका आणि टीकाकार, वामन भार्गव पाठक, पृष्ठ 51
9. "Our aesthetic enjoyments are thus eminently ficted to be social ones; and as such they become greatly amplified by sympathetic reson ane: (The Encyclopaedia Bristanica, Vol- IP-280.
10. ''स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।।
यो ऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा''।।-निरुक्त
11. ''यस्तित्याज सचिचिदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति। यदी शृणोत्यलक शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।'' (ऋग्वेद 910/7 /6, ऐत. आर. 3।10, तेत्ति आर. 1/3/1।
''नार्थज्ञानविहीन शब्दोच्चारण फलति। भस्मनि बह्निविहीने न प्रक्षिप्त हविज्वलति।। अर्थमजानाना नानाविधशब्दमात्रपाठवताम्। उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढेव।। पुरुषार्थोनिच्छन्निन्द्रः पुरुषैरर्थाः परिज्ञेयाः। अर्थानादरभाजां नैवार्थः प्रत्युतानर्थः।।'' (वरिवस्यारहस्य 2/54-56)
''यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेता न तु चन्दनस्य। एवं हि वास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थषु मूढाः खरवद्वहन्ति।। (सुश्रुतसूत्रस्थान 4/3)।

''यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्पर:। न च ग्रन्थार्थ-तत्त्वज्ञस्तस्य तद्वारण वृथा।।'' भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यायं न वेत्ति य:। यस्तु ग्रन्थायतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा।।'' (महा. शान्ति. 205/13/150)।

12. टीकाकारसुद्धा ग्रंथासीं तादात्म्य पावतानां मूल ग्रंथकाराला आले त्या अनुमानाच्या काहीं असाधारण भावनात्मक संवेदन प्रापल्या अंत:करणात सांठवीत असतो जाणी त्यांनी उभ्या केलेल्या कल्पना-चित्राला शब्दस्वरूप देण्याचा। प्रयत्न करतो।'' टीका आणि टीकाकार-पृष्ठ 93.
13. ''विषमपद व्याख्या (भानुजी दीक्षित की रामाश्रमी), विषम-पद-व्याख्यानरूप वृत्ति (तारानाथकृत शब्दस्तीममहानिधि) इस अर्थ के अनुसार 'टीका' भी वृत्ति की ही भांति संक्षिप्त होनी चाहिए, क्योंकि उसमें केवल कठिन और दुरुह पदों का ही व्याख्यान होता है। परन्तु इसका विरोधी मत भी है, जिसके अनुसार टीका विषम पदों की ही व्याख्या नहीं अपितु मूल के सुगम और दुर्गम समस्त पदों की निरन्तर व्याख्या है। ('टीका निरन्तरं व्याख्या सुगमानां विषमाणां च निरन्तर व्याख्या'-हैम.)-हिन्दी साहित्य कोश।।
14. हिन्दी साहित्य कोश।
15. वही।
16. साहित्य सन्देश वर्ष 1 अंक 3 सितम्बर 1937-'हिन्दी साहित्य के टीकाकार'-डा. नगेन्द्र
17. संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ बहुत ही उपयोगी हैं। कई टीकाएँ इतनी सुन्दर हैं कि मूल ग्रन्थ से भी बाजी मार ले गयी हैं। कई टीकाएं तो इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके बिना सम्भवत: मूल ग्रन्थ ही खटाई में पड़ गए होते। कई टीका ग्रन्थ मूल ग्रन्थ की नीरसता को दूर कर उसमें अमृतोपम माधुर्य का संचार करते हैं। कल्याण पृष्ठ 1371-72 वर्ष 37 अंक 12 दिसम्बर 1963 - 'संस्कृत भाषा का टीका साहित्य'-ले.-पं. जानकीनाथजी शर्मा।
18. कल्याण पृष्ठ 1371-72, वर्ष 27 अंक 12 दिसम्बर 1963 - 'संस्कृत भाषा का टीका साहित्य'-ले. पं. जानकीनाथजी शर्मा।
19. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास-सम्पादक-राजबली पाण्डेय, पृष्ठ 195, खण्ड 2, अध्याय 1-लेखक डा. भोलाशंकर व्यास।
20. वैदिक साहित्य-पृष्ठ 174 पर उद्धृत।
21. निरुक्तम्, प्रथमो भाग:-प्राक्कथन पृष्ठ 15, सन् 1952 (हिन्दी संस्करण)।
22. 'निरुक्त के बिना वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता'-निरुक्तम् प्रथमो भाग:-प्राक्कथन पृष्ठ 67, सन् 1952 (हिन्दी संस्करण)।
23. ''वैदिक शब्दों के कोश का नाम निघण्टु है।'' वैदिक साहित्य परिशीलन-रजनीकान्त शास्त्री, पृष्ठ 111
24. 'निरुक्त उन निघण्टुओं की टीका है जिनमें वेद के कठिन शब्दों का संग्रह होता है। प्राचीन समय में ऐसे कितने निघण्टु थे? यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संख्या के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। आजकल केवल एक ही निघण्टु उपलब्ध है, इसी की टीका यास्क का निरुक्त है। पर यास्क ने अपने पूर्व के बारह निरुक्तकारों के मतों का तत्तत्स्थान पर संकेत किया है।' ले. डॉ. भोलाशंकर व्यास-हि.सा. का वृ. इतिहास-प्रथम भाग, सं. राजबली पाण्डेय पृष्ठ 165, खण्ड 2 अध्याय 1
25 (अ) 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदं जातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्' निरुक्तम्, प्रथमो भाग:-प्राक्कथन-हिन्दी संस्करण-1952, पृष्ठ 5

(आ) जिन शब्दों वा उनके अर्थों के मूल का पता व्याकरण शास्त्र से नहीं लगता उनकी उत्पत्ति का पता लगाने वाले शास्त्र को निर्वचन या निरुक्त कहते हैं। वैदिक साहित्य परिशीलन-रजनीकान्त शास्त्री, पृष्ठ 111
26. ''निरुक्त न. निर्-वच् भावे क्त:। निर्वचने पदानामवयवार्था: सम्भाविता नि:शेषेण निश्चयेन उच्यन्ते यत्र तन्निरुक्त मिति। पदानामवयवार्थनिर्वचन प्रतिपादके-व्याख्यादिप्रणीते, ग्रन्थभेदे तदेतत् ऋग्वेदभाष्योपक्रमे उक्तं यथाहेमचन्द्रस्तु पदभजनं निरुक्तमित्युक्त तेनावयवार्थज्ञापनार्थ तत्तद्धारकपदस्य विभागकरणमेव निश्वत मिति तदर्थ:।''-वाचस्पत्यम् शब्द कोश।
27. निरुक्ति-स्त्री-निर-वच् क्तिन्। निर्वचने प्रकृति प्रत्ययावयवार्थकथनद्वारा समुदितार्थबोधन। वाचस्पत्यम्। शब्दकोश।
28. निरुक्तम्, प्रथमो भाग-प्राक्कथन पृष्ठ 6 (हिन्दी संस्करण 1952)।

29. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।। वही, पृष्ठ 6।

30. 'There occurs the word Nirrutta in pali. It can be rendered in Sanskrit as Nirrukta. But it should be borne in mind that this is neither an original work nor a commentary as written in Pali 'To express in zora; strian Terminology, it is neither Avesta nor zend- Report from the Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona vl- XVI Parts III, IV, 1935 Foot note 4 Page, 296.

31. "The very first type of the Jaina explanatory works on the Agamas that forma part our legaly is known as Nijjutti (skr- Niryukti) and its authorship is attributed to Bhadra Bahu Swamin" वही, पृष्ठ 254।

32. 'निश्चयेनार्थप्रतिपादिका युक्तिः निर्युक्तिः'। इसी प्रकार हरिभद्र सूरि ने 'दशवेयालिय सुत्त' और उसकी नियुक्ति में कहा है-'निर्युक्तानामेव सूत्रेऽर्थानां युक्तिः'-परिपाट्आ योजनम्, निर्युक्तियुक्तिरिति वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिः।' वही, पृष्ठ 296।

33. 'Thus nijjutti means 'means in toto." वही, पृष्ठ, 264

34. If it is correct to locate these Nijjuntis as belonging to the fourth century B. C., will one be justified in looking upon them as the oldest metrical commentaries forming a part of the Indo Aryan literature–Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute. P. 297.

35. निरुक्तम-प्रथमो भाग-प्राक्कथन (हि. सं. 1952) पृष्ठ 5 ।।

36. पदपाठ में शब्दों का खण्डन होता है ''मन्त्र के शब्दों का मण्डन इसलिए करते हैं कि उसका मूलपाठ रजनीकान्त शास्त्री पृष्ठ 75 ।

37. वेदपाठ की विविध प्रणालियाँ–
(1) जहाँ मूल का अविकल पाठ होता है वह निर्भुज संहिता है जैसे 'अग्निमीले पुरोहितम्' इस मन्त्र को ज्यों का त्यों पढ़ना अर्थात् 'अग्निमीले पुरोहितम्, पढ़ना 'निर्भुज संहिता' है। इसके पाठ में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। परन्तु –
(2) जहां मूल विकृत रूप से पढ़ा जाता है वह 'प्रतृण संहिता' है। इसके पद संहिता, क्रम-संहिता आदि कई भेद हैं–
(क) जहाँ सन्धि और विराम पादि का विचार किया जाता है वहां पद संहिता होती है। जैसे उक्त मन्त्र को इस तरह पढ़ना पदसंहिता है- अग्निम्, ईले, पुरः, हितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्, परन्तु (ख) क्रमसंहिता का पाठ कुछ विचित्र है। शब्दों के क्रम में विकार हो जाता है जैसे-अग्नि, ईले, ईले पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य देवम्, देवं ऋत्विजम् (ग) जटा पाठ और भी विचित्र है-अग्नि ईले ईले अग्नि, अग्नि ईले, ईले पुरोहितम्, पुरोहित ईले, ईले पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितम् यज्ञस्य, यज्ञस्य देव, देव यज्ञस्य, यज्ञस्य देव, देवं ऋत्विजम्, ऋत्विजं देवं, देवं ऋत्विजम्। (घ) धन पाठ तो और भी विचित्र है-अग्नि ईले, ईले अग्नि, ईले अग्नि, अग्नि ईले, पुरोहितं पुरोहितं ईले, अग्नि ईले, पुरोहितं ईले पुरोहितं, पुरोहित ईले ईले, पुरोहित यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितं ईले ईले, पुरोहित यज्ञस्य पुरोहितं, यज्ञस्य यज्ञस्य पुरोहित, पुरोहितं यज्ञस्य देव, देवं यज्ञस्य पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य देवं, यज्ञस्य देव देवं, यज्ञस्य यज्ञस्य देवं ऋत्विज ऋत्विज देव, यज्ञस्य यज्ञस्य देव ऋत्विजम्। वही पृ. 74-75।।

38. ''श्लोक साहित्य की जटिलता क्रमशः इतनी बढ़ने लगी कि विद्वानों ने अपने पाण्डित्य की पूरी प्रतिभा इसी में प्रतिफलित की। और संस्कृत की यह प्रणाली भी है कि कहीं कर्ता, कहीं कर्म और कहीं क्रिया रहती है। विशेषण के सामासिक पदों से पद्य की कठिनाई ऐसी हो जाती है कि अर्थ समझने में पर्याप्त परिश्रम होता है। इस जटिलता को दूर करने के लिये 'अन्वय' का जन्म हुआ।'' कथा कौमुदी मनोरमा-रुद्रदेव त्रिपाठी, पृष्ठ 90-91।।

39. कथा कौमुदी मनोरमा-डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी-पृष्ठ 95।

40. वही, पृष्ठ 96।

41. वही, पृष्ठ 95।

42. व्यासशिक्षा-प्राचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा सम्पादित-देखिए प्रत्यक्षर विश्लेषण हेतु।

43. 'वर्तने स्थितौ विवरणे च' देखिए-वाचस्पत्यम्-तारानाथ भट्टाचार्य।

44. ''वृत्ति प्रायः सूत्र या गद्यग्रन्थों की संक्षिप्त टीका का

नाम है।''-कल्याण-'संस्कृत भाषा का टीका साहित्य' पं. जानकीनाथ जी शर्मा वर्ष 37 अंक 12, पृष्ठ 1371

45. ''सूत्राणां सकलासारविवरणं वृत्तिः।'' काव्य मीमांसा-द्वितीयोध्यायः, शास्त्र निर्देशः।।

46. ''अथ कठकोपनिषदल्लीनां सुखप्रबोधनार्थमल्प-वृत्तिरारभ्यते। उषा वा प्रश्वस्य इत्येवमाद्या वाजसनेयिबाह्मणोपनिषत्। तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते।'' बृहवा. शाङ्कर भाष्य।

47. 'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थव्यक्तकारि तु वार्तिकम्'-हेमचन्द्र कोश, पाराशर पुराण में यह श्लोक इस प्रकार है-'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं बार्त्तिकं प्राहुरूतिकज्ञा मनीषिणः।।'

48. वार्तिक ग्रन्थ प्रायः (कात्यायनादि को छोड़कर) श्लोकों में प्राप्त होता है।-कल्याण-भाग 37 सं. 12 पृष्ठ 1373 पं. जानकीनाथ जी।

49. 'विस्तारे मेदिनी, व्याख्याने वाक्यस्य शेषाद्विवृर्तेवैदन्ति शक्तिग्राहकमानम्।'-वाचस्पत्य शब्दकोश।।

50. "Vachanika is a name for a Hindi Commentary generally belonging to a Digamber School, which seems to name sutra as Kaphi." The Jaina Commentaries–H.R. Kapadia, Page 313

51. 'व्याख्यानग्रन्थे व्याख्याने ग्रन्थभेदे च'-वाचस्पत्य शब्दकोश।।

52. काव्यमीमांसा-राजशेखर (Gackwad's Oriental Series No I, P. 5)

53. 'अंतर्भाष्य समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा।'-काव्यमीमांसा द्वितीयोध्यायः, शास्त्र निर्देश-राजशेखर।

54 'अर्थप्रदर्शनकारिका कारिका'-वही-राजशेखर।

55. "On Haribhabra Siri's Astakas"- same p. 303. "Tabba of which stabukartha is a sanskrit equivalent, is a small commentry in Gujrati." The Jain commentries by Pro H. R. Kapadia p 304 A of the B.O. R. Institute.

56. 'Chaya is only a Sanskrit rendering of the corresponding Prakrit- Portion- It is known as 'prati-Sanskrit See Jinesvara Sari's Commentary

57. 'विषमपदभञ्जिका पञ्जिका'-काव्यमीमांसा-राजशेखर।

58. ''अवयवार्थमनारत्य समुदायार्थ'' -वाचस्पत्यम् शब्दकोश।

59. See "A Sanskrit English Dictionary' (3rd Edn. P. 329) by Moniar Williams, Curnika is there explained as a kind of easy prose." The Jain Commentries p. 297 Foot Note-A of the R. I.

59क. See D. C. J. M. (Vo. XVII) p. II No. 449 Same.

60. 'सा च टीका व्याख्यारूपेण व्यवह्रियते। वाचस्पत्यम् शब्दकोश।

61. 'संस्कृत भाषा का टीका साहित्य'-पं. जानकी नाथ जी शर्मा, कल्याण भाग 37 संख्या 12 पृ. 1372।

62. विषयो विशयश्चैब पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
प्रयोजनं च पञ्चाङ्ग शास्त्रेऽधिकरण विदुः।।'' वही पृष्ठ 1272 ।

63. ''नाविस्तीर्ण न च विस्तीर्ण मध्यानामपि बुद्धिकृत्।
भाष्यप्रदीपव्याख्यानं कुर्वे हेतु यथामति।।'' नागोजी भट्ट कृत उद्द्योत पृ. 1. श्लोक 4।

64. विशेष के लिये देखिये-पातञ्जल महाभाष्य-सं. गुरुप्रसाद शास्त्री (वाराणसी प्रकाशन)।

65. मतिराम ग्रन्थावली-पं. कृष्ण बिहारी मिश्र-भूमिका-पृष्ठ 258

66. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, श्री लीलाधर गुप्ता-पृष्ठ 68

67. वही पृष्ठ 96

68. वही, पृष्ठ 100 ।

69. रसगङ्गाधर-भूमिका।

70. पा. आ. सि. लीलाधर गुप्त।

71. अहमदाबाद प्रकाशन।

72. द्रष्टव्य-अनेकार्थ साहित्य-संदोह प्रथमभाग सं. चतुरविजय मुनि, प्रस्तावना ।

73. सरस्वती पत्रिका, भाग 19 सं. 1 पृष्ठ 51-52 पुस्तक परिचय।

74. ''तुलसीदास ने अपने मन का जो भाव व्यक्त करने के लिये उल्लिखित चौपाई की रचना की है वह तो स्पष्ट ही है। उसे सभी समझ सकते हैं। अतएव गोस्वामीजी यदि इस समय जीते होते ती शुक्लजी की चरणरज लेने के लिये अवश्य ही दौड़ पड़ते, क्योंकि उन्हें जब, कहीं सैकड़ों वर्षों बाद मालूम होता कि मैं इतना विकट विद्वान् हैं। मेरी एक छोटी सी चौपाई के अक्षरों से मेरे अभीष्ट अर्थ के सिवा और भी लाखों अर्थ निकलते हैं।' वही पृ. 51-52।

75. ''संगीतकार इस श्रव्य-काव्य का टीकाकार है। यह टीकाकार आजकल पुस्तकों पर टीका लिखने वालों के समान नहीं है। यह श्रव्य काव्य की टीका भी शब्दों ही में करेगा। इन शब्दों को वह विचारों की सुविधा के अनुसार ही सजावेगा।'' 'देव और बिहारी' -कृष्ण बिहारी मिश्र-भूमिका पृष्ठ 13

76. Svopagna commentries-written by the Auther him seif, देखिये–A. of the B.O. R.S. Jain commentries page- 2.

77. देखिये-वही पृ. 302

78. "On the non Jain Literature, too, we bind svopagna commentries mostly in the case of shetoried works." A. of the B. O. R. S. Jain commentries P. 302

79. द्रष्टव्य 'गायत्री और पुरुष सूक्त'--भाषा टीका और भावार्थ, प्रकाशक-श्री गोविन्द लाल जोशी, धानमण्डी, घार. सी. आई.।

80. श्री सूरदास का दृष्टिकूट (सटीक), टीकाकार-सरदार कवि, प्रकाशन केशरीदास सेठ नवल किशोर प्रेस, 3929 ई., पंचम संस्करण, पृष्ठ 3

81. देव और बिहारी-श्री कृष्ण बिहारी मिश्र, भूमिका पृ. 11

82. 'हिन्दी साहित्य के टीकाकार'-डॉ. नगेन्द्र, साहित्यसन्देश, वर्ष 1 अंक 3 सितम्बर 1937

83. 'बिहारी की सतसई'-पं. पद्मसिंह शर्मा पृ. 351-52

84. ''श्रीमद्भागवतभाषापरिच्छेदः–श्री चारुदेव शास्त्री, विश्वेश्वरानन्द इण्डोलाजिंकल जर्नल, सितम्बर 1764, वाल्यूम द्वितीय, भाग 2

85. उपर्युक्त टीका-सम्बन्धी विवेचन के सन्दर्भ में निम्नलिखित पद्य भी स्मरणीय हैं–

1. 'मेघदूत' के टीकाकार सरस्वती शृङ्गारहारापरनामा श्रीस्थिरदेव–

आरोहन्ति पतत्रिणोऽपि न कटप्रस्थे तटोत्तुङ्गतां
जानीते पुनरस्य मन्दरगिरेर्मूर्ध्ना धुतानो रविः।
भूयांसो रचयन्ति वाचमुदितव्युत्पत्तिसारं गिरां,
बध्नाति स्थिरदेव एव हि कविर्वागर्थविज्ञो गुरुः॥

2. उषाहरण काव्य टीका में सुमतीन्द्र यति लिखते हैं–

उदाहरण-वषिणीमुचितभावनिकषिणीमशेषरस-
पोषिरणीम खिलसूरिसन्तोषिणीम्।
'त्रिविक्रम'-सरस्वती पठ पठेति सङ्घोषिणी-
मुषाहरण-दीपिकां हरिमुवेऽहमातन्व्यमूम्॥

3. अन्यत्र व्याख्या की पूर्वभूमिका, यथा–

तथा बुधोक्तरीत्येव यथाबुद्धिवलोदयम्।
आख्यायते नन्बस्माभिव्यख्याऽसौ विदुषां मुदे॥
अमरस्यापि विश्वस्य यादवस्य यशस्विनः।
भास्करस्यापि हृद्यस्य वात्स्येन्दोमिनस्य च॥
पञ्चप्रपञ्च-प्रथिताः सूक्तयोऽति सुगन्धयः।
प्रत्नानीमानि रत्नानि यत्नादेव पदे पदे॥
स्वालोकेनैव बालानां मतिमान्द्यतमोमिदि।
अर्थप्रदीपिकात्यायां व्याख्यायां व्यक्तशक्तयः॥
सम्मत्यै सकलार्थानामत्यसाधारणाख्यया।
पद्ये पद्ये विलित्यन्ते पण्डितानां निघण्टवः॥
अलसानामिहालोकेऽप्यानुकूलाद्यपेक्षया।
तत्तदाख्या न लिख्यन्ते व्याख्या-विस्तारमीलितः॥
अनर्घवृत्तमव्यर्थमत्र सद्गुणभास्करम्।
उत्तेजितमुदग्रेऽस्मद् व्याख्यानं निकषोपले॥

4. तथा 'गीतगोविन्द' की 'रसिकप्रिया' टीका में 'कुम्भकोण' नृपति की यह उक्ति–

शृङ्गारे सप्रपञ्चे रस इह रुचिरीचित्ययुक्तो प्रकृष्टे-
ऽलङ्कारे नायिकाया गुणगणगणने वर्णने नायकस्य।
गीतो प्रीतौ च वृत्तौ लयमनु रसिकः कौतुकं चेत्तदेमा,
दोषैर्मुक्ता गुणान्याः शृणुत नरपतेः कुम्भकर्णस्य वाचः॥17॥
स किं बन्धः श्लाघ्यो ब्रजति शिथिलीभावमसकृद्
विचारेणाक्षिप्तो ननु भवति टीकाऽपि किमु सा।
न या ग्रन्थ-ग्रन्थिप्रकटनपटुः किन्तु तददो,
द्वयं युक्तं कर्तुं प्रभवतितरां कुम्मनृपतिः॥1।

इस कथन से पूर्व टीकाकार ने कहा है कि मैं जयदेव कवि के इस प्रबन्ध को स्वरादि छह अङ्गों से संयुक्त कर, उचित तथ्यों के सङ्कलन पूर्वक स्वयं गाकर कुटीका को छोड़ते हुए यह टीका कर रहा हूँ। द्र. पद्य. 16 रसिकप्रिया-टीका। विशेष जानकारी के लिए देखें -सम्पादक द्वारा सम्पादित 'काव्यप्रकाश की

शोध-पत्र

डॉ. मीनाक्षी

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में मानवतावाद

मानवतावाद सभी नैतिक मूल्यों, मानवीय स्वभाव और विकास को केन्द्र में रखकर देखने वाला अध्ययन और दर्शन है। मनुष्य स्वयं के प्रति तथा समाज (दोनों) के प्रति जिम्मेदार है। मानवता के विकास में मानवीय और नैतिक मूल्यों की विशेष भूमिका होती है। मानवाधिकारों में स्वतंत्रता, शिक्षा, आजीविका, अभिव्यक्ति, समानता के अधिकारों की रक्षा अनिवार्य है। 'मानव एक ओर व्यक्ति है और दूसरी ओर सामाजिक प्राणी। व्यक्ति और समाज के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों पर ध्यान न देने के कारण कुछ लोग व्यक्ति स्वातंत्र्य पर जोर देते हैं तो कुछ लोग सामाजिकता पर। मनुष्य होने का अर्थ स्वतंत्र होना है। घिसी-पिटी परम्पराओं, रूढ़ियों के विरुद्ध स्वयं का निर्णय मनुष्य को मनुष्य बनाता है।'[1] जब मनुष्य पशुत्व छोड़ देता है, तभी वह मनुष्य बनता है। प्रेम, अहिंसा, त्याग, दान, परोपकार, क्षमा, दया, करुणा, वीरता, साहस जैसे गुण मानवीय उदात्त को प्रकट करते हैं। वहीं दूसरी ओर आतंकवाद, हिंसा, क्रूरता, भ्रष्टाचार, मानव अंगों की तस्करी, महिलाओं और बच्चों के साथ होती यौन शोषण की घटनाएँ सम्पूर्ण विश्व, समाज और मनुष्यता को ही कटघरे में खड़ा कर देती हैं। इसीलिए वर्तमान समय में मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है। 'मानवतावादी चेतना के फलस्वरूप पहला काम यह हुआ कि मनुष्य-मनुष्य की समता का भाव जगा। धर्म, देश, वर्ण, जाति के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद की अभेद्य दीवाल को तोड़ने की कोशिश की गयी। कबीर ने इस दिशा में जोरदार पहल की थी। आधुनिक युग में छायावादी कवियों ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी।'[2] हिन्दी साहित्य में सम्पूर्ण भक्तिकाव्य (कबीर, सूर, तुलसी, जायसी और अन्य संत कवि), भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के अन्य कवियों, जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, निराला, महादेवी, मुक्तिबोध का साहित्य इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। गौतम बुद्ध, महावीर, स्वामी विवेकानंद, रविन्द्रनाथ टैगोर, पंडित दीनदयाल उपाध्याय, नेल्सन मंडेला जैसे महापुरुषों ने भी समस्त संसार को मानवता का पाठ पढ़ाया है। मानवता का लक्ष्य 'सत्यम् शिवम् सुंदरम' को प्राप्त करना है। मानवतावाद में सम्पूर्ण विश्व की मंगल कामना तथा 'वसुधैव कटुम्बकम' की भावना निहित है। 'वस्तुतः मानवतावाद के मूल में सकर्मक करुणा निहित है, जो लघु मानव की ओर प्रवाहित होती है। वर्गों में बंटे हुए मनुष्यों में मानवतावादी विचारधारा लघु मानव का साथ देकर ही मानववादी हो सकती है।'[3] मानवतावाद के मूल में प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी देश, समाज, जाति और रंग का हो, उसका विकास ही केन्द्र में है। किसी भी आधार पर भेदभाव का कोई स्थान नहीं। 'भारतीय संस्कृति का मूल सिद्धान्त मानव प्रेम ही रहा है। इसके लिए समस्त वसुधा ही एक कुटुम्ब बन गई है।'[4] वर्तमान समय में जहाँ बड़ी-बड़ी शक्तियाँ आपस में टकरा रही है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अशांति है। विज्ञान का इस्तेमाल विकास के लिए नहीं अपितु मानव विनाश के लिए हो रहा है। पूरा विश्व भयंकर वैश्विक महामारी के दौर से गुजर रहा है। ऐसे समय में भारतीय संस्कृति तथा मानवतावादी दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में मानवतावाद के तत्व मिलते हैं। वर्मा जी के

अनुसार पाप से घृणा होनी चाहिए न कि पापी से। कई बार मनुष्य परिस्थितिवश अनचाहा जीवन जीने को विवश हो जाता है। 'तीन वर्ष' नामक उपन्यास में सरोज के वेश्या बनने के पीछे उसकी परिस्थितियों को ही जिम्मेदार माना है। यदि सरोज को उचित परिस्थितियाँ मिली होती तो वह वेश्यावृत्ति नहीं करती। 'सरोज के माध्यम से वर्मा जी ने उदात्त प्रेम को दर्शाया है। जहाँ एक ओर प्रभा जैसी उच्च शिक्षा प्राप्त और आर्थिक रूप से धनी स्त्री संबंधों में प्रेम को नहीं बल्कि धन और समृद्धि को आधार बनाने का प्रयास करती है वहीं दूसरी ओर सरोज वेश्या होकर भी संबंधों में प्रेम को महत्व देती है। यहाँ तक कि स्वयं का कमाया धन रमेश को सौंप देती है। 'वेश्या को हीन समझने की जो परम्परागत प्रथा चल पड़ी है उसके विपरीत वर्मा जी उसे सामाजिक स्तर पर उच्च स्थान दिलाते हैं, किसी की कृपा से नहीं, उसकी अपनी योग्यता से।'[5] वर्मा जी ने वेश्या के प्रति समाज की संकुचित दृष्टि पर प्रश्नचिन्ह लगाया है। उनका मानना है कि उन्हें समाज में किसी भी प्रकार के भेदभाव तथा तिरस्कार का सामना न करना पड़े बल्कि उन्हें आगे बढ़ने के लिए अवसर की समानता मिलनी चाहिए।

एक अन्य नायिका प्रधान उपन्यास 'वह फिर नहीं आई' में श्यामला को परिस्थितियों के चलते वेश्यावृत्ति को अपनाना पड़ता है। वह अपने पति जीवनराम से बहुत प्रेम करती है। उसकी मृत्यु होने के पश्चात् भी वह अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करती है। वह शरीर के स्तर पर भले ही बंटी हुई हो, परन्तु आंतरिक और आत्मिक तौर पर सदैव अपने पति से ही जुड़ी रही। वर्मा जी के शब्दों में ''वह स्त्री थी, वह सौंदर्य और कोमलता की प्रतीक थी।''[6] वह कुशल, नेक, ममतामयी थी, जिसमें कठोरता और कोमलता दोनों का समावेश था। वह स्वयं कहती है ''मैं अपनी आत्मा को न बेच पाती थी, वह तो हमेशा-हमेशा के लिए जीवनराम की हो चुकी थी।''[7] श्यामला की पवित्रता और शुचिता के विषय में त्रिभुवन सिंह लिखते हैं ''नारी की पवित्रता केवल उसकी यौन पवित्रता पर ही नहीं है, बल्कि हृदय की ही पवित्रता उसकी वास्तविक पवित्रता है।''[8] वास्तविकता तो यह है कि पितृसत्तात्मक समाज में नारी को भोग्या के रूप में चित्रित किया जाता है। उसके मानसिक और आंतरिक रूप, गुण और कौशल को दोयम दर्जा दिया जाता है। यदि शरीर की पवित्रता नष्ट तो नारी का पूरा जीवन नष्ट समझ लिया जाता है। इसी दृष्टिकोण पर वर्मा जी प्रहार करते हैं। नारी की बदलती हुई भूमिका और उसकी जिम्मेदारी को नए सिरे से समझने की जरूरत है, मानवीय दृष्टिकोण से देखने की जरूरत है। वर्तमान समय में नारी की स्थिति, उसके सामाजिक दायित्व, कर्त्तव्य आदि का निर्धारण होना चाहिए।

'टेढ़े मेढ़े रास्ते' नामक उपन्यास में अहिंसा के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। अहिंसा का स्वरूप मानवीय होता है। इस उपन्यास के पात्र मार्कण्डेय के शब्दों में ''हिंसा पशुता की प्रवृत्ति है, मानवता की नहीं और मनुष्य पशुता को छोड़कर मानवता का पूर्ण विकास कर रहा है। अपने हित को वह अपना सत्य तो मानता है, लेकिन दूसरों के हित की, जो मानवता का सत्य है, अभी तक उपेक्षा करता रहा है। हम में दया, प्रेम, त्याग ये सब प्रवृतियाँ मौजूद हैं। इन प्रवृतियों को विकसित करके अपने सत्य को और मानवता के सत्य को एक रूप कर देना यही अहिंसा है।''[9] भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है-'अहिंसा परमो धर्म'। मानवीय जीवन और उनके विकास की सीढ़ी का प्रमुख सोपान अहिंसा ही है। किसी भी प्राणि मात्र को तन, मन, वचन से कोई भी नुकसान न पहुँचाना वास्तविक अहिंसा है। सनातन, जैन और बौद्ध धर्मों में अहिंसा को जीवन की सुरक्षा के रूप में देखा गया है। यदि मनुष्य दिन-रात हिंसा में संलग्न रहता है, एक तो वह अपना सर्वनाश करता है, दूसरी ओर सम्पूर्ण समाज में अशांति फैलाता है। इसी कारण विश्व, देश, समाज और व्यक्ति किसी का विकास संभव नहीं है। इस दृष्टि से वर्मा जी के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नामक उपन्यास का पात्र मार्कण्डेय विशुद्ध मानवीय पात्र है।

'सीधी-सच्ची बातें' नामक उपन्यास की पात्र शिवदुलारी मानवतावादी है। वह रामगढ़ अधिवेशन में बारिश में भीगे जगत प्रकाश के प्राण बचाती है। वह जगत प्रकाश को सम्बोधित करते हुए कहती है ''चुप रहो, यहाँ गरम कुछ नहीं, सिवाय मेरे शरीर के। तुम्हारे शरीर की ठिठुरन अब जाती है। जो कुछ हुआ उसे भूल जाना। मैंने तुम्हारी जान बचाने की कोशिश की थी, लेकिन परिस्थितियों पर वश नहीं चलता।''[10] शिवदुलारी एक मानवतावादी पात्र है। वह जगतप्रकाश का जीवन बचाने के लिए सामाजिक और परम्परागत पतिव्रत धर्म को भी दरकिनार कर देती है। इससे बढ़कर वह कामरेड बाबूराम को हत्या के झूठे

आरोप से मुक्त करवाने के लिए अपने पति सुखलाल को जहर देकर स्वयं भी आत्महत्या कर लेती है। यदि वह ऐसा नहीं करती तो सुखलाल बाबूराम के खिलाफ झूठी गवाही देकर उसे अपराधी सिद्ध कर देता। शिवदुलारी का चरित्र परम्परागत सामाजिक नियमों की अनदेखी करता है लेकिन मानवता की पराकाष्ठा को छू जाता है।

'सीधी सच्ची बातें' नामक उपन्यास के पात्र जगत प्रकाश और जमील मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित है। उनके मार्क्सवाद का प्रमुख तत्व मानवतावाद है। देश को गरीबी, बदहाली, शोषण और अत्याचार से मुक्त कर समाजवाद की स्थापना करना उनके जीवन का लक्ष्य है। जगत प्रकाश अंग्रेजी सेना में भर्ती होता है। वह रूस के साथ मिलकर फासीवाद और साम्राज्यवाद को खत्म करना चाहता है। युद्ध के समय जर्मन सैनिक को मारने के पश्चात् उसका नर्वस ब्रेक डाउन हो जाता है। इसी कारण उसे अस्पताल में भर्ती होना पड़ता है। वहाँ डॉ. मोदी जगतप्रकाश से कहते हैं-''शक्ल से तो तुम कड़े दिल वाले और लड़ाकू आदमी नहीं दिखते वरना इतनी साधारण बात पर तुम्हें नवर्स ब्रेक-डाउन नहीं हुआ होता।''[11] वह उसे कम्युनिज्म छोड़ने तक की हिदायत देते हैं। हिंसा का कोई भी रूप स्वयं मनुष्य को भावनात्मक और मानसिक रूप से तोड़कर रख देता है। जमील नामक पात्र अपने मानवीय गुणों के कारण मजदूरों के हितों की रक्षा और सहायता करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। उसे स्वयं अनेक पारिवारिक और आर्थिक संकटों से जूझना पड़ता है। परन्तु इन सभी परिस्थितियों के चलते हुए भी वह अन्य श्रमिक लघाटे की मृत्यु होने पर उसकी धर्मपत्नी की सहायता करते हुए कहता है ''मैं कहता हूँ अपने घर जा, इन बच्चों को देख, इनका इंतजाम करना होगा तुझे। मिट्टी की फिक्र मत कर। शाम के वक्त आऊंगा, तब देखूंगा क्या-क्या करना है तेरे लिए।''[12] इस प्रकार यह दोनों पात्र विशुद्ध रूप से मानवतावाद का पोषण करते हैं। इन दोनों का सम्पूर्ण जीवन परोपकार और संघर्ष करते हुए बीतता है।

'प्रश्न और मरीचिका' नामक उपन्यास में जनार्दन सिंह और मुहम्मद शफी दोनों मानवतावादी चरित्र है। परोपकार, दया, करुणा, प्रेम और लोकमंगल दोनों की चारित्रिक विशेषताएं है। जनार्दन मिश्र अपने संवेदनशील, परोपकारी और प्रेममय चरित्र के कारण समाज द्वारा उपेक्षित मंजीत कौर को अपनाता है। इन्हीं गुणों के कारण उदयराज उपाध्याय (उपन्यास का अन्य पात्र) कहता है कि ''जनार्दन सिंह जी, यह दुनिया अभी तक इसलिए कायम है कि आप जैसे लोग दुनिया में मौजूद हैं।''[13] इसी उपन्यास में मुहम्मद शफी नामक पात्र केसर बाई को बचाने के लिए अपने प्राणों का त्याग कर देता है। उसका पूरा जीवन दूसरों की भलाई करने के काम आता है। उसका सेवाभाव उसके मानवीय चरित्र का सबसे बड़ा गुण है। यह सेवाभाव और त्याग अन्य व्यक्तियों में भी अन्याय के विरुद्ध बोलने का साहस प्रदान करता है। मानव जीवन की सर्वोत्तम गति लोकमंगल के काम करना है।

'भूले-बिसरे चित्र' उपन्यास का पात्र ज्ञान प्रकाश भी मानवतावादी पात्र है। वह इंग्लैण्ड से उच्च शिक्षा प्राप्त है। वह भारत वापिस आकर देश के स्वाधीनता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। देश की गरीबी, बदहाली, गुलामी, शोषण और अत्याचार देखकर वह क्षुब्ध है। वह अपना पूरा जीवन संघर्ष करने में लगाता है। अपने इन्हीं मानवीय गुणों के कारण ज्वालाप्रसाद, गंगाप्रसाद नवल और विद्या जैसे अन्य व्यक्तियों के प्रति संवेदना और सहानुभूति रखता है। इसी उपन्यास का अन्य पात्र, भीखू विद्या के विवाह पर अपनी समस्त जमापूंजी नवल को दे देता है। उसके व्यक्तित्व में परोपकार, ईमानदारी, त्याग, दानशीलता जैसे मानवीय गुण हैं।

'थके पांव' उपन्यास में केशवचन्द्र मध्यवर्गीय परिवार से सम्बन्ध रखता है। वह सच्चा, ईमानदार, दयालु और परिश्रमी है। केशवचन्द्र पर उसका पूरा परिवार आर्थिक रूप से आश्रित है। परिस्थितिवश वह दस हजार रुपये घूस के तौर पर स्वीकार कर लेता है। इस घटना के बाद पर आंतरिक रूप से व्याकुल और बेचैन रहता है। उसका अन्तर्मन उसे बार-बार धिक्कारता है। वह प्रायश्चित करता है। मानवीय जीवन में भूल, गलती अथवा अपराध होने पर उसको स्वीकार करना बहुत बड़ी बात है। यह उसके उदात्त चरित्र को दर्शाता है और मानवतावाद का पोषण करता है।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नामक उपन्यास के पात्र रामनाथ तिवारी के माध्यम से स्पष्ट किया गया है कि अहम्मन्यता व्यक्ति को पतन की ओर अग्रसर करती है। वह अपने तीन पुत्रों को खोकर अंत में दीन-हीन अवस्था में पहुँच जाते हैं। 'यह याद रखना अहम्मन्यता अहं और दूसरों के पार्थक्य से होती है, अहम्मन्यता सीमित और अविकसित

अहं का गुण है, जिसमें वह बुद्धि और ज्ञान, जो मानवता के लिए वरदान रूप में आये हैं, अभिशाप बन जाया करते हैं। हमारी आज की दुरावस्था का मूल कारण यह सीमित और संकुचित अहं है। इस अंह को असीमत्व प्रदान करना, दूसरों को दूसरा न समझ कर अपना समझना। यही अहम् का विकास है और यही अहम्मन्यता का विनाश है।'[14] इस उपन्यास की रचना का उद्देश्य है अपने अहं को असीम बनाना और अहम्मन्यता का त्याग करना। मनुष्य अपने झूठे अहंकार के लिए अपना सर्वस्व खो बैठता है।

निष्कर्षत: यदि मनुष्य किसी भी कारण से मानवीय नैतिक मूल्यों से दूर हो जाता है तो उसके जीवन में शांति, सुख और समृद्धि नहीं रह पाती। अत: मनुष्य को मनुष्य बनाए रखने के लिए मानवतावादी दर्शन और चिंतन की भूमिका होती है। कहा जा सकता है कि भगवतीचरण वर्मा ने विभिन्न उपन्यासों के पात्रों, घटनाओं और परिस्थितियों के माध्यम से मानवतावादी दर्शन और विचार के तत्वों का पोषण किया है।

हिन्दी विभाग
माता सुंदरी कॉलेज फॉर वूमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1983, पृ. 76
2. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1983 पृ. 76
3. आधुनिक आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1983, पृ. 76
4. डॉ. राधाकृष्ण : स्वतंत्रता तथा संस्कृति, हिन्दी अनुवाद, अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, पृ. 36
5. उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा, डॉ. अर्जुन साहू, ग्रंथायन प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1999, पृ. 36
6. भगवतीचरण वर्मा रचनावली, संपादक, धीरेन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण, 2008, पृ. 367
7. भगवतीचरण वर्मा रचनावली, खण्ड-8, संपादक धीरेन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 383
8. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1961, पृ. 394
9. भगवतीचरण वर्मा रचनावली, खंड-4, सं. धीरेन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 116-117
10. भगवतीचरण वर्मा रचनावली, खंड-2, सं. धीरेन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 238-239
11. भगवतीचरण वर्मा रचनावली, खंड-2, सं. धीरेन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008,पृ. 335
12. भगवतीचरण वर्मा रचनावली, खंड-2, सं. धीरेन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008, पृ.- 185
13. भगवतीचरण वर्मा रचनावली, खंड-3, संपादक धीरेन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 289
14. भगवतीचरण वर्मा रचनावली, खंड-4, सं. धीरेन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008, पृ. 238

शोध-पत्र

लोकगीतों के धरोहर : देवेन्द्र सत्यार्थी

लक्ष्मी

''तुम कहते हो
समय बीत जाता है
पर नहीं
अफसोस, कि बीत जाते हैं हम
समय नहीं।''1

'लोक साहित्य' का सामान्य अर्थ लोक में प्रचलित साहित्य से है जहाँ लोक का अर्थ एक ऐसे सामाजिक वर्ग से है जो शास्त्रीयता अभिजात्य संस्कार, कृत्रिमता से शून्य व मनुष्य के मानस पटल पर संस्मरणात्मक रूप से जीवंत रहती है।

लोक साहित्य की परंपरा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि मनुष्य जाति की, जहाँ लोक संस्कृति लोक साहित्य में परिणत हो लोक साहित्य की विधाओं में तब्दील हो जाती है। जन-संस्कृति का जीवंत चित्रण लोक साहित्य की उपलब्धता को प्रदर्शित करती है। अपनी स्वाभाविकता के फलस्वरूप अभिजात्य, शास्त्रीयता, पांडित्य चेतना की शून्यता लिए हुए जो साहित्य जन साधारण के हृदय से उत्पन्न हो व आमजन की भाषा में अभिव्यक्त होती है वह साहित्य लोक साहित्य कहलाने योग्य है। इसमें जन साधारण के गीत, नृत्य, चित्र, आदि कलाएँ प्रसिद्धि का आधार है जो किसी भी देश की सभ्यता, संस्कृति, धर्म, रीति-रिवाज, कला-साहित्य, लोकगीत एवं सामाजिक आकांक्षाओं का सूक्ष्म अवलोकन कर लोक साहित्य के माध्यम से सुलभ हो जाती है।

लोक मानव-समाज का वह वर्ग है जो अपनी प्राचीन मान्यताओं और परंपराओं को मृतप्राय नहीं होने देती बल्कि वह उन्हें परंपरागत रूप से जीवित रखने के प्रति सदैव आस्थावान है। वह आधुनिक सभ्यता एवं कृत्रिमता से पृथक् होकर अपनी प्राचीन संस्कृति, मान्यताओं एवं परंपराओं को जीवित ही नहीं रखती बल्कि इसे वर्तमान व भविष्य के लिए सुरक्षित भी रखती है।

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार: ''सभ्यता के प्रवाहों से दूर रहने वाली अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है इसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुख की अभिव्यंजना जिस साहित्य से प्राप्त हो इसे लोक साहित्य कहते हैं।''[2]

लोकसाहित्य में लोकगीतों का महत्वपूर्ण स्थान है। लोकगीतों का संबंध लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों से है जो मनुष्य के मानस पटल पर संस्मरणात्मक रूप से जीवित रहती है।

इन्हीं लोकगीतों को संकलित करने का कार्य कई विद्वानों द्वारा किया गया, भारत के जिन विद्वानों ने लोकगीतों को संकलित करने का दुर्लभ कार्य किया इनमें लक्ष्मीनारायण साहु (उड़िया), सूर्यकरण पारीख (राजस्थानी), सवेर चन्द मेधावी (गुजराती), कुमारी दुर्गा भावगत, (मराठी), के. वी. जगन्नाथ (तमिल), गोपाल पिल्ले (मलयालम) आदि महत्वपूर्ण नाम है वहीं हिन्दी परिपाटी के लोकगीतों को संकलित करने की दिशा में सत्येन्द्र (ब्रज), रामनरेश त्रिपाठी (अवधी), रामइकबाल दूबे (छत्तीसगढ़ी), श्यामपरमार (मालवी), आदि विद्वानों के नाम स्मरणीय है किन्तु एक नाम ऐसा भी है जिनसे बेहद कम ही लोग परिचित है जिसने अपने संपूर्ण जीवन की सुख सुविधाओं को त्यागकर

ख़ानाबदोश बन यायावर बनना स्वीकार किया।

देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम अविस्मरणीय है। ऐसे अद्‌भुत, ओजस्वी प्रतिभा के धनी व धरती से जुड़े साहित्यकार का भारत में जन्म लेना एक अविस्मरणीय घटना है। देवेन्द्र सत्यार्थी ऐसे ही मनीषियों में एक थे जिनकी विशेषताओं के कारण वे अन्य संकलनकर्ताओं से अलग रहें व अपने पूरे जीवन काल में लोक मिट्‌टी से जुड़े रहे। एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर लोकगीतों की खोज करना व इनको संकलित करना लोकगीतों के प्रति उनके समर्पण को बखूबी चित्रित करता है। इनकी प्रसिद्धि का आधार किसी पुरस्कार द्वारा नहीं आँका जा सकता। इसीलिए सत्यार्थी जी से व्यावहारिक रूप से जुड़े मनीषियों ने सत्यार्थी के समर्पण को सराहा है। मोहनदास करमचंद गाँधी, मदनमोहन मालवीय या स्वयं रवीन्द्रनाथ टैगोर, यह सभी देवेन्द्र सत्यार्थी से खास प्रभावित थे। इनके पत्रों द्वारा इनकी प्रमाणिकता सत्यापित की जा सकती है।

मोहनदास करमचंद गाँधी का पत्र देवेन्द्र सत्यार्थी के नाम:-

''जो कुछ लिखो, मुझे भेजते रहो

भाई देवेन्द्र, तुम्हारे खत की प्रतीक्षा कर रहा था। ठिकाना मालूम नहीं होने के कारण मैं पहले नहीं लिख सका।

गढ़वालियों के गीत मैं रस से पढ़ गया था। वैसे ही नेपाल के। मैंने इंदौर में तुम्हारा बहुत काम कर लिया, ऐसा मेरा ख्याल है। इस बारे में एक प्रस्ताव भी था....तुम्हारे नाम की तो दरकार नहीं; काम की है। और वह काम जहाँ तक सम्मेलन का संबंध था, हो गया, अभी भी जो कुछ हो सकेगा वह मैं कर दूँगा। किसी समय यहाँ आ जाओगे तो आनंद आ जाएगा। तुम्हारे काम को ज्यादा समझ लूँगा।

मगनवाड़ी, वर्धा

29.06.35

आपका

मो. क. गांधी''[3]

''लोकगीतों की खोज, अनुवाद और फिर उन्हें लिपिबद्ध करके सुरक्षित करते जाने के क्रम में सत्यार्थी जी ने अपने घर-संसार को बिसराकर कश्मीर से कन्याकुमारी तक और पूरब से पश्चिम तक पूरे हिंदुस्तान की खाक छानी। देश की धरती और इस पर बसने वाले लोगों के जितने रंग उन्होंने देखे हैं, उतने और किसी ने नहीं। वह इन अनजान, सुनसान, उजाड़ रास्तों पर चले, जहाँ प्राय: कोई नहीं आता था। देवेन्द्र सत्यार्थी की लोकगीत-खोज यात्रा का परिचय दे रहे हैं।''[4]

स्मरण करे तो भवानी प्रसाद मिश्र की वह पंक्ति जहाँ वे कहते हैं:-

'मैं गीत बेचता हूँ' वही देवेन्द्र सत्यार्थी कहते थे-'मैं गीत खोजता हूँ'

इस वाक्य से देवेन्द्र सत्यार्थी का लोकगीतों को एकत्रित करने का जुनून स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में लगभग पचास से अधिक बोलियों व भाषाओं के तीन लाख के लगभग लोकगीतों के मोती चुनकर एक कीमती माला का रूप देने वाले देवेन्द्र सत्यार्थी ही है जिसका मूल्य आँकना नामुमकिन। आज जब मैं देवेन्द्र सत्यार्थी पर लिख रही हूँ तो सोचती हूँ कि अपना संपूर्ण जीवन इन्होंने बिना किसी लाभ के लोकगीतों के लिए समर्पण कर दिया। आज बाबा नागार्जुन, राहुल सांकृत्यायन से सभी परिचित है किंतु लोकसाहित्य में लोकगीतों की खोज में अपना संपूर्ण जीवन यूँ ही गुजार देने वाले देवेन्द्र सत्यार्थी से कम लोग ही परिचित होंगे। लेकिन इससे इनका मूल्य कम नहीं हो जाता वे आज भी अमूल्य रत्न के समान हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार:-''देवेन्द्र सत्यार्थी का कार्य भी हिन्दी संसार में उचित सम्मान के योग्य है। एक दिन ऐसा आएगा जब उनका लगाया हुआ यह पौधा पुष्प के तौर फलित होकर हमारे साहित्य में नये मंगल का विधान करेगा। वे हमारे लिए जनपद-जन की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने में सहायक हुए हैं। यह उनका सदा के लिए हम सब पर ऋण है।''[5]

सत्यार्थी जी अपनी यात्राओं के दौरान हजारों ऐसे स्त्री-पुरुषों, बच्चों, बूढ़ों, किसानों, शिल्पकारों, चर्मकार, सिपाही, माली, मजदूर, कुम्हार, विवाहित और न जाने कितने लोगों से मिले। जिनसे वे लोकगीत सुन सकते थे। भाषा-बोली, खान-पान, पहनावा, रीति-रिवाज, धर्म, जाति, निम्नवर्ग, उच्चवर्ग आदि से विपरीत होते हुए भी उन्होंने अपने लोकगीतों में सभी को स्थान दिया। उनके लोकगीतों में विरह की पीड़ा, मुस्कान की झंकार, मिलन का आनंद, अकाल व बाढ़ की त्रासदी, साहूकारों व जमीदारों का

शोषण, अंग्रेजों का शासन, लाठियों और गोलियों की आवाजें, क्रांतिकारियों व स्वतंत्रता सेनानियों का बलिदान, गुलामी की फांस, कश्मीर की वादियाँ व कहीं कन्याकुमारी की कथाएँ थी।

देवेन्द्र सत्यार्थी के लोकगीतों मे विविधता के दर्शन होते हैं। भाषा की भिन्नता देवेन्द्र सत्यार्थी के कार्य में बहुत बड़ी बाधा कभी नहीं बनी। बल्कि वे साहित्य के इतिहास में अप्राप्य लोकगीतों के स्वर्णिम पृष्ठ के रूप में जुड़ते चले गए।

लोकगीत संग्रह करने का दुर्लभ कार्य सत्यार्थी जी ने जिस तरह किया किसी अन्य व्यक्ति के लिए यह कार्य करना असंभव था। इन्होंने पूरे हिंन्दुस्तान की मिट्टी अपने हाथों से स्पर्श कर लोकगीतों को एकत्रित करने की साध लिए वह पूरी जिंदगी ख़ानाबदोश बने रहे व अपनी मेहनत के एक-एक बूंद को लोकजीवन के महासमुद्र में विलीन करके लोकमय हो जाने की कामना लिए वह एक स्थान से दूसरे स्थान तक विचरण करते रहे। ऐसा कहा जाता है कि 'लोकसाहित्य की धड़कन लोकगीतों में बसती है' और उन्होंने इसी धड़कन को अपने धड़कनों में समाहित कर लोकगीतों को अपने जीवन के माध्यम से पुनः धड़कने का व जीवित रहने का अवसर दिया।

असंख्य लोकगीत मौखिक परंपरा के रूप में हजारों लाखों लोगों के दिलों में व मानसपटल पर संस्मरणात्मक रूप से सदियों से जीवित है उन्हें खोज कर सूत्रबद्ध करना निसंदेह आसान कार्य नहीं था। देवेन्द्र सत्यार्थी लोकसाहित्य में लोकगीतों को पुनः जीवित करने वाले महान व्यक्ति रहें जिन्होंने अपना पूरा जीवन लोक के लिए समर्पित कर, अभीप्साविहिन बन लोकगीतों के मधुर रस में डूबे रहं।

सत्यार्थी जी हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी और गुरूमुखी लिपि के ज्ञाता थे। उन्होंने पचास से अधिक भाषाओं व बोलियों के आंचलिक रस में डूबे लोकगीतों को सुनकर समझना और फिर उन्हें सत्यनिष्ठ अनुवाद कर, लिपिबद्ध कर एक अभूतपूर्व कार्य किया। इस क्रम में इनकी पुस्तकें बेला फूले आधी रात, बाजत आवे ढोल, धीरे बहो गंगा और धरती गाती है आदि हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी की विशेषता यह है कि उन्होंने किसी एक स्थान के लोकगीत को संकलित नहीं किया बल्कि पूरे हिंदुस्तान के लोकगीतों को संकलित करने के कार्य में लगे रहे। उन्होंने अपने इन यात्राओं में भारत की जनता व उनकी संस्कृति को बेहद नजदीक से देखा इसीलिए वे लोकगीतों को पूरे सन्दर्भ के साथ प्रस्तुत करने में सक्षम हो सके।

लोकगीत मात्र इतना ही नहीं बल्कि समग्र जीवन की वेदना, व्यथा, आनन्द, उल्लास, प्रेम, विरह, दुर्लभता, शक्ति, संपन्नता, विपन्नता, ऐश्वर्य और जिज्ञासा की गाथा है जिसमें इतिहास, संस्कृति व सभ्यता तीनों रूपायित हुई हैं। किसी देश का सम्पूर्ण लोक साहित्य का संग्रह किया जाए तो अतीन से वर्तमान तक की बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक, सामाजिक व्यवस्था का एक समग्र रूप हमारे सामने साकार हो उठेगा।

वैरियर एलविन के अनुसारः ''लोकगीत अथवा लोक कथा केवल अजायबघर की वस्तु नहीं, नई पीढ़ियों के साथ-साथ नए परिवेश और नए संघर्ष जुड़ते रहते हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए 'देवेन्द्र सत्यार्थी' ने लिखा है-''ऋषि का वरदान हो अथवा शिलालेख का गुणगान परम्परा ही लोकयान का आधार है और इसकी जड़ें हमारी धरती में गहरी चली गई हैं। न धरती बोझ हो सकती है और न लोकयान के प्रेरणा स्त्रोत सूख सकते हैं।''[6]

सत्यार्थी जी का मानना था कि लोकगीत बार-बार युद्ध भूमि में पृथ्वी-पुत्रों को ओजस्वी गुणों से भर देती है। लोक साहित्य सदैव विकासशील रहा है, विपरीत परिस्थिति में भी निरंतर जुबां पर स्थिर बना रहा। आजादी की लड़ाई हो या युद्ध भूमि की घोषणा इन घटनाओं से लोकसाहित्य व लोकगीत विरक्त नहीं हो सके। देश की रक्षा के लिए स्वयं को न्यौछावर कर देने वाले वीर-पुरुषों के लिए 'पगड़ी सम्हार जट्टा' जैसे लोकगीत है तो वहीं स्वाधीनता संग्राम की परम्परा का एक लोकगीत जिसमें देश के क्रांतिकारी भगतसिंह का व्यक्तित्व लोकगीत की विभूति बन गया। लोक कवि दुलीचंद ने भगतसिंह को फाँसी के तख्ते पर चढ़ते हुए दिखाया है:-

''दुष्ट मुए मोरे पल-पल होत अंवार
क्यों डरो डार गले फाँसी
सूधा सूरा स्वर्ग को जाऊ
धरम राय को बिथा सुनाऊ
और हर से मांग भगतसिंह को लाऊं
भारत को हजार

क्यों डरो डार गले फाँसी''[7]

भगतसिंह के साथ-साथ दूसरे क्रांतिकारी भी लोकगीतकारों के विषय रहे हैं जो स्मरण में जीवित रहे। सत्यार्थी जी ने लिखा है कि एक बार वे गांधी जी से 1936 दिसंबर में फैजपुर कांग्रेस में मिले थे एक पंजाबी लोकगीत इन्हें बेहद पसंद आया।

'रब्ब मोया, देवता भज्ज गए-

राज फिरंगिया दा।'

अर्थ-भगवान की मृत्यु हो गई है व देवता भाग गए। अब यहाँ फिरंगियों का राज है।

'महात्मा गाँधी' इन पंक्तियों से अत्यंत प्रभावित हुए व यहाँ तक कह उठे कि 'मेरे और जवाहरलाल के सारे भाषण एक पलड़े में और अकेला यह लोकगीत इन सभी पर भारी है' क्योंकि इसमें जनता बोल उठी है वे लोकगीत को संस्कृति का पहरेदार कहते थे विद्वानों ने लोकसाहित्य को भिन्न-भिन्न रूपों में अध्ययन किया है पर जिस साहित्य का आधुनिक दृष्टि से कोई व्याकरण नहीं, शास्त्र नहीं वे मात्र स्मरण में जीवित रहने की असीमित अपार शक्ति के साथ आज तक जीवित है।

'धीरे बहो गंगा' में संकलित एक लोकगीत जिसमें 1856 में मारवाड़ में पड़ने वाले भीषण अकाल का मार्मिक चित्रण है जिसमें लोग मुट्ठी भर दाने को तरस गए थे। इस अभाव के समय किसी मेहमान का आना भी लोगों का हृदय विर्दीण कर जाता था। भूख की बड़ी ही दर्दनाक बयानगी की गूँज इस मारवाड़ी लोकगीत में समा गई है।

''छपनियां काल रे छपनिया काल,

फेर मत आइयो म्हारी मारवाड़ में।

आइयो जमाइड़ो छड़कियाँ जीव,

काँ ते लाऊँ शक्कर, भात धीव, जमाइड़ो?

फेर मत आइयों म्हारी मारवाड़ में।''[8]

'बाजत आवे ढोल' में संकलित विवाह का गीत जिसमें एक सुहागिन की कामना, बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना के रूप में अभिव्यक्त होती है:-

''आजु सोहाग कै रात, चंदा तुम उइहौ,

चंदा तुम उइहौ, सुरूज मति उइहौ।

मोर हिरदा बिरस जनि किहेऊ, मुरूग मति बोलेउ।

मोर छतिया बिहरि जनि जाई, तु पह जिनि फाटेऊ।

आज करहु बड़ी राति, चंदा तुम उइहौ।

बाजत आवे ढोल''[9]

''लोकगीत लोकमानस का दर्पण है इनमें हमारे देहाती समाज के अधिसंख्य दीन-हीन किन्तु सुसंस्कृत जनों के सुख-दुख के ताने-बाने बुने गए हैं। सुख के क्षण कम हैं, दुख का घटाटोप अधिक गहरा है लेकिन फिर भी क्षणिक सुख के उल्लास का रंग अधिक चटख है, वह पीड़ा के क्षणों की उदासी को अधिक गहरा नहीं होने देता।''[10]

'धीरे बहो गंगा' में संकलित एक लोकगीत जिसमें प्रियतम पार उतर सके, इसके लिए प्रिया की गंगा से प्रार्थना का अद्‌भुत चित्रण किया गया है।

''धीरे बहो गंगा तै धीरे बहो

मोर पिया उतरई दे पार।''[11]

एक अन्य लोकगीत जो भूख और गरीबी का मार्मिक चित्रण करती है।

''हे भोला बाबा केहन कयलौं दीन

खेती पथारी भोला से हो लेला छीन

भाई सहोदर से हो भे गेल भीन

घर में खरची बाहर न मिले रीन

गाँव के मालिक न पड़े दइय नींन''[12]

जिसमें भूख के खातिर व भोजन के अभाव में ईश्वर से अपनी शिकायत करती है कि ऐसी सूरत देखकर, ऐसी अवस्था देखकर भी हृदय में पीड़ा महसूस नहीं होती जिसकी खेती-पथारी न रही। कोई कर्ज़ देने वाला भाई बंधु भी नहीं रहा, उसकी हालत क्या होगी?

देवेन्द्र सत्यार्थी कहते हैं कि:-''प्रांत प्रांत में लोकगीतों की आपसदारी हिंदुस्तानी संस्कृति की एकता का एक जबर्दस्त प्रमाण है। अनेक क्षुद्रताओं के बीचों-बीच हमारे लोकजीवन का रचनात्मक सौंदर्य हजारों वर्षों से इन गीतों में नाना रंग भरता रहा है, भाषाएँ बदलती रही हैं। भाषा का चोला बदलकर भी लोकगीत ने अपनी पुरातन पुकार कायम रखी है।''[13]

निष्कर्षत: देवेन्द्र सत्यार्थी केवल लोक साहित्य के अधिकारी विद्वान और अध्येता ही नहीं थे बल्कि लोक की चेतना उनके हृदय में हर क्षण विद्‌मान रहती, लोकगीतों के पारखी महापुरुष, व्यक्तित्व के धनी देवेन्द्र सत्यार्थी देश की संस्कृति व सभ्यता से जुड़कर सदैव लोकगीतों को जीवंत रखने की प्रबल इच्छा लिए रहते। सत्यार्थी जी का जीवन सदैव लोकगीतों के लिए समर्पित रहा। लोकगीतों के

संग्रहकर्ता के रूप में इनका महत्त्व युगों-युगों तक स्मरणीय है जिन्हें देश के सभी प्रान्तों के गीतों को संकलित करने की महारथ हासिल थी। लोकसाहित्य के क्षेत्र में जब-जब लोकगीतों का स्मरण किया जाएगा तब-तब लोकगीत के क्षेत्र में महापुरुष देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम लिया जाएगा।

पीएच.डी. हिंदी शोधार्थी
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
jnulaxmi2007@gmail.com

संदर्भ सूची

1. सत्यार्थी देवेन्द्र, बाजत आवे ढोल, प्रवीण प्रकाशन, संस्करण 2005, पृ.सं. 16
2. उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन, प्राइवेट लिमिटेड प्रकाशन, संस्करण 1957, पृ.सं. 25
3. सेतिया सुभाष (संपा.), आजकल (पत्रिका), अंक मार्च 1999, देवेन्द्र सत्यार्थी विशेषांक, पृ.सं. 22
4. वही, पृ.सं. 21
5. सत्यार्थी देवेन्द्र, धीरे बहो गंगा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1948, पृ. सं. 11
6. सिंहल डॉ. ओमप्रकाश, यायावर देवेन्द्र सत्यार्थी, वी. के. पब्लिशिंग हाउस, संस्करण 1991, पृ.सं. 121
7. सत्यार्थी देवेन्द्र-धीरे बहो गंगा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1948, पृ.सं. 129
8. वही, पृ.सं. 129
9. सत्यार्थी देवेन्द्र, बाजत आवे ढोल, प्रणीण प्रकाशन, संस्करण 2005, पृ.सं. 48
10. सेतिया सुभाष (संपा.), आजकल (पत्रिका), अंक मार्च 1999, देवेन्द्र सत्यार्थी विशेषांक, पृ.सं. 25
11. सत्यार्थी देवेन्द्र-धीरे बहो गंगा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1948, पृ.सं. 11
12. वही, पृ.सं. 12
13. सेतिया सुभाष (संपा.), आजकल (पत्रिका), अंक मार्च 1999, देवेन्द्र सत्यार्थी विशेषांक, पृ.सं. 25

शोध-पत्र

डॉ. कमलेश रानी

मानवाधिकार का संदर्भ और भारतीय परिप्रेक्ष्य में इनके अनुपालन की चुनौतियाँ

सार-संक्षेप:

मानव निर्विवाद रूप से सृष्टि का सर्वाधिक बुद्धिमान और विवेकपूर्ण सहभागी है। इसी उत्कृष्टता के कारण प्रत्येक मनुष्य को कुछ मूल तथा अहरणीय अधिकार प्राप्त हैं जिन्हें मानवाधिकार के नाम से जाना जाता है। ये अधिकार बिना किसी मूल, वंश, धर्म, जाति, लिंग, क्षेत्र अथवा राष्ट्रीयता के भेदभाव सभी मनुष्यों को प्राप्त होते हैं। जिससे सभी मनुष्य समानता, स्वतंत्रता और गरिमा के साथ अपने जीवन का सर्वाधिक शारीरिक, नैतिक, सामाजिक और भौतिक विकास सुनिश्चित कर सकें। किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से मनुष्यों के द्वारा मनुष्यों के इन मूलभूत अधिकारों के हनन की परंपरा रही है। आज इस दुष्परम्परा का हनन और निराकरण समय की माँग है।

भारत और विश्व में मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए कानूनी और वैधानिक प्रावधान उपलब्ध हैं। समाज को इन विषयों में जागरूक करने के लिए विद्यालय और विश्वविद्यालय स्तर पर मानवाधिकार के संदर्भों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है। व्यक्तिगत, सार्वजनिक, गैरसरकारी और सरकारी स्तर पर मानवाधिकारों का संरक्षण सुनिश्चित करने के उपाय किए जा रहे हैं। विगत दशकों में भारत में मानवाधिकार की स्थिति में सुधार देखा जा रहा है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग इस दिशा में नेतृत्वकारी भूमिका निभा रहा है। संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार घोषणा पत्र के अनुपालन में भारत को अग्रणी स्थान प्राप्त है।

बीजशब्द: मानवाधिकार, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार घोषणापत्र।

विषय-प्रवेश:

मानवाधिकार सामान्य रूप से सभी मनुष्यों के ऐसे अधिकार हैं जो व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए अनिवार्य हैं। ये अधिकार अपनी प्रकृति से नैतिक सिद्धान्त हैं जिनके माध्यम से मानव व्यवहार से सम्बन्धित कुछ निश्चित मानक स्थापित किए जा सकते हैं। इन मानवाधिकारों को प्रत्येक देश की स्थानीय सरकारों और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर निश्चित कानूनों द्वारा संरक्षण प्राप्त होता है। मानवाधिकार ऐसे 'आधारभूत अधिकार' हैं जिन्हें प्राकृतिक, नैतिक और कानूनी रूप से 'न छीने जाने योग्य' माना जाता है। इस दृष्टि से ये किसी व्यक्ति के जन्मजात अधिकार हैं। इस अधिकारों का किसी व्यक्ति की आयु, प्रजातीय मूल, निवास-स्थान, भाषा, धर्म, आदि का कोई प्रभाव नहीं होता। ये अधिकार सभी मानवों के लिए समान हैं और सदा तथा सर्वत्र प्राप्त रहते हैं।

मानवाधिकार प्रत्येक मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार हैं, जो उन्हें मानव के रूप में जन्म लेने मात्र से उपलब्ध होते हैं। इन अधिकारों की जानकारी और सुरक्षा के बिना मनुष्य अपने ही नैसर्गिक सामर्थ्य को उपलब्ध नहीं कर सकता। इन अधिकारों के आधार पर ही व्यक्ति को शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, भोजन और समानता जैसे अन्य अधिकार उपलब्ध होते हैं। यदि मनुष्यों के बीच धर्म, जाति, संप्रदाय, क्षेत्र, लिंग, इत्यादि किसी भी आधार पर ऐसा भेदभाव किया जाता है कि उसके सहज जीवन में व्यवधान हो, व्यक्ति ही नहीं अपितु सरकारों और मानवाधिकार

संस्थाओं को भी सक्रिय हो जाना चाहिए। समानता, सम्मान और अधिकार के बिना व्यक्ति स्वयं का विकास नहीं कर सकता जिसका परिणाम समाज और राष्ट्र के लिए भी नकारात्मक होता है। इन तथ्यों के प्रकाश में मानवाधिकारों की महत्ता को सहज ही समझा जा सकता है।

सुप्रसिद्ध विचारक हेराल्ड लास्की के अनुसार अधिकार एक ऐसी व्यवस्था है जिसके बिना सामान्यत: कोई मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। हम सभी जानते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में उसके व्यक्तित्व का विकास तभी हो सकता है जब उसे समूह के अन्य सदस्यों के समान अधिकार प्राप्त हों। किंतु इसे विडंबना ही कहा जाना चाहिए कि अन्यान्य कारणों से पृथ्वी पर मनुष्य के पदार्पण के बाद से ही मानव समुदाय के सदस्यों के बीच एक या अन्य कारण से भेदभाव किया जाता रहा है। इसके परिणाम स्वरूप समाज के कुछ वर्ग अन्य की अपेक्षा अधिक समृद्ध और शक्तिशाली हो जाते हैं, जबकि शेष निर्धनता, विपन्नता, शोषण और निरीहता का जीवन व्यतीत करने के लिए अभिशप्त रहते हैं। यह स्थिति मानवाधिकारों के दृष्टिकोण से सोचनीय है। इन स्थितियों के कारणों का निराकरण ही मानवाधिकारों का लक्ष्य है।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार :

अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य पर मानव-अधिकारों के संदर्भ की उत्पत्ति द्वितीय विश्वयुद्ध के समांतर जागृत हुई। इस युद्ध में बड़ी संख्या में ऐसे लोग हताहत हुए जिनका कोई राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं था। सिर्फ कुछ राजनीतिज्ञों की सत्ता पिपाशा को शांत करने के लिए लाखों लोगों के जीवन को अस्थिर किया जाना विश्व मानवतावादियों के लिए असह्य था। इस विचार के साथ संसार के कोने-कोने से लोगों ने संवाद आरंभ किया और अपनी आवाज को संयुक्त राष्ट्र संघ तक पहुंचाया। बिना किसी नेटवर्किंग के इन लोगों ने अपनी आवाज को वह ऊंचाई दी कि दार्शनिकों, मानवतावादियों और धार्मिक नेताओं के साथ राजनीतिज्ञों के हृदय में भी स्पंदन आरंभ हुआ और संयुक्त राष्ट्र संघ के स्तर पर मानवाधिकारों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

इस पृष्ठभूमि में 24 अक्टूबर, 1945 को स्थापित अंतर्राष्ट्रीय संगठन 'संयुक्त राष्ट्र संघ' ने भी मानवाधिकार के सन्दर्भ को स्वीकार किया। यह एक अंतर्राष्ट्रीय और बहुउद्देश्यीय संगठन है। दुनिया भर में मौजूद अधिकांश देश इसके सदस्य हैं। संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने 10 दिसंबर 1948 को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक अवधारणा को स्वीकार किया। संयुक्त राष्ट्र संघ का मानना है कि मानव के कुछ ऐसे अधिकार हैं जो मनुष्यता की गरिमा हैं, और जिन्हें कभी नहीं छीना जा सकता। मानवाधिकार सभी पुरुषों और महिलाओं को समान अधिकार हैं। संयुक्त राष्ट्र द्वारा की गई इस घोषणा के परिणामस्वरूप मानवाधिकारों को पूरी दुनिया में सम्मान, प्रतिष्ठा और स्वीकृति प्राप्त हुई और स्थानीय, राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर पर इन्हें अपनाया जाने लगा। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता के कारण इस सन्दर्भ को आज सर्वत्र स्वीकार किया जाता है।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा विहित इस घोषणा के बाद अनेक देशों ने अपने कानूनों और संविधानों में इन अधिकारों को पहचानने और लागू करने के लिए नियम तथा उपनियम बनाए और लागू किए। इस ऐतिहासिक घटनाक्रम के बाद संयुक्त राष्ट्र सभा ने सभी सदस्य देशों से अपील की कि वे इस घोषणा का प्रचार करें और बढ़ावा दें। इन्हें जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए स्कूलों और अन्य शैक्षणिक संस्थानों में विषय के रूप में शामिल किया जाए। संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार घोषणा का आधिकारिक पाठ विश्व की पाँच प्रमुख भाषाओं में उपलब्ध है जिनमें अंग्रेजी, चीनी, फ्रेंच, रूसी और स्पेनिश शामिल हैं।

भारत में मानवाधिकार :

भारतीय संदर्भ में मानवाधिकारों की संस्कृति वैदिक काल से ही अस्तित्व में है। वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य में अनेक ऐसे मंत्र और टिप्पणियाँ हैं जिनमें संसार के सभी प्राणियों के सुख, आरोग्य, कल्याण और सफलता की कामना की गई है। व्यक्ति के विकास को उसकी क्षमताओं से जोड़ने के लिए ही भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की गई। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 के अंतर्गत देश में इनके संरक्षण और संवर्धन का प्रावधान किया गया है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग भारत में लोक-सेवकों द्वारा मानवाधिकारों के अनुपालन और उल्लंघन के निवारण हेतु संसद के अधिनियम द्वारा प्राधिकृत है। यह आयोग भारतीय के साथ अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए सतत प्रयत्नशील है। इसके द्वारा संवैधानिक और अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार संरक्षण उपकरणों का अध्ययन

करके प्रभावी कार्यान्वयन का प्रयास किया जाता है।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (एन.एच.आर.सी.) भारतीय नागरिकों में जागरूकता उत्पन्न करने और मानवाधिकार साक्षरता के समस्त हितधारकों के प्रयासों को न केवल राष्ट्रीय बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी प्रोत्साहित करने के लिए प्रयासरत है। आयोग के अध्यक्ष देश के पूर्व मुख्य न्यायाधीश हैं और उनके नेतृत्व में एन.एच.आर.सी. संसार के सर्वमान्य और जिम्मेदार संस्थानों में से एक के रूप में स्थापित है। यही कारण है कि इस संस्था को अखिल विश्व में मानवाधिकारों के प्रचार और संरक्षण की दृष्टि से सम्मानित स्थान प्राप्त है। आयोग के दायित्वों में संविधान द्वारा उपपादित जीवन, स्वतंत्रता, समानता और सम्मान से संबंधित अधिकारों के प्रचार, प्रसार और अनुपालन भी समाहित हैं।

मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ाने के लिए आयोग संसार के अन्य देशों के निकायों के साथ समन्वय स्थापित करने में सक्रिय भूमिका निभाता है। इसके द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के उप-निकायों, संवैधानिक संस्थाओं, नागरिक संगठनों, समाज के सदस्यों, वकीलों और राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं के सम्मेलनों और विचार-गोष्ठियों का आयोजन भी किए जाते हैं। ज्ञातव्य है कि भारतीय राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने ग्लोबल अलायंस ऑफ नेशनल ह्यूमन राइट्स इंस्टीट्यूशन्स के अंतर्गत विगत पाँच वर्षों की अवधि में लगातार चार बार अपनी को चरम उत्कृष्टता के स्तर पर कायम रखा है। यह सम्मान उन राष्ट्रीय मानवाधिकार संस्थानों को दिया जाता है, जो पंचवार्षिक समीक्षा में संयुक्त राष्ट्र अधिदेशित पेरिस सिद्धांतों का यथार्थतः अनुपालन करते हुए पाए जाते हैं।

मानवाधिकारों के अनुपालन की चुनौतियाँ :

भारतीय समाज विश्व के अन्य समुदायों की अपेक्षा धार्मिक और जातीय आधारों पर अधिक विभाजित है। इसका आरंभ वैदिक वर्ण-व्यवस्था में देखा जाता है, जहाँ बौद्धिक श्रम करने वालों को समाज में उच्चतम स्थान दिया जाता था। देश में व्यवस्था बनाए रखने और सीमाओं की सुरक्षा के जिम्मेदार लोग दूसरी श्रेणी में स्थापित थे। तीसरे वर्ग में व्यापारी, उत्पादक और वाणिज्यकार रखे गए। इन तीन श्रेणियों में समाहित न हो सकने वाले व्यक्तियों को चौथे दर्जे का नागरिक माना गया। कालांतर में यह विभाजन कार्य आधारित न रहकर जन्म आधारित हो गया और इससे अयोग्य, अक्षम और अनधिकृत व्यक्तियों को इस प्रकार के अधिकार और संरक्षण उपलब्ध रहने लगे जिसके वे पात्र नहीं थे। समय के साथ यह व्यवस्था दृढ़तर होती गई और कालांतर में जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गई। आज विशेषज्ञता अथवा आजीविका पर आधारित वर्ण-व्यवस्था लुप्त हो गई है और उसके स्थान पर जाति व्यवस्था सर्वत्र व्याप्त परिलक्षित होती है।

जातिगत आधार पर मनुष्यों के बीच विभाजन से मानव द्वारा मानव के शोषण की अनंत श्रृंखला का बीजवपन हुआ। मानवाधिकारों के उल्लंघन की यह परंपरा आज हमारे समाज का नासूर बन चुकी है। अब कोई बुद्धि, शक्ति या चतुराई नहीं देखता। अब परिवार-विशेष में जन्म लेने वाले लोगों को पूर्वाग्रह का सामना करना होता है। जिसके परिणामस्वरूप वर्गसंघर्ष की स्थिति बनी रहती है। भारतीय समाज में इस स्थिति के विषय में समय-समय पर धार्मिक एवं सामाजिक स्तरों पर मंथन होता रहा है। विशेष रूप से स्वतंत्रता आंदोलन के साथ जनजागृति और समाज-सुधार आंदोलन भी उपजे और इनके माध्यम से समाज में व्याप्त असमानता को दूर करने के प्रयास किए गए। ये प्रयास विशुद्ध धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि से उभरे लेकिन इन्होंने देश की राजनीति को भी प्रभावित किया। परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने अनेक कानूनों के माध्यम से मानवीय गरिमा और न्याय सुनिश्चित करने के लिए अनेक प्रावधान किए।

मानवाधिकारों के अनुपालन का संदर्भ मूलतः जटिल न होते हुए भी सामाजिक स्थितियों के कारण सरकारों और संस्थाओं के लिए चुनौती बना हुआ है। वास्तविकता यह है कि जन्म के साथ ही मनुष्य को जिस समानता, स्वच्छता, शिक्षा, मूलभूत सुविधाओं से परिपूरित व्यवहार प्राप्त होना चाहिए, वह अनेक पारंपरिक कारणों से समाज के कुछ वर्गों को उपलब्ध नहीं होता। भेदभाव की जड़ें इतनी गहरी हैं कि शिक्षा, विज्ञान, कानून और तकनीक का विकास भी सदियों से स्थापित कुरीतियों और कुप्रथाओं को हिलाने में अक्षम रहे हैं। यह सत्य है कि शिक्षा मनुष्य के जीवन का सर्वाधिक परिवर्तनकारी उपकरण है, विद्यालय और शिक्षक इस परिवर्तन की धुरी हैं। मानवाधिकार आयोग, स्वयंसेवी संस्थाओं और प्रशासन को इसी स्तर पर प्रभावकारी उपाय करने चाहिएँ, जिससे व्यक्ति और व्यक्ति के बीच पारम्परिक विरोध की बेड़ियाँ शिथिल की जा सकें।

निष्कर्ष :

विगत शताब्दी के चौथे दशक में मानवाधिकारों का सन्दर्भ सार्वजनिक स्तर पर रूप धारण करने लगा। संयुक्त राष्ट्र की घोषणा के उपरांत विभिन्न देशों के सरकारों ने तत्सम्बन्धी कानून बनाए। भारत में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग सब प्रकार के भेदभाव, असमानता तथा उत्पीड़न से संबंधित मुद्दों से निपटने के लिए निःशुल्क सेवा उपलब्ध कराता है। अगर कोई व्यक्ति अनुभव करता है कि उसके साथ किसी भी आधार पर भेदभाव-पूर्ण व्यवहार किया गया है, तो आप इस विषय में मानवाधिकार आयोग से शिकायत की जा सकती है। आयोग अपने स्तर पर परामर्श, मध्यस्थता और सूचना के माध्यम से सहायता उपलब्ध करा सकता है।

आयोग के कार्यक्षेत्र में सभी प्रकार के विभेद सम्मिलित हैं जिनमें सरकारी या सरकारी-क्षेत्र की गतिविधियाँ, रोजगार, व्यावसायिक साझेदारी, शिक्षा, सार्वजनिक स्थानों, यातायात के साधन व सुविधाएँ, मालगुजारी, भूमि व आवास सेवाएँ, औद्योगिक व व्यावसायिक संगठन, योग्यता निर्धारित करने वाली संस्थाएँ और व्यावसायिक प्रशिक्षण देने वाली संस्थाएँ आदि शामिल हैं। अधिकाँश शिकायतों का समाधान अनौपचारिक मध्यस्थता या वैधानिक उपायों से किया जाता है। यदि मध्यस्थता के माध्यम के समस्या का समाधान न हो सके तो कानूनी कार्यवाही का विकल्प भी अपनाया जा सकता है।

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग,
अदिति महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

- कुमार रणधीर, मानवाधिकार, एक परिचय, संकल्प पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
- खंडेला मानचंद, (2008), मानवाधिकार एवं सामाजिक न्याय, पॉइंटर पब्लिशर्स, दरियागंज, दिल्ली।
- गुप्ता सतीश, (2016), भारतीय संविधान एवं मानवाधिकार, इशिका पब्लिकेशन हाउस, हैदराबाद, तेलंगाना।
- इंद्रमणि, संपादक (2016), मानवाधिकार का वर्तमान वैश्विक परिदृश्य एवं सर्वोदय दर्शन, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली।
- भसीन अनीश, (2011), जानिए मानव अधिकारों को, ग्रन्थ अकादमी, नई दिल्ली।
- मानव अधिकार सरंक्षण अधिनियम, 1993, विधि एवं न्याय मंत्रालय, भारत सरकार।
- मानव अधिकार संरक्षण (संशोधन) विधेयक, 2019, विधि एवं न्याय मंत्रालय, भारत सरकार।
- मिश्रा सुभाष (2020), मानवाधिकार का मानवीय चेहरा, प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।
- सिंह तेजपाल, (2020), राजनीति और मानवाधिकार के प्रश्न वैचारिकी, बुक रिवर्स, चंडीगढ़।

शोध-पत्र

उस्ताद अमीर खां साहब का संगीत में योगदान

डॉ. सुनीति दत्ता

उस्ताद शाहमीर खाँ द्वारा दी गई संगीत शिक्षा के पश्चात् उन्हीं की आज्ञा से उस्ताद अमीर खाँ ने विविध प्रकार के संगीत कार्यक्रमों में अपनी कला का प्रदर्शन प्रारंभ किया। इन कार्यक्रमों की सफलता के साथ ही धीरे-धीरे उनकी लोकप्रियता बढ़ी। यह सिलसिला उनके जीवन के अंत तक जारी रहा। वह सदैव एक गायक कलाकार के रूप में ही पहचाने गये। आकाशवाणी और दूरदर्शन केन्द्रों पर तथा अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों में इन्होंने कार्यक्रम दिये। विदेशों में भी कार्यक्रम दिये। पर्याप्त सम्माल मिला। ख़यातनाम संगीतज्ञों से इनका समागम भी हुआ।

आकाशवाणी तथा दूरदर्शन केन्द्रों पर

ब्रिटिश शासन के दौरान बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में भारत में रेडियो प्रसारण आरंभ हुआ। बीस वर्ष की अल्पायु में उ. अमीर खाँ ने रेडियो कार्यक्रमों में गाना प्रारंभ कर दिया था। यद्यपि उस समय संगीत सभाओं में श्रोताओं के समक्ष गाने का उन्हें पर्याप्त अनुभव नहीं था। तीसरे दशक के अंत तक भारतीय उपमहाद्वीप में आकाशवाणी के 7-8 केन्द्र स्थापित हो चुके थे। द्वितीय अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में अमीर खाँ का पहला कार्यक्रम हुआ। यह एक बहुत बड़ा आयोजन होता है। इसमें चुने हुए उच्चकोटि के कलाकारों को आमंत्रित किया जाता है। यह कार्यक्रम 1956 में पटना में हुआ।

उन्होंने एक बार पंजाब में हरिवल्लभ संगीत सम्मेलन में दो कार्यक्रम प्रस्तुत किये थे। उनके प्रिय शिय पं. तेजपाल सिंह भी उनके साथ उपस्थित थे। सम्मेलन के बाद वह जालन्धर में दस-ग्यारह दिन श्री शंकर लाल मिश्रा जी के घर ठहरे थे और वहाँ भी एक संगीत महफिल का आयोजन हुआ था। यह घटना लगभग 1962-63 ई. की है।

बम्बई में हुये स्वामी हरिदास संगीत सम्मेलन में खाँ साहब ने अपना गायन प्रस्तुत किया। यह कार्यक्रम 6 जनवरी से 17 जनवरी तक हुआ खाँ साहब का गायन 11 तारीख बुधवार को हुआ। इनकी सूक्ष्म स्वर लहरियों तथा स्वर माधुर्य ने श्रोताओं को मन्त्र मुग्ध कर दिया। यह भारत की सबसे बड़ी संस्था मानी जाती है। इस प्रकार हर वर्ष अमीर खाँ साहब का इस सम्मेलन में गायन होता रहा। उन्होंने हर छोटी-बड़ी कान्फ्रेन्स में अपना गायन प्रस्तुत किया लेकिन फिर भी वह शान्त गम्भीर रहे और अपनी साधना में लीन रहे।

भारत सरकार ने नई दिल्ली में सन् 1964 में ईस्ट-वेस्ट कान्फ्रेन्स का आयोजन किया, जिसमें सारे विश्व के देशों का प्रतिनिधि कलाकारों ने भाग लिया। भारत के प्रतिनिधित्व के लिए शास्त्रीय गायन के लिए उस्ताद अमीर खाँ को चुना गया। आपने अनेक बार विदेशों का भ्रमण करके भारतीय शास्त्रीय संगीत की सेवा की। आपने विदेश में काबुल, अमेरिका, लन्दन इत्यादि कई देशों में भी गायन प्रस्तुत किया। अपने साक्षात्कार में पं. तेजपाल सिंह ने इस सम्मेलन के बारे में बताया कि यह कार्यक्रम एक प्रात:कालीन सभा में हुआ जिसमें खाँ साहब ने कोमल ऋषभ आसावरी और गुर्जरी तोड़ी पेश की।1

कुछ सम्मेलनों के बारे में नीचे दे रही हूँ–आकाशवाणी द्वारा उस्ताद अमीर खाँ का एक अखिल भारतीय कार्यक्रम 1964 में ध्वन्यांकित एवं प्रसारित किया जिसमें तबले पर संगत उस्ताद इस्माईल खाँ ने की।

12वाँ रेडियो संगीत सम्मेलन वर्ष 1966 में आयोजित

किया गया था। इसमें उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ, प्रसिद्ध तबला वादक थिरकवा और उस्ताद अमीर खाँ जैसे दिग्गज कलाकारों ने दिल्ली में अपनी कला का प्रदर्शन किया। यह सम्मेलन 29 अक्तूबर से 6 नवम्बर 1966 तक चला।

एक और महतवपूर्ण कार्यक्रम उस्ताद अमीर खाँ का दिल्ली में आयोजित किया गया था। खाँ साहब ने सिर्फ एक राग शुद्ध कल्याण गाया, क्योंकि इन्हें सिर्फ एक घंटा समय मिला था। राग का स्थायी खाँ साहब की अपनी रचना थी और उसके प्रारंभ के बोल थे–''करम करो कृपाल दयाल'' यह चीज़ खाँ साहब अक्सर गाया करते थे। यह विलम्बित ख्याल भी झूमरा ताल से निबद्ध था।

1967 में हुये 13वें रेडियो संगीत सम्मेलन में उस्ताद अमीर खाँ ने भाग लिया। यह सम्मेलन 8 नवम्बर से 12 नवम्बर 1967 तक आयोजित किया गया था। इस सम्मेलन में उस्ताद अमीर खाँ के अतिरिक्त अन्य वरिष्ठ कलाकार थे–उस्ताद रहीमुद्दीन खाँ डागुर, उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ, उस्ताद अहमद जान थिरकवा, उस्ताद मुश्ताक अली खाँ और उस्ताद शकूर खाँ, सुश्री माणिक वर्मा, श्री कुमार गंधर्व और उ. अब्दुल हलीम जाफर खाँ। खाँ साहब को रेडियो संगीत सम्मेलन में, आकाशवाणी के संगीत सम्मेलन में बार-बार, कार्यक्रम सुनने को मिलता था। उसके अतिरिक्त दिल्ली में दो तीन कान्फ्रेंस कलकत्ता और बम्बई में हुआ करती थी। इनके अतिरिक्त, हर छोटी-बड़ी जगह में खाँ साहब ने संगीत सम्मेलनों में भाग लिया है और उनकी ख्याति हर स्थान पर पहुँच चुकी थी तथा संगीत प्रेमी उनको बड़े सम्मान और आदरपूर्वक मन से चाहने लगे थे।

सन् 1967 में संगीत नाटक अकादमी द्वारा उन्हें अकादमी एवार्ड देकर सम्मानित किया गया था।

I present to you, Sir Shri Amir Khan,

Shri Amir Khan, one of the foremost Khayal singers of today, was born in Indore in 1912. He belongs to a distinguished family of musicians and was rained in vocal music by his father, Shri Shamir Khan.

As a vocalist he has developed a unique style of the Indore gharana. Writh superb voice production, his alap in the slow tempo has distinct flavour of its own. The faster phrases tans and the solfa singing sargam that he incorporates in his khayals have a baffling complexity. He renders taranas with a characteristics purity.

He was elected Fellow of the Bihar Sangeet Natak Akademi. He has visited Kabul on concert tour.

For his eminence in the field of Hindustani music, Shri Amir Khan receives the Sangeet Natak Akademi Award.

सन् 1968 में पाँच महीने के लिए आपको न्यूयार्क के निकट ''न्यू पाल्ज स्कूल आफ म्यूजिक'' में विजिटिंग प्रोफेसर नियुक्त किया।

सन् 1971 में भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण के अलंकरण से सुशोभित किया था। साथ ही उन्हें राष्ट्रीय संगीतज्ञ की मान्यता भी दी गई थी। पद्म भूषण उपाधि मिलने के उपलक्ष्य में बम्बई संगीत एवं नृत्य समीक्षक क्लब तथा संगीत कला सन्देश इन्दौर की ओर से भी आप का अभिनन्दन किया गया।

भारत देश के चिरपरिचित व महान जगत में ख़्याल गायकी को एक नई दिशा प्रदान की। उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए उस्ताद अलाउद्दीन खाँ संगीत अकादमी द्वारा प्रतिवर्ष इन्दौर में उस्ताद अमीर खाँ समारोह आयोजन किया जाता है जो प्रायः जनवरी फरवरी के महीनों में आयोजित रहता है। उस समारोह का भी संगीत जगत में अपना स्वतन्त्र स्थान है। प्रस्थापित कलाकारों के अतिरिक्त प्रतिवर्ष प्रतिभा सम्पन्न, वरिष्ठ, साथ ही साथ नव प्रस्थापित कलाकारों को भी मंच प्रदर्शन के अवसर प्रदान किये जाते हैं।

भारत सरकार के फिल्म डिवीजन ने अमीर खाँ पर उनके जीवन एवं कार्य सम्बन्धी एक वृत्तचित्र का निर्माण किया है। यह वृत्तचित्र 5 मार्च, सन् 1971 में सारे देश में दिखाया गया। इसी वर्ष 'सुर सिंगार' संसद ने अमीर खाँ को 'स्वर विलास' की उपाधि से भी अलंकृत किया।

राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मान, पुरस्कार और उपाधियों के रूप में उन्हें नाम और ख्याति स्वाभाविक रूप में मिली किन्तु वह पक्के सूफी ही बने रहे।[2]

भारतीय संगीत जगत में अमीर खाँ साहब की कीर्ति सूर्य के समान देदीप्यमान रहेगी। रात्रि को संगीत का 'अमीर' सभी संगीत रसिकों को दीनता के संसार में छोड़कर इस पार्थिक जगत से सदा के लिए विदा हो गया।

13 फरवरी 1974 को वह कलकत्ता में न्यू अलीपुर से किसी प्रीतिभोज से लौट रहे थे कि सर्दन एवेन्यू में लैसडाउन रोड के चौराहे पर सामने आती हुई मोटर कार ने आपकी कार को उस जोर से टक्कर मारी कि दरवाजा

खुल गया और आप बाहर उछल कर बिजली के एक खम्भे से टकराये। आपको फौरव रामकृष्ण सेवा प्रतिष्ठान ले जाया गया जहाँ एक घंटे बाद आपका देहान्त हो गया।

आकाशवाणी संग्रहालय में अमीर खाँ के गायन के टेप उपलब्ध हैं, जिनका समय-समय पर प्रसारण भी किया जाता है। इन स्मृति में पुण्यतिथि के अवसर पर प्रतिवर्ष आयोजित संगीत समारोह भी किये जाते हैं।

उनका आकस्मिक देहावसान उन सभी के लिए हमेशा दुखद रहेगा जो शुद्ध और सम्पूर्ण संगीत की फिक्र करते हैं। उनके अवसान से जो रिक्त स्थान हुआ है उसकी पूर्ति कर पाना कठिन है। उस्ताद ऐसे परिनिष्ठ शैलीकार (क्लैसिस्टि) थे जो अंतिम समय तक सम्पूर्ण समर्पण की भावना से अपनी कला को निभाते रहे।[3]

1971 के रेडियो संगीत सम्मेलन में भी उ. अमीर खाँ सम्मिलित रहे। उनके अतिरिक्त अन्य कलाकार थे–उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ, उस्ताद निसार हुसैन खाँ, जया विश्वास, पद्मावती गोखले, गोपालकृष्ण, एमानी शंकर शास्त्री, व्ही. जी. जोग, अली अहमद हुसैन, बेगम अख्तर, उमा शंकर मिश्र, पं. सियाराम तिवारी, एम.आर. गौतम और पं. एल. के. पंडित। इस सम्मेलन का आकाशवाणी द्वारा 9 अक्टूबर से 17 अक्टूबर तक प्रसारण किया गया। इस सम्मेलन में 'उस्पाद अमीर खाँ' ने राग दरबारी में ख्याल और तराना प्रस्तुत किया। दरबारी कान्हड़ा उस्ताद का प्रिय राग है दरबारी तराना व यारे ''मन बया बया गाया जो इनकी अपनी रचना है।

आकाशवाणी के राष्ट्रीय संग्रहालय में रेडियो के लिए दिए गए उस्ताद अमीर खाँ के गायन कार्यक्रम का ध्वनयांकन संग्रहित है। उनके निधन के पश्चात भी आकाशवाणी संगीत के अखिल भारतीय कार्यक्रमों के अन्तर्गत समय-समय पर उस्ताद अमीर खाँ के गायन कार्यक्रम पुनः प्रसारित होते रहते हैं। आकाशवाणी दिल्ली द्वारा संगीत का अखिल भारतीय कार्यक्रम प्रति शनिवार रात 9.30 से 11.00 बजे तक प्रसारित किया जाता है तथा देश के सभी केन्द्र उसे रिले करते हैं। खाँ साहब के देहावसान के पश्चात् ऐसा पहला कार्यक्रम 29 जून, 1974 को प्रसारित किया गया। आकाशवाणी संग्रहालय से उस्ताद अमीर खाँ के कुछ ध्वन्यांकित रागों को चुनकर आचार्य बृहस्पति ने यह कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

पार्श्व संगीत में योगदान

उस्ताद अमीर खाँ साहब ने अपनी मधुर सुरीली और गहरी गूँजदार आवाज़ के कारण पार्श्व संगीत में भी अपना कला का सौरभ फैलाया। शास्त्रीय संगीत को जनसाधारण में प्रचारित करना उनका एक मुख्य ध्येय रहा है। इसके लिए उन्होंने अपने गायन स्तर को नीचा न गिरा कर शास्त्रीय पक्ष को पूर्ण निभाते हुये उसका फिल्मों में गायन किया और जन साधारण में उसे लोकप्रिय बनाया। उन्होंने अनेक फिल्मों में अपना पार्श्व गायन दिया। उन्होंने अपनी मधुर आवाज में कई फिल्मों में गाया। जो भी गाने उन्होंने गाये, बिल्कुल ख्याल गायकी के आधार पर, वह भी विशुद्ध शास्त्रीय रीति के अनुसार इससे हम अमीर खाँ साहब सा. ने अनेक फिल्मों में पार्श्व संगीत देकर जन साधारण को भी अपने संगीत का रसास्वादन कराया और शास्त्रीय संगीत की सेवा की फिल्मी गायकी में उन्होंने सरलता का सामंजस्य किया। उनके अनुसार गायक का उत्तरदायित्व होता है कि राग की शुद्धता को कायम रखे।

फिल्म संगीत के क्षेत्र में उस्ताद अमीर खाँ का योगदान

शास्त्रीय संगीत के गायकों में सर्वप्रथम ये ही ऐसे गायक थे, जिन्होंने हिन्दी फिल्मों में ख़्याल गायकी को उसके शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया।

अपनी आवाज में गाम्भार्य, सफाई तानों की तैयारी के कारण खाँ साहब में पार्श्व गायन में पहली बार विशुद्ध शास्त्रीय संगीत पेश किया। तीन साढ़े तीन मिनट के छोटे-छोटे रिकार्ड उनकी आवाज के जादू ने शास्त्रीय संगीत के श्रोताओं को एवं साधारण फिल्म दर्शकों के मन को जीत लिया।

आपकी साधना से प्रभावित होकर फिल्म निर्देशकों ने आपका लाभ उठाया तथा फिल्मों में आपके शास्त्रीय गायन का उपयोग किया गया।[4]

स्वभाव और प्रशिक्षण से परिनिष्ठित शैलीकार (क्लैसिसिस्ट) अमीर खाँ ने फिल्म संगीत के व्यापक जन प्रभाव को स्वीकार किया था। बैजू बावरा, झनक-झनक पायल बाजे और गूँज उठी शहनाई जैसी फिल्मों के लिए उन्होंने नयी रूझान पैदान करने वाले जो शास्त्रीय गीत दिये थे। उसे सिनेमा के माध्यम से पारम्परिक संगीत को लोकप्रिय बनाने की हार्दिक इच्छा का पता चलता था। हिन्दुस्तानी कण्ठ संगीत के विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में अमेरिका और यूनाईटेड किंगडम जैसे देशों की यात्रा से बहुतेरे विदेशी उनके भक्त हो गये और इसके साथ ही उन्हें विदेशी श्रोतावर्ग से स्पृहणीय प्रशंसा प्राप्त हुई।[5]

फिल्मी क्षेत्र में भी अमीर खाँ ने अपनी कला का

सौरभ फैलाया और जन साधारण ने उनके शास्त्रीय संगीत में उतनी ही रुचि ली, जितनी कि अन्य हल्के गीतों में।[6]

1. बंगला फिल्म - ''क्षुधित पाषाण''

इस फिल्म का निर्माण ईस्टन सरकिट प्रा. लि. ने सन् 1942 में किया था। इसमें संगीत निर्देशन प्रसिद्ध सरोदवादक उस्ताद अली अकबर खाँ ने दिया तथा गीतकार है पं. भूषण। गायन के अन्तर्गत उस्ताद अमीर खाँ से भी तीन रचनाएँ गवाई गई। इनमें राग बागेश्री की बंदिश है जिसमें बंगाल की सुगम संगीत एवं ठुमरी की प्रसिद्ध गायिका प्रतिमा बोस ने भी खाँ साहब के गायन में साथ दिया है।

शुद्धता पाषण बंगाली चलचित्र में अपना पार्श्व संगीत दिया जो कि बहुत पसंद किया गया। बागेश्री राग में हल्की-फुल्की ठुमरी के अंदाज में गाया।

फीचर फिल्मों में प्रस्तुत उस्ताद अमीर खाँ के गायन में कुछ बंदिशें ऐसी हैं जो वे पहले भी गाया करते थे तथा उनसे प्रभावित होकर ही संगीत निर्देशकों न उन बंदिशों को अपनी फिल्मों में स्थान दिया-उदाहरणार्थ-मराठी फिल्म **''येरे माझया मागल्या''** में राग ललित की बंदिश बंगला फिल्म, **''क्षुधित पाषाण''** में राग मेघ का तराना, फिल्म **''गूंज उठी शहनाई''** में रागमाला के अन्तर्गत प्रयुक्त विभिन्न बंदिशों के मुखड़े तथा स्थाईयाँ, धार्मिक फिल्म **''राधा पिय प्यारी''** में राग दरबारी की बंदिश आदि गायी।

फिल्म बैजू बावरा

''प्रकाश पिक्चर्स'' द्वारा निर्मित यह फिल्म सन् 1952 में सर्वप्रथम प्रदर्शित की गई। इस फिल्म की कथा मध्यकालीन गायक बैजू बावरा के जीवन पर आधारित है। अत: पूरी फिल्म संगीतमय है। इसके संगीत निर्देशक हैं, **श्री नौशाद अली।**

अपनी मधुर और सुरीली आवाज के कारण अमीर खाँ साहब भी उन पार्श्व गीत गायकों की श्रेणी में चुन लिये गए। **''बैजू बावरा''** नामक चलचित्र में पहली बार खाँ साहब ने पाश्व्र संगीत गाया।

बैजू बावरा में (मुख) शीर्षक संगीत ही उस्ताद अमीर खाँ साहब का था, जो कि पूरिया धनाश्री में एकताल में निबद्ध रचना, तोरी जय-जय करतार थी। 'मुख' शीर्षक संगीत समाप्त होने के बाद अकबर के राजदरबार में तानसेन को गाते हुए दिखाया गया है। संगीत निर्देशक नौशाद और प्रोड्यूसर ने उन्हीं को मियां तानसेन की आवाज के लिए उचित महसूस किया और सवा तीन मिनट की प्रस्तुतिकरण में ही फिल्म के अंत में उनके संगीत ने शास्त्रीय गायकों एवं आम जनता का मन जीत लिया। इस चलचित्र में तानसेन और बैजू बावरा के बीच संगीत का मुकाबला होता है। संगीत दिग्दर्शक ने अमीर खाँ साहब से ही अनुरोध किया कि बैजू बावरा के लिए किसी दूसरे कलाकार का चयन वे ही बतायें तो ''बैजू बावरा की आवाज के लिए पार्श्व संगीत गा सके।'' इसके लिए उन्होंने पं. डी.वी. पलुस्कर का नाम सुझाया। फिर उनसे पूछा गया कि क्या पं. डी.वी. पलुस्कर बैजू बावरा का पार्श्व संगीत दे सकेंगे? और उनसे यह भी पूछा गया कि आप की पहचान के दूसरे बड़े-बड़े गायक हैं, पं. डी. वी. पलुस्कर ही आपको क्यों पसन्द हैं? उन्होंने कहा कि मैंने संगीत की बहुत सी बैठकें सुनी हैं। छोटे-बड़े हर प्रकार के गायकों को मैं बड़े ध्यानपूर्वक सुनता था, इसलिए लगभग सारे गायकों के गुण-अवगुण से मैं भली-भांति परिचित हूँ। पार्श्व संगीत का गाना जरा मुश्किल काम है मुझे भरोसा है कि उनका स्पष्ट उच्चारण और उनको छोटे रिर्कोडिंग बनाने का अनुभव है। पलुस्कर जी किसी राग की एक बंदिश को बड़े अच्छे ढंग से गा सकेंगे। इसीलिए मेरी राय में हर तरह से पार्श्व गीत गाने के लिए योग्य साबित होंगे। पलुस्कर बैजू बावरा की आवाज के लिए चुन लिये गये। इनका संगीत भी बहुत पसन्द किया गया।[7]

मराठी फिल्म - ''येरे माझया मागल्या''

सन् 1955 में बनी इस फिल्म में भी संगीत निर्देशन श्री वसंत देसाई ने दिया था। उस्ताद अमीर खाँ राग ललित में जो बंदिश - **''जोगिया मेरे घर''** गाया करते थे तथा जिसे बाद में एल.पी. के लिए भी उन्होंने गाया उसे प्रारम्भ में इस फिल्म में लिया जा चुका था। यह बंदिश त्रिताल में निबद्ध है।

यही ललित राग जोगिया मेरे घर आये रागिनी फिल्म में शीर्षक संगीत के रूप में प्रयुक्त किया गया।

फिल्म - ''गूँज उठी शहनाई''

प्रकाश पिक्चर्स की यह फिल्म सन् 1959 में बनी थी। इसमें भी संगीत निर्देशन श्री वसंत देसाई ने दिया। इस फिल्म का नायक एक शहनाई वादक है। उसका गुरू गाकर उसे शिक्षा देता है। इस गायन के लिए उस्ताद अमीर खाँ की आवाज पार्श्व गायन के रूप में ली गई तथा शहनाई वादन उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ द्वारा गया है।

फिल्म - ''झनक-झनक पायल बाजे''

राजकमल कला मंदिर प्रा. लि. द्वारा निर्मित तथा श्री

वही. शांताराम द्वारा निर्देशित यह फिल्म सन् 1955 में बनी। यह फिल्म मुख्य रूप से संगीत एवं नृत्य पर केन्द्रित है। इस फिल्म में संगीत-निर्देशन वंसत देसाई ने दिया। शास्त्रीय संगीत की कुछ महान हस्तियों ने इसमें योगदान दिया है जैसे शीर्षक गीत उस्ताद अमीर खाँ की आवाज में है, तबला वादन पं. सामता प्रसाद का है, सारंगी वादन पं. गोपाल मिश्र का है तथा प्रमुख नृत्यकार की भूमिका पं. गोपीकृष्ण ने अदा की है। उस्ताद अमीर खाँ द्वारा गाया गया गीत **''झनक-झनक पायल बाजे''** राग अडाना में द्रुत ख़्याल की शैली में निबद्ध है।

''बैजू बावरा'' और ''झनक-झनक पायल बाजे'' चलचित्रों में पार्श्व संगीत गाने से वे साधारण श्रोता के भी प्रिय हो गये।

फिल्म शबाब

इस फिल्म का निर्माण सादिक प्रोडक्शन प्रा. लि. ने सन् 1954 में किया। इसके निर्देशक एम. सादिक, संगीत निर्देशक नौशाद अली और गीतकार है शकील बदायुंनी। ''बैजू बावरा'' की सफलता के बाद श्री नौशाद ने ''शबाब'' में भी अमीर खाँ साहब को गाने के लिए लिया। राग मुल्तानी में निबद्ध भक्ति रस की एक बंदिश-''दया करो हे गिरिधर गोपाल'' खाँ साहब ने गाई है जो त्रिताल में है।

हिन्दी धार्मिक फिल्में

दो धार्मिक हिन्दी फिल्मों में भी खाँ साहब का पार्श्व गायन लिया गया है। ये फिल्में हैं-''जय श्री कृष्ण'' एवं ''राधा प्रिय प्यारी''। ये दोनों फिल्में श्री मुकुंद गोस्वामी द्वारा बनाई गई थी। इन दोनों फिल्मों में खाँ साहब ने वल्लभ सम्प्रदाय की दो बंदिशें गाई हैं।

1. ''जय श्री कृष्ण'' - राग दरबारी - ''मेरी पलकन सो मग झारूँ'' - ताल त्रिताल।

2. ''राधा प्रिय प्यारी'' - राग दरबारी - ''ऐ मोरी आली'' ताल झपताल।

संगीत सभाओं तथा आकाशवाणी में अमीर खाँ ख़्याल तथा तराना ही गाते थे। खाँ साहब न तो ठुमरी गाते और न ही किसी दूसरे प्रकार के हल्के गीत गाना पसंद करते थे। उन्होंने अपनी कला प्रवीणता का प्रदर्शन सिर्फ प्रदर्शन करने के लिए कभी नहीं किया, बल्कि अपने राग की मूल भावना पर अपने को केन्द्रित रखा यदि उनके गायन का भंडार सीमित था, वो वह चुना हुआ भी था। जिसमें ऐसे राग सम्मिलित थे जो गहन और गंभीर प्रकृति वाले और उनकी आवाज के अनुरूप थे। लोकरंजन की लोगों के आगे उन्होंने कभी भी अपने को समर्पित नहीं किया और हल्की चीजों को गाने से सदैव इंकार किया। उनके गायन की विशेषता ध्रुपद का भव्य अभिजात और ख़्याल का अलंकृत चमकीलापन था। उनका कहना था कि शास्त्रीय संगीत कोई मनोरंजन का साधन नहीं है। उसके लिए सुगम शास्त्रीय संगीत है। ख़्याल में गुंजाइश तो है पर वह नाजुक भी है, जिसके लिए शुद्ध मुद्रा व शुद्ध वाणी की जरूरत है। इस भाव की अभिव्यक्ति इसी रूप में होनी चाहिए

वर्ष 1967 का संगीत नाटक अकादमी एवार्ड उस्ताद अमीर खाँ साहब को डाक्टर जाकिर हुसैन द्वारा दिया गया है तथा इस उपलक्ष्य में साईटेशन पुस्तक भी उपलब्ध है। संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित अमीर खाँ साहब की संगीत सम्मेलन की रिर्काडिंग तथा ऑडियो टेप आदि के नम्बर भी उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त आकाशवाणी के संग्रहालय में अमीर खाँ साहब की बहुत रागों में रिकार्डिंग सुरक्षित है, जो कि समय-समय पर आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित होती रहती है। आकाशवाणी संगीत जगत की बहुत सेवा कर रही है। उस्ताद अमीर खाँ के अनेक विशेष नेशनल प्रोग्राम भी प्रस्तुत किये जा चुके हैं। संगीत नाटक अकादमी पुस्तकालय, नई दिल्ली एवं अन्य स्थानों से प्राप्त उस्ताद अमीर खाँ द्वारा रिकार्ड किये हुए ऑडियो टेल, एल.पी. रिकार्ड एवं सी.डी. आदि की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

संदर्भ सूची

1. साक्षात्कार पं. तेजपाल (सिंह बन्धु) के शब्दानुसार।
2. श्री माल प्यारेलाल, मध्यवर्ती मध्य प्रदेश के संगीतज्ञ, मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल, 1973, पृ. 38।
3. श्री नादकर्णी मोहन, मध्यवर्ती मध्यप्रदेश के पन्दह संगीतकार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 39
4. श्री माल प्यारेलाल, मध्य प्रदेश के संगीतज्ञ, मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल, 1973, पृ. 20
5. श्री नादकर्णी मोहन, मध्यवर्ती मध्यप्रदेश के पन्दह संगीतकार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 38
6. श्री गर्ग लक्ष्मी नारायण, हमारे संगीत रत्न, संगीत कार्यालय हाथरस, 1978, पृ. 102
7. साक्षात्कार पं. तेजपाल (सिंह बन्धु) के शब्दानुसार।

शोध-पत्र

निराला की लम्बी कविताओं से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

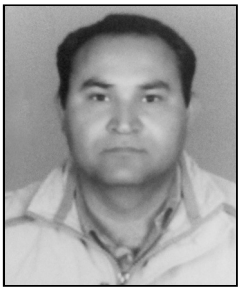

डॉ. अनिल कुमार

राष्ट्रवाद एक आधुनिक 'पद' है। विश्व में आधुनिक राष्ट्र-राज्य की अवधारणा फ्रांस की क्रांति (1789) के बाद तेजी से विकसित हुई। लेकिन मुख्य बात यह है कि राष्ट्रों का अस्तित्व प्राचीन काल से रहा है। एक जैसा अतीत गौरव, वर्तमान की एक समान इच्छा तथा एक साथ महान कार्य के निष्पादन व उसे बेहतर करने की इच्छा, ये सभी घटक 'जन' बनने की आवश्यक शर्त है और ऐसे 'जन' की आत्मा राष्ट्र है। जब हम विश्व के इतिहास पर एक सरसरी नज़र डालते हैं, तो बहुत कुछ यह राजवंशों व उनके साम्राज्य का इतिहास मिलता है। प्राचीन समय में हम आज की तरह स्वतंत्र सम्प्रभु राजनैतिक इकाई के रूप में राष्ट्र नहीं पाते हैं। पहले राष्ट्र सांस्कृतिक अस्तित्व के रूप में नहीं रहा, लेकिन पिछले पाँच सौ सालों के दौरान इसका अस्तित्व स्वीकार किया जाने लगा है। जहाँ तक भारतवर्ष की बात है-हिमालय से लेकर हिंद महासागर तक भारत सर्वदा से ही एक भूमि है। बाहर से आए हुए लोगों ने फिर चाहे वे उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रांत के जरिए आए हों या दक्षिण-पश्चिम से, खैबर पास से आए हों या केरल के जरिए, सभी ने इसे 'इंडिया' कहा, जिसका अर्थ भारत-भूमि है। इस भूमि की चर्चा वेदों, पुराणों और बाद के साहित्य में हुई है। महान आदि शंकराचार्य ने इस धरती के चारों कोनों पर चार मठों की स्थापना की थी। पश्चिम से बहुत पहले ही उन्होंने भारतवर्ष को एकसूत्र में धार्मिक-सांस्कृतिक रूप से बाँध दिया था।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पश्चिम की नई नहीं वरन् प्राचीन भारतीय अवधारणा है। भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का आधार हमारी युगों पुरानी संस्कृति है, जो सदियों से चली आ रही है। इस सांस्कृतिक एकता ने इस देश को एक राष्ट्र के सूत्र में बांध रखा है। भारत की संस्कृति भारत की धरती की उपज है। स्वाधीन भारत में एकात्म मानववाद के संस्थापक महान विचारक दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पर विस्तार से विचार प्रस्तुत किए हैं। उनका मानना था कि भारत में एक ही संस्कृति रह सकती है, एक से अधिक संस्कृतियों का नारा देश के टुकड़े-टुकड़े कर हमारे जीवन का विनाश कर देगा। उन्होंने मुस्लिम लीग के द्वि-संस्कृतिवाद, कांग्रेस के प्रच्छन्न द्वि-संस्कृतिवाद तथा साम्यवादियों के बहु-संस्कृतिवाद का विरोध किया और एक-संस्कृतिवाद को अपनाया। आज इसी भावना और विचार से भारत की एकता तथा अखण्डता की बात की जाती है।

मनुष्य में अनेक जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिसमें देशभक्ति की भावना मुख्य है। भारत वर्ष के इतिहास और साहित्य के माध्यम से पता चलता है कि देशभक्ति की भावना भारतभूमि में पैदा होने वाले लोगों में कूट-कूट कर भरी हुई थी, जब भी मातृभूमि को आवश्यकता हुई भारतीय अपने देश प्रेम का प्रमाण देने से पीछे नहीं हटे और देश की वेदी पर अपने प्राणों का बलिदान किया।

हिन्दी साहित्य में छायावाद राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का काव्य है। ऐतिहासिक-राजनीतिक दृष्टि से इसे गाँधीयुग कहा जाता है। यह युग राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष काल था। छायावाद में भारत के सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय नव जागरण के विविध पक्षों-विवेकानन्द और रामतीर्थ की अद्वैतमूलक भक्ति भावना, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्व बंधुत्ववाद, महात्मा गाँधी के मानवतावाद, राष्ट्रीयता की भावना और

विदेशी शासन के प्रति विद्रोह का समावेश है। वस्तुत: छायावाद की मुख्य भावभूमि मानवीय, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है। इसकी मूल प्रवृत्ति रचनात्मक है, जो भारतीय संस्कृति की जीवंत परम्परा, राष्ट्रीयता की सशक्त आकांक्षा और नवीन मानवतावादी आदर्शों की प्रेरणा से अनुप्राणित है। छायावादी काव्य का राष्ट्रीय चेतना के साथ संबंध सहज ही जुड़ जाता है।

हिन्दी साहित्य में लम्बी कविता की शुरुआत छायावाद से होती है। लम्बी कविताओं का रचना-विधान आधुनिक जटिल संवदेनाओं और यथार्थ की अभिव्यक्ति के दबाव के रूप में उभरकर सामने आया है। आधुनिक समय के जटिल यथार्थ की अभिव्यक्ति परम्परागत काव्य-रूपों में संभव नहीं हो सकती थी, इसलिए आधुनिक कवियों ने इस नए और समर्थ काव्य-रूप को अपनाया। हिन्दी में लम्बी कविताओं के प्रादुर्भाव के विषय में डॉ. नरेन्द्र मोहन लिखते हैं ''छायावादी दौर में लम्बी कविता का जो समारंभ हुआ, उसके लिए भारतेंदुकालीन और द्विवेदीकालीन कविता, विशेष रूप से पद्यात्मक निबंध और कथा-कविताएँ खाद बनती रही हैं। इस दौर में तेजी से बदलती परिस्थितियों के दबाव से उस समय की कविता का पूरा ढाँचा टूट रहा था। उसे तोड़ने वाले खुद छायावादी कवि (प्रसाद, पंत और निराला) थे। इस युग में प्रबंधात्मक-विधान में कविताएँ लिखी जा रही थीं तो लम्बी कविता के नए माध्यम में भी। छायावाद युग के प्रबंधात्मक-विधान का चरम निदर्शन 'कामायनी' (1936) में मिला था, साथ ही तब सुमित्रानंदन पंत की 'परिवर्तन' (1923), जयशंकर प्रसाद की 'प्रलय की छाया' (1933) और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा' (1936) भी लिखी गई थीं। ये कविताएँ उस दौर के बाहरी रचना-संघर्ष को रूपायित करती हैं।''[1] इस दौर की लम्बी कविताओं के शिल्प या संरचना में आख्यान का एक मौलिक सूत्र अनुस्यूत है। सभी में आख्यान के माध्यम से घटनाओं, परिस्थितियों, देश दशा, संघर्ष को चित्रित किया है।

छायावादी काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति की मुख्यत: तीन भाव-भूमियाँ है-1. भारत के स्वर्णिम अतीत का गौरव-गान। 2. भारत की वर्तमान दयनीय दशा का चित्रांकन। 3. भारत के उज्ज्वल भविष्य का रूपांकन। किसी भी देश का स्वर्णिम अतीत उस देश के निवासियों के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन का स्त्रोत होता है। शताब्दियों से गुलामी की जंजीरों में जकड़े हुए भारतवसियों में व्याप्त हीनता की भावना को दूर कर उनमें आत्मगौरव और आत्म-विश्वास का संचार करने के लिए भारत के स्वर्णिम अतीत का गौरवगान निराला ने किया। उन्होंने मातृभूमि वंदना, राष्ट्र-प्रेम एवं जागरण-संदेश के गीतों और अपनी लम्बी कविताओं-शिवाजी का पत्र, तुलसीदास, पंचवटी प्रसंग, राम की शक्ति पूजा आदि में भारतवर्ष के गौरवशाली अतीत और उसकी सांस्कृतिक सुदृढ़ता को चित्रित किया है। नामवर सिंह ने छायावाद के विषय में लिखा है-''छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।''[2] रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'हिन्दी साहित्य और संवदेना का विकास' में छायावाद को शक्तिकाव्य के रूप से प्रस्तुत किया है। उन्होंने छायावादी रचनाओं में ज्योति और जागरण की चेतना को रेखांकित किया है। उनकी मान्यता है ''अपने व्यक्तिगत प्रणय और राष्ट्र-प्रेम की अनुभूति में और उनके संश्लेष में छायावाद मूलत: शक्ति काव्य है।''[3] नामवर सिंह तथा रामस्वरूप चतुर्वेदी ने आलोच्य काव्यधारा में जागरण पर बहुत अधिक बल दिया है। वास्तव में छायावादी कवियों ने सुप्त समाज को जागृत किया है। उन्होंने ओजस्वी स्वर में जागरण-गीत भी खूब लिखे हैं।

निराला के जागरण गीतों से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना को अधिक बल मिला है। 'जागो फिर एक बार' (1921) में आत्म-गौरव एवं उद्‌बोधन का भाव व्यक्त हुआ है। भारतीयों के शौर्य को स्मरण करते हुए निराला कहते हैं-

''शेरों की माँद में
आया है आज स्यार
जागो फिर एक बार।''[4]

'बादलराग' कविता में स्वतंत्रता केंद्रीय संवदेना के रूप में उभरती है। निराला को भारतीय कृषक एवं शोषितों से यह आशा है कि एक न एक दिन वह भारतवर्ष में क्रांति अवश्य लाएंगे, जिससे देश की तस्वीर पूरी तरह से बदल जाएगी। 1923 में विप्लव के बादल का आह्‌वान करते हुए निराला का चित्रण द्रष्टव्य है-

''जीर्ण-बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर।''[5]

संघर्ष एवं क्रांति के कवि निराला ने आम आदमी के

संघर्ष को अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने जागरण के माध्यम से आम आदमी को संघर्षशील बनाने का भी प्रयास किया है। शक्ति के आह्वान हेतु कवि ने जागरण-गीत लिखे हैं।

निराला की रचनाओं में शक्ति-चेतना निहित है। परतंत्रता ही नहीं रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से भी मुक्त होना निराला की शक्ति-चेतना का मूल केंद्र है। इनके जागरण गीतों तथा लंबी कविताओं में ओजस्विता का स्वर संचार होता है, नई ऊर्जा से राष्ट्रीय आंदोलन मजबूत होता है। निराला ने शक्ति की मौलिक कल्पना की है। शक्ति की मौलिक कल्पना करना इस समय आवश्यक था। यह शक्ति मनुष्य को केवल जगाती नहीं वरन् उसे आगे बढ़ाने में भी सहायक होती है। छायावाद युग में शक्ति मुट्ठी भर लोगों की बंदिनी बनी हुई थी। रामायण काल में रावण, महाभारत काल में कौरव एवं निराला के समाज में अँग्रेजों का भरपूर साथ दिया है शक्ति ने। अन्याय एवं अत्याचार की क्रूर दानव-लीला से प्रताड़ित आम आदमी का संताप व्यक्त होता है-'अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति।'

निराला की राम की शक्तिपूजा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के संदर्भ में विशेष महत्व रखती है। कविता का प्रारंभ राम रावण के अनिर्णित युद्ध के साथ होता है-

''रवि हुआ अस्त: ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर।''[6]

निराला ने राम के माध्यम से दिखाया है कि भारतवर्ष किस तरह से पराजय बोध से ग्रस्त है। राम चिंतित है कि पता नहीं कभी सीता (भारत) की मुक्ति हो भी पाएगी या नहीं? पता नहीं हम रावण (साम्राज्यवादियों) से मुक्ति प्राप्त कर पाएंगे या नहीं? राम पराजय के बोध मात्र से सिहर उठते हैं -

''है अमनिशा; उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल।
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय।''[7]

लेकिन धीरे-धीरे कविता जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, निराला के राम अपने साथियों की ताकत, उनकी प्रतिबद्धता और जीत के लिए, मुक्ति के लिए उनके संकल्प से उत्साहित हो उठते हैं। जाम्वंत उन्हें शक्ति की मौलिक कल्पना (जनता का आह्वान) के लिए प्रेरित करते हैं। यह शक्ति की मौलिक कल्पना ही राम को उनकी जीत के प्रति आश्वस्त कराती है। निराशा रूपी अंधकार, रात्रि बीत जाती है और राम के नेतृत्व में रावणी सेना, असुरी ताकतों, साम्राज्यवादी शक्तियों का संहार अब तय हो जाता है।

'राम की शक्तिपूजा' हिन्दी की प्रमुख लम्बी कविता है। इसका कथानक बंगला की कृतिवासीय रामायण से लिया गया है, लेकिन इसकी अपनी मौलिकता है। यहाँ निराला के राम साधारण मानव के प्रतीक हैं और वे राष्ट्र की मुक्ति के लिए जनता की शक्ति को एकत्रित करने में विश्वास रखते हैं क्योंकि निराला जानते हैं कि मुक्ति के लिए किया गया सामूहिक प्रयास ही सफल हो सकता है। जनता के आह्वान को ही जाम्वंत के माध्यम से निराला ने शक्ति की मौलिक कल्पना कहा है। राम और रावण का युद्ध श्रेष्ठतर और हीनतर मनोवृत्तियों का युद्ध है, जो सनातन और शाश्वत तो है लेकिन अंतहीन नहीं। यह युद्ध व्यक्ति, समाज और परिस्थितियों में हमेशा होता रहता है।

निराला ने 'परिमल' काव्य संग्रह में 'महाराज शिवाजी का पत्र' नामक लम्बी कविता पत्रात्मक शैली में लिखी। यह पत्र महाराज शिवाजी द्वारा मुगलों के सहायक मिर्जा राजा जयसिंह के लिए लिखा गया है। इस कविता के माध्यम से एक तरह से निराला ने आधुनिक जयसिंहों से अनुरोध किया है कि उन्हें देशहित को ध्यान में रखते हुए अपने क्षुद्र स्वार्थ त्याग देने चाहिए। निराला का संस्कृति प्रेम इस कविता के माध्यम से प्रकट हुआ है। यह निराला के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चरम निदर्शन है। इस कविता के माध्यम से निराला उन सभी भारतवासियों को संदेश देना चाहते हैं, जो अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए अपने ही भाईयों का रक्त बहा रहे हैं। इससे देश कमजोर हो रहा है और विदेशियों की ताकत लगातार बढ़ती जा रही है। निराला कहते हैं -

''सोचो जरा क्या
तुम्हें उचित है कभी
लोहा लो अपने ही भाईयों से?
अपने ही खून की अंजलि दो पूर्वजों को
धर्म जाति के ही लिए
दिए हो जिन्होंने प्राण।''[8]

निराला शिवाजी और जयसिंह के माध्यम से भारतीयों को एक होकर विदेशियों से लोहा लेने की बात करते हैं। निराला कहते हैं-

''आओ वीर, स्वागत है
सादर बुलाता हूँ
हैं जो बहादुर समर के
वे मरके भी माता को बचाएंगे
शत्रुओं के खून से
धो सके यदि एक भी तुम माँ का दाग
कितना अनुराग देशवासियों का पाओगे
निर्जर हो जाओगे
अमर कहलाओगे''[9]

निराला बार-बार जयसिंह के माध्यम से हिन्दू धर्म, हिन्दुस्तान की रक्षा के लिए निवेदन करते हैं कि विदेशियों की गुलामी छोड़कर भारत माता के माथे पर गुलामी का कीचड़ लगाने वाले विदेशियों, विधर्मियों को अब हिन्दुस्तान की सरजमीं से उखाड़ फैंकना होगा। निराला शिवाजी और जयसिंह की एकता के माध्यम से हिन्दू-मुसलमानों को एकजुट होकर अँग्रेजों के खिलाफ संघर्ष की प्रेरणा देते हुए कहते हैं-

''एक ओर हिन्दू एक ओर मुसलमान हों
व्यक्ति का खिंचाव आदि जातिगत हो जाए
देखो परिणाम फिर
स्थिर न रहेंगे पैर यवनों के
पस्त हौंसला होगा
ध्वस्त होगा साम्राज्य
* * * *
आयेगी भाल पर
भारत की गयी ज्योति हिन्दुस्तान
मुक्त होगा घोर अपमान से
दासता के पास कट जाएँगे।''[10]

भारत की संस्कृति के ह्रास के चित्र से निराला 'तुलसीदास' कविता का प्रारंभ करते हैं-

''भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे-तमस्तूर्य दिग्मण्डल,
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान,
है उर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल।''[11]

भारत की गौरवशाली आभा का सूर्य डूब चुका है और धीरे-धीरे विदेशियों ने भारत पर अधिकार कर लिया है, निराला का तुलसीदास चिंतित है। लेकिन नवजागरण के प्रभाव स्वरूप भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन तेज होता है। राजा राम मोहन राय, दयानंद, विवेकानंद, भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, तिलक, गाँधी, सुभाष, भगत सिंह आदि सैकड़ों-हजारों माँ भारती के सपूत भारत की आजादी के लिए उठ खड़े हुए हैं। निराला सभी भारतीयों को विदेशियों के खिलाफ एक साथ उठ खड़े होने का आह्वान करते हैं-

''जागो, जागो, आया प्रभात,
बीती वह बीती अंध रात,
झरत भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वांचल,
बांधो, बांधो किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन।''[12]

इस कविता के केन्द्र में देश के सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण का प्रश्न विद्यमान है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं ''चरित नायक के संदर्भ में रचना का तात्कालिक परिवेश मुगलकाल है, पर एक भिन्न अर्थ-स्तर पर कविता आधुनिक भारत में अँग्रेजों की दासता के काल मे प्रक्षिप्त दिखती है, जहाँ तुलसी की भूमिका में जैसे निराला स्वयं अपने को परिकल्पित कर रहे हों। यहाँ कवि दिखाता है कि राजनैतिक पराधीनता तो अपने में कष्टदायक है ही, पर उससे अधिक गहरे तलपर खोखला करने वाली सांस्कृतिक दासता है और इसकी पहचान कहीं मुश्किल होती है।''[13] सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के संदर्भ में 'तुलसीदास' निराला की महत्वपूर्ण कविता है।

'दिल्ली' शीर्षक कविता में निराला स्पष्ट रूप में महाभारत कालीन गौरवशाली अतीत को स्मरण करते हैं, जिसमें भीष्म, भीम, अर्जुन जैसे योद्धा और कर्म, ज्ञान, भक्ति के समन्वयक श्री कृष्ण एक साथ विद्यमान थे। पूरे विश्व ने श्री कृष्ण के श्री मुख से गीता का ज्ञान, उपदेश सुना था। निराला का कहना है कि उस समय भी यह पूरा देश एक सुर में बंधा हुआ था और आज भी। धीरे-धीरे इस समृद्ध देश की कीर्ति पूरे विश्व में फैलती है और लुटेरों, डाकुओं, बर्बर जातियों ने इस पर हमला करना शुरू कर दिया। इन्होंने भारतीय सभ्यता पर, संस्कृति पर लगातार प्रहार कर उसे कमजोर किया। निराला लिखते हैं-

''क्या यह वही देश है
भीमार्जुन आदि का कीर्ति क्षेत्र
चिर कुमार भीष्म की विजय पताका ब्रह्मचर्य दीप्त
उड़ती है आज भी जहाँ के वायुमण्डल में

उज्ज्वल, अधीर और चिर नवीन श्री मुख से कृष्ण के

सुना था जहाँ भारत ने गीता गीत सिंहनाद
मर्मवाणी जीवन संग्राम की
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति योग का?
यह वही देश है।''[14]

समग्रत: कहा जा सकता है कि निराला की लम्बी कविताएँ ही नहीं उनका सम्पूर्ण साहित्य राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना और भारतीयों में अतीत गौरव गान के माध्यम से उत्साह का संचार करने वाला है। भारत वर्ष प्राचीन काल से ही विश्व गुरू रहा है। प्रसाद, पंत आदि छायावादी कवियों की तरह निराला ने भी अपने साहित्य के माध्यम से भारतीय इतिहास के स्वर्णिम अतीत और महान पुरुषों को याद किया है। उन्होंने इनकी कथाओं और चरित्रों के माध्यम से भारतीयों का आह्वान किया है।

जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. बीसवीं शताब्दी : उत्कृष्ट साहित्य-लम्बी कविताएँ (भूमिका)
2. छायावाद, पृ. 17
3. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 110
4. निराला रचनावली खण्ड-1, पृष्ठ 153
5. वही, पृष्ठ 136
6. वही, पृ. 329
7. वही, पृ. 330
8. निराला रचनावली, खण्ड-1, पृष्ठ 162
9. वही, पृष्ठ 162-163
10. निराला रचनावली, खण्ड-1, पृष्ठ 169
11. वही, पृष्ठ 281
12. निराला रचनावली, खण्ड-1, पृष्ठ 305
13. हिन्दी साहित्य और संवदेना का विकास, पृष्ठ 150
14. निराला रचनावली, खण्ड-1, पृष्ठ 99

संदर्भ एवं सहायक ग्रन्थ सूची-

1. छायावाद- नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पंचम संस्करण-1990
2. निराला रचनावली - संपादक नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2, द्वितीय संस्करण-1998
3. बीसवीं शताब्दी : उत्कृष्ट साहित्य - डॉ. नरेन्द्र मोहन, अभिरूचि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1996
4. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास- रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, दशम संस्करण-1998
5. हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी - नन्ददुलारे वाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2002

शोध-पत्र

डॉ. भवानी दास

जो दिया जग ने वही फिर भाव बनकर लौट आया

साहित्य और समाज का बड़ा गहरा संबंध होता है। साहित्य का सृजन व्यक्ति करता है, जो समाज का अंग होता है, व्यक्ति से ही समष्टि बनती है। एक-एक व्यक्ति के मिलने से ही समाज बनता है। व्यक्ति समाज की इकाई है, उसकी धुरी है। इसलिए व्यक्ति-विहीन समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। व्यक्ति के सारे कार्य-व्यापार समाज में ही सम्पन्न होते हैं। रचनाकार भी एक व्यक्ति ही होता है। उसमें ''ईमानदारी के साथ समझदारी''[1] होती है। वह समाज की ऐसी इकाई होता है, जो समाज में रहकर, वहां की बातों को देख-सुनकर, अनुभव करके उसे व्यक्त करने की क्षमता रखता है। कारण, अभिव्यक्ति का कौशल हर व्यक्ति में नहीं होता। इसीलिए उसे 'समाज का सफल चितेरा' कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि–एक रचनाकार जन-सामान्य से अधिक संवेदनशील, जागरुक एवं समाज की सोच, उसके स्वर को मुखरित करने वाला, उसकी सही छवि प्रस्तुत करने की क्षमता रखने वाला होता है। इस परिप्रेक्ष्य में बाबू गुलाब राय का यह कथन कि–**'साहित्यकार समाज का मुख और मस्तिष्क होता है'** बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है।

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। इस परिवर्तनशील संसार में युग और परिस्थितियां बदलती रहती हैं। समयचक्र सबको परिवर्तित करता हुआ, नयों को उभारता हुआ, घूमता रहता है। समाज भी युग साक्षेप होता है। युग परिवर्तित होता है तो समाज भी परिवर्तित होता है। समाज के रहन-सहन, आचार-विचार, मूल्य-व्यवहार, भाव-बोध तथा चित्तवृत्तियां बदलती रहती हैं। तात्कालिक समाज की जैसी चेतना होगी वैसी ही उस युग के साहित्यकार की लेखन की मानसिकता होगी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस बात का समर्थन करते हुए कहा है कि 'साहित्य जन की चित्तवृत्तियों का परिणाम होता है।' और ऐसा ही पंडित बालकृष्ण भट्ट मानते हैं कि ''साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।''[2] तो आचार्य द्विवेदी का मत है कि ''साहित्य जातीय जीवन का प्रतिबिंब''[3] है। सच्चा साहित्यकार समाज के अतीत और भविष्य दोनों पर ही अपनी दृष्टि बनाये रखता है। उसी के आधार पर वह सामाजिक मूल्यों का सही मूल्यांकन करता है। इसीलिए यह कथन बड़ा सटीक है कि 'साहित्यकार अपने युग का सच्चा चितेरा होता है।' वह अपने कर्म के प्रति बहुत ही निष्ठावान होता है। जीवन के मूलभूत तथ्यों को वह युग-सत्य के रूप में समाज के सामने प्रेषित है। ऐसे साहित्यकार की रचना काल विशेष से संबंध रखते हुए भी युग-युग के लिए प्रेरक थाती होती है। समाज जो देता है, उसे वह बिना छिपाये अपनी रचना में अभिव्यक्त करता है। इस संबंध में किसी रचनाकार की इस स्पष्टोक्ति को देखा जा सकता है–

आज तक मैंने न जग से भावनाओं को छिपाया।
जो दिया जग ने वही फिर भाव बनकर लौट आया॥

एक साहित्यकार के पास कल्पना की असीम शक्ति होती है। समाज से प्राप्त अनुभूति को वह कल्पना के रंग में रंगकर अति आकर्षक और विश्वसनीय ढंग से फिर उसी समाज को वापस समर्पित कर देता है जैसा कि बादल करता है। वह समुद्र से वाष्प के रूप में जल ग्रहण करके अजश्र जल-धारा के रूप में बरसा देता है, रचनाकार

भी उसी तरह समाज से वाष्प के रूप में अनुभूति ग्रहण करके रचना के रूप में उसे–शत सहत्र गुना गौरवशाली बनाकर समाज को प्रस्तुत कर देता है। रचनाकार के द्वारा समाज से लिया गया एक बिंदु 'गागर में सागर' को समाये रहता है।

साहित्य और समाज एक-दूसरे के पूरक होते हैं। साहित्य समाज का आईना होता है। अत: जैसा समाज होगा, उसकी झलक उस युग के साहित्य में अवश्य ही होनी चाहिए। इसीलिए साहित्य को पढ़कर किसी युग-विशेष के समाज के बारे में जानकारी सहज ही प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणार्थ–महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन की रचना 'वोलगा से गंगा' ईसा से लगभग 6000 (छह हजार) वर्ष पूर्व के समाज को आज हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है। जैसे कि किस तरह की परिवारहीनता, वेशभूषा, खान-पान, अस्त्र-शस्त्र की प्राचीनता, विवाह, संपत्ति, नीति-व्यवहार आदि सामाजिकता की ओर बढ़ी है। वह सब राहुल जी की रचना से बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाती है। इसलिए साहित्यकार के लिए समाज की भूमिका प्रेरणादायक और जानकारी से भरपूर मानी जाती है।

अति प्राचीनकाल से ही सामाजिक भूमिका का साहित्य निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वेद की प्राचीनता को देश और विदेश के मनीषियों ने स्वीकार किया है। वैदिक वाङ्मय अपनी युगीन सामाजिकता को जाने-अनजाने में प्रस्तुत कर देता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में एक कितव सूक्त है। कितव जुआरी को कहते हैं। ऋषि ने वर्णन किया है कि जुआरी पासों से जुआ खेलता है और अपनी धन-संपत्ति, गाय और पत्नी तक को जुए में हार जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय के समाज में जुआ खेलने की प्रवृत्ति थी। समाज में थी तो वाङ्मय में आयी। ऐसे ही उदाहरण उत्तरोत्तर विकसित और बढ़ते हुए साहित्य के हर चरण में देखे जा सकते हैं। बाल्मीकि रामायण, महाभारत, संस्कृत नाटकों, काव्यों, पुराणों और गद्यकाव्यों में ही नहीं, पालि प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी साहित्य में समाज पूरी स्वाभाविकता और सफलता के साथ झलकता हुआ दिखाई देता है।

साहित्य की सामाजिक भूमिका का विवेचन-विश्लेषण करते हुए हमारा ध्यान अनायास ही इस तथ्य की ओर भी चला जाता है कि मानव की मूल प्रवृत्तियों में 'युयुत्सा' भी एक मुख्य प्रवृत्ति है, जिसका अर्थ होता है ''युद्ध करने की इच्छा।'' इस प्रवृत्ति के कारण अनादि काल से ही युद्ध और संघर्ष होते चले आ रहे हैं। इंद्र का असुरों के साथ संघर्ष की कथा वैदिक वाङ्मय में वर्णित पाया जाता है। रामायण में भी इस तरह के संघर्ष का वर्णन है। महाभारत में विभिन्न जातियों और पारिवारिक संघर्ष के विभिन्न रूपों का वर्णन मिलता है। इस युगीन संघर्ष की कथा को व्यास ने ही उभारा है। समाज के विस्तार में ऋषि, मुनि, संत-महात्माओं का भी अपना स्थान है। रचनाकार की यह दृष्टि रही है कि साधारण ज्ञान के लोगों के लिए वह कथा कहे और तत्त्ववेत्ताओं के लिए तत्त्व-चिंतन का भी अवसर दे। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन साहित्यकारों ने समाज की भूमिका को पहचाना था। हाँ, एक बात यह अवश्य थी कि प्राचीन काल से ही समाज में जहाँ उदात्त वृत्ति के लोग रहे हैं, वहीं कटु आलोचक भी रहे हैं। इसीलिए साहित्यकार को साहित्य की रचना करते समय समाज के उन सभी पक्षों पर दृष्टि रखनी चाहिए।

संध्या भाषा में लिखित उलटवासियां विद्वत जनों (सिद्धों और नाथों) के लिए लिखी गई, क्योंकि सामान्य लोगों के लिए उनको समझना कठिन था। एक बात यहां बलपूर्वक कही जा सकती है कि साहित्य-सृजन करते समय साहित्यकार समाज के चतुर्दिक पक्ष पर दृष्टि रखता है, क्योंकि उसे पता होता है कि समाज के भले-बुरे, विद्वान-मूर्ख राजा-रंक, गृही-संन्यासी, बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सबके सम्मिलित प्रयासों से ही एक समाज का निर्माण होता है और उसी की भूमिका पर साहित्य या उसके विभिन्न रूप निर्मित होते हैं। यह प्रयास देशकाल पर आधारित नहीं होता। साहित्यकार भी समाज-प्रदत्त विभिन्न स्वरों को अपनी रचनाओं में मुखरित करता है और इसे ही समाज का साहित्य में प्रतिबिंबित होना कहा जाता है।

हिंदी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालें तो साहित्य-निर्माण में समाज का अवदान और अधिक स्पष्ट हो जाता। आदिकाल में राजपूत राजाओं के शौर्य-वीर्य की कहानियां काफी सुनी जाती थीं। ऐसा कहा जाता है कि युद्ध में लड़ते-लड़ते शहीद होना उनके लिए बड़े पराक्रम एवं गर्व की बात समझी जाती थी। यही नहीं उनकी स्त्रियों तक वीरांगनां होती थीं। युद्ध में पतियों के शहीद होने में वे अपने जीवन की सार्थकता समझती थीं, जिसकी एक झलक निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है–

भल्ला दुआ जु मारिया बहिण म्हारो कंत।
लज्जे यं तु व्यसि अहि जइ भग्गा घर ऐन्तु।।

आदिकालीन साहित्य की इसी तरह की भावभूमि में पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, खुमान रासो एवं विजयपाल रासो आदि ग्रंथों का निर्माण हुआ जो वीर-भावना से पूर्ण था।

इसी तरह साहित्य का मध्यकाल भक्ति से पूर्ण था। कबीर, दादू, नानक, रैदास और मलूकदास जैसे उच्चकोटि के संतों ने समाज के अनुरूप ही कृतियों का सृजन किया। इन कवियों ने समाज में फैली मिथ्याचार, अंधविश्वास, अत्याचार, जाति-पांति, छुआछूत, बाह्याडंबर आदि की बड़े कड़े स्वर में भर्त्सना की।

अब अगर हम हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के सामाजिक परिवेश का सिंहावलोकन करें तो हमें उसमें एक नूतनता का स्पष्ट आभास होता है। भारतेंदु युग में अंग्रेजों ने भारत में अपनी जड़ें पूरी तरह जमा ली थीं, जो देश हित में नहीं था, जिसे साधारण जनता भी महसूस करने लगी थीं। अंग्रेजों ने यहां की परिस्थितियों में बिलकुल ही उलट-फेर कर दिया था। वे उच्चे-उच्चे पदों पर आसीन हो गये थे। हमारे समाज की अच्छाइयों को नजरअंदाज कर अपने गुणों का व्याख्यान करने लगे थे। अंग्रेजी शिक्षा नीति ने मैकाले की बुद्धि के प्रयासों ने, हमारे यहां के बुद्धिजीवियों को दिशाहीन बनाकर आतंकित कर रखा था। कुछ चाटुकार उनका साथ भी दे रहे थे जिससे देश की स्थिति बिलकुल ही चिंताजनक हो उठी थी, पर इसका असर चिरस्थायी नहीं रहा और फिर कवि, लेखकों, विद्वानों और महापुरुषों के सम्मिलित प्रयासों से वातावरण में नवजागरण की हवा प्रवाहित होती हुई महसूस होने लगी जिसकी स्पष्ट झलक उस समय के साहित्य में देखी जा सकती है।

एक बात और, किसी भी कार्य को करने का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, जैसा कि संस्कृत में भी इस बात को स्वीकारा गया है कि–'प्रयोजनम् अनुद्दिश्य मंदोऽपि न प्रवर्त्तते' अर्थात् बिना प्रयोजन के तो कोई मूर्ख भी किसी कार्य को नहीं करता। एक साहित्यकार के समक्ष बहु प्रयोजनों में से एक कांता सम्मत उपदेश महत्त्व रखता है। क्योंकि साहित्य जन मानस को एक दिशा-दृष्टि देता है, जागरुकता की भावना देता है। उदाहरण के लिए मैथिलिशरण गुप्त की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं–

''केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।''[4]

मैथिलिशरण गुप्त ने भारत-भारती में स्वदेश-प्रेम की भावना का बड़ा ही प्रभावपूर्ण चित्रण किया है। इसी तरह चीन के आक्रमण के समय रामधारी सिंह दिनकर ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' नामक रचना को प्रस्तुत किया। उस समय ऐसी उत्साहवर्धक और जोश भरी रचना की आवश्यकता भी थी। दिनकर ने समाज की स्थिति को, बहुत पहचान कर जो उच्च कोटि का समयोचित उपदेश-उत्साह दिलाने वाली कृति प्रस्तुत की उसका प्रभावपूर्ण मूल्य बार-बार सराहा गया। युद्ध की विभीषका का चित्रण करके उसके दुष्परिणामों की ओर ध्यान दिलाने वाली धर्मवीर भारती की 'अंधायुग' भी इस दृष्टि से कम महत्त्व नहीं रखता।

समय के परिवर्तन के साथ-साथ विश्व-शांति की भावना को महत्त्व दिया जाने लगा। इस परिप्रेक्ष्य में जगह-जगह नेता-राजनेताओं की सभा-संगोष्ठियां होने लगी थीं, जिनमें वे अपनी भावनाओं की सशक्त अभिव्यक्ति करने लगे थे। ऐसे ही सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त', दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' और भवानी प्रसाद मिश्र का 'कालजयी' रचनाएँ युद्ध और संघर्ष न करने के लिए जन-जीवन को प्रेरित कर रहे थे, कारण, साहित्य तो समाज की भूमि का उपज ही होता है। साहित्यकार भी इस भावना के अनुकूल साहित्य-सृजन करके इसमें अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे थे।

साहित्य के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि कई बार रचनाकार समाज को अपनी इच्छित दिशा देना चाहता है। पश्चिम के रूसो, वाल्टेयर जैसे साहित्यकारों ने क्रांतिकारी साहित्य की सर्जना की और समाज को क्रांति की प्रेरणा दी। काल मार्क्स के विचारों ने रूस और चीन के समाज को बदलकर रख दिया। ऐंजिल्स का भी यही उपदेश था। मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती, माखनलाल चतुर्वेदी की कविताएं और सुभद्राकुमारी चौहान की 'झांसी की रानी' इस दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण कविताएं हैं। समय के साथ-साथ साहित्य के माध्यम से अनेक बदलाव देखने को मिले जैसे सलमान रुश्दी की पुस्तक 'सैनेटिक वर्सेज' ने लीक से हटकर अपने विचारों को रखा। साहित्य द्वारा समाज को जागृत करने की यह परंपरा आज से नहीं अपितु प्राचीन काल से चली आ रही है जिसमें साहित्यकार

समाज की विद्रूपताओं को दूर करने के लिए यथासंभव प्रयत्न भी करता है और उस पर कठोर से कठोर व्यंग्य भी करता है। सामाजिक बुराइयों पर तीव्र व्यंग्य करने वाली अज्ञेय की ये पंक्तियां देखने योग्य हैं–

''सांप
तुम सभ्य तो हुए नहीं,
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया।
एक बात पूछूँ (उत्तर दोगे)
तब कैसे सीखा डँसना?
विष कहां पाया?''[5]

समाज से साहित्य को जोड़ने में पत्रकार (पत्र साहित्य) की भूमिका बहुत ही महत्त्व रखती है। ''पत्रकारिता आधुनिक युग की एक विशिष्ट उपलब्धि है।''[6] क्योंकि पत्रकार समाज की वास्तविक चित्र खींचकर रख देता है। जीवन के लगभग हर क्षेत्र में उसकी पहुँच होती है। जीवन-जगत के सुख-दुख, आशा-निराशा, दन्य-दरिद्रता, युद्ध-दंगा, हत्या-बलात्कार आदि का जीता-जागता सटीक चित्र वह बड़े से बड़े जोखिम उठाकर भी टेपरेकार्डर और बी.डी.ओ. के माध्यम से लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। इसका यह अर्थ है कि साहित्य समाज की भूमिका पर खड़ा होता है। अर्थात् जो साहित्य समाज से जितना गहनता से जुड़ा होता है, उतना ही वह उस परिवेश की सही तस्वीर प्रस्तुत करने में सक्षम होता है और वह अधिक वास्तविक बन जाएगा (या बन जाता है)। जो जन जीवन के लिए वास्तविक और विश्वसनीय बन जाता है।

इसी तरह नारी की भूमिका साहित्य और समाज के लिए बड़ी ही महत्त्वपूर्ण रही है। नारी ने पुरुष के साथ जीवन-यापन करते हुए जीवन के अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव देखे-सहें हैं। नारी–गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा आदि ने एक ओर ऋषि-मुनियों के अध्यात्म-चिंतन में सहयोग दिया तो दूसरी ओर पुरुषों के अत्याचार-अनाचार को भी सहा-भोगा है, जैसे–सीता का परित्याग, द्रौपदी के पांच पति, नल द्वारा दंयमती की उपेक्षा आदि नारी के शोषण के अंश हैं। मूल में नारी को आदिशक्ति, भगवती, असुर-संहारक, महिषासुर-मर्दिनी, ब्रह्म की सहायिका, जगत की माता आदि रूपों का उच्च स्थान दिया गया था परंतु उसके बाद की परिस्थितियों ने उन्हें दबाया, उपेक्षित किया। लेकिन आधुनिककाल में पूरे विश्व के समाज में नारी के मूल्य को पहचाना गया और उसे समाज में यथायोग्य सम्मान एवं स्थान दिया गया। हमारे यहां के साहित्यकारों ने नारी के संदर्भ में कितनी सुंदर पंक्तियां लिखी हैं–

पंत–'मुक्त करो नारी को मानव'

जयशंकर प्रसाद–'नारी, तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पदतल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुंदर समतल में।'

इस प्रकार साहित्यकार को साहित्य-सृजन के लिए सामाजिक स्थितियों से अवगत होना ही पड़ता है क्योंकि साहित्य को समाज का दर्पण माना गया है। वैसे तो साहित्यकार समाज का एक बहुत जागरुक और संवेदनशील प्राणी होता है। उसे समाज की मूल्यों और मान्यताओं की परख अधिक होती है। जैसा कि डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल ने भी इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है–''रचनाकार अनेक चित्तनात्मक प्रविधियों को आत्मसात करने के कारण काफी जागरुकता रखता है। यह जागरुकता उसके सृजन में पूरी तरह से उपलब्ध होती है।''[7] साहित्यकार समाज से जो कुछ ग्रहण करता है उसको अपने अनुभव और कल्पना के रंग में रंगकर अति सुंदर ढंग से समाज को वापस करता है जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि–'जो दिया जग ने वही फिर भाव बनकर लौट आया।'

हिन्दी विभाग
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. 'हिंदी का गद्यपर्व' – नामवर सिंह, पृष्ठ 13
2. 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' – हिंदी प्रदीप, जुलाई 1881 ई., पृष्ठ 156
3. महावीर प्रसाद द्विवेदी, भाग-1, पृष्ठ 69
4. समकालीन हिंदी कविता गीत – असेम, पृष्ठ 25
5. 'कला के लिए कला' – हिंदुस्तानी-त्रैमासिक, जुलाई 2006, पृष्ठ 150
6. हिंदी पत्रकारिता और कन्हैयालाल मिश्र – डॉ. विश्वास पाटील, पृष्ठ 166
7. 'नया सृजन का बोध', भूमिका – डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ 5

शोध-पत्र

डॉ. दिनेश के. सैनी

नयी सदी के हिंदी सिनेमा की स्त्री पर पश्चिमी सिनेमा का प्रभाव

चूंकि सिनेमा पश्चिम की देन है इसलिए हिन्दी सिनेमा पर पश्चिम का प्रभाव विगत शताब्दी से ही रहा है। इक्कीसवीं सदी में पश्चिम का यह प्रभाव चौतरफा अंदाज में सिनेमा के हर पक्ष पर हुआ है। पश्चिम के प्रभावों में तकनीक और विषयवस्तु के दृष्टिकोण से कई बिंदुओं पर बात की जा सकती है परन्तु नयी सदी में हिन्दी फिल्मों पर पाश्चात्य सिनेमा का असर वाकई उल्लेख योग्य है। पश्चिमी सिनेमा ने हिन्दी सिनेमा के कई जॅनर्स और कथानक रूढ़ियों को असरदार ढंग से प्रभावित किया है। सिनेमाई पक्षों के साथ-साथ भारतीय हिन्दी सिनेमा की स्त्री भी पश्चिमी सिनेमा के तौर-तरीकों व किरदारों से आकर्षित होकर अपनी भाव भंगिमाओं, अदाओं और जीवन के विविध क्रियाकलापों में पाश्चात्य सिनेमा के कई आयामों को दिग्दर्शित करती रही है।

भारतीय सिनेमा में स्त्री का इतिहास बड़ा संवेदनशील रहा है। सिनेमा में स्त्री संघर्ष के इसी इतिहास को निम्नलिखित पंक्तियाँ मार्मिकता से अभिव्यक्त करती हैं-

''इस निष्ठुर संसार में
उसे अपनी मुस्कान का भरोसा
शुरू से बहुत था
जैसे वही चारों और फैले
चमकीले अपमान को थामे रहेगी।''

हिन्दी सिनेमा की शुरुआत में महिलाओं का प्रवेश ही एक गंभीर अपवाद जैसा था। एक स्त्री के लिए सिनेमा हेय माध्यम माना जाता था। इस दुनिया में काम करने वाली औरत को अच्छी नजर से समाज देख नहीं पाता था। वर्तमान दौर में वैश्वीकरण, बाजारवाद, आधुनिकीकरण एवं सशक्त नारीवादी आंदोलनों की पृष्ठभूमि से हिंदी सिनेमा में स्त्री की स्थिति में क्रमिक सुधार होता जा रहा है। ऑस्ट्रेलियन मेरी इंवास ने पश्चिमी परिवेश और वहाँ की फिल्मों से मुतासिर होकर हिंदी सिनेमा में पारंपरिक स्त्री की स्थापित छवि को तोड़ने की शुरुआती कोशिशें की। इवांस हंटरवाली नाडिया के नाम से मशहूर हो गई। फीयरलेस नाडिया ने रॉबिनहुड जैसी भूमिका निभाते हुए फिल्मों के सारे स्टंट खुद किये। कभी हिन्दी सिनेमा में स्त्री का काम महज 'शो पीस' तक ही सीमित था परंतु अब वक्त के साथ ये मान्यताएँ टूट रही हैं। 'बंदिनी', 'सुजाता', 'मुगल ए आजम' जैसी यादगार फिल्मों में स्त्री की अच्छी भूमिकाओं से वाकिफ होने का अवसर दर्शक को मिला। पश्चिमी नारी के स्वच्छंद विचारों को भारतीय रंग देने वाली फिल्मों में 'गाइड' फिल्म खासी उल्लेखनीय है।

'गाइड' की रोजी तो स्त्री मुक्ति की भारतीय घोषणा ही करती नजर आती है-

''काँटों से खींच के ये आँचल
तोड़ के बंधन, बांधे पायल
कोई न रोको, दिल की उड़ान को''

हिन्दी सिनेमा में औरत के सशक्तिकरण की दिशा में गुलजार, ऋषिकेश मुखर्जी, बासु चटर्जी जैसे सिनेकारों ने समांतर सिनेमा के माध्यम से सराहनीय प्रयास किया। इन फिल्मकारों ने स्त्री की अस्मिता के प्रति संवेदनशील, प्रगतिशील और आधुनिक दृष्टिकोण अपनाया।

नयी सदी में हिन्दी सिनेमा में स्त्री ने 'फिदा' और ऐतराज' जैसी नकारात्मक भूमिकाओं में स्त्री की छवि को

परिवर्तित करने की कोशिश की।

'फिदा' की नेहा और 'ऐतराज' की सोनिया ऐसी स्त्री भूमिकाएँ हैं जो अपनी जिंदगी जीने के लिए कुछ भी कर सकती हैं। उनमें भारतीय पारंपरिक स्त्री का त्याग, सहिष्णुता, ममत्व एवं समर्पण युक्त भाव नहीं है। पश्चिमी सिनेमा में स्त्री को महज सेक्स और प्रोडक्ट जैसे उपादानों तक समझने की भूल और एकांगीपन नहीं है। दरअसल पाश्चात्य सिनेमा स्त्री की संभावनाओं और उसके अधिकारों के प्रति बॉलीवुड से काफी ज्यादा उदार और समावेशी है। वेस्टर्न किरदार लिजलिजी भावुकता और मर्यादा की देहरी लांघकर अपने अस्तित्व और हक के लिए सरेआम ताल ठोंकते नजर आते हैं। उदाहरण के लिए अमांडा ब्लैक द्वारा अभिनीत की गयी 'गनस्मोक' में किटी रसैल का चरित्र धैर्य और साहस का अनूठा दृष्टांत पेश करता है। हैली स्टीनफेल्ड द्वारा 'इन ट्रू ग्रिट' फिल्म में निभाया गया किरदार भला कौन भूल सकता है। इस फिल्म में स्त्री के मैटी रॉस नामक किरदार के लिए अभिनेत्री स्टीनफेल्ड को सर्वश्रेष्ठ सहायक अभिनेत्री के लिए अकादमी पुरस्कार और एक प्रमुख भूमिका में सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री के लिए बाफ्टा पुरस्कार के लिए नामांकित किया गया था। क्लाउडिया कार्डिनले ने 'द प्रोफेशनल्स' और 'वन्स अपॉन ए टाइम इन दा वेस्ट' (1968) जैसी फिल्मों में बुद्धिमान महिलाओं के मजबूत चरित्र को उकेरने में कोई कमी नहीं छोड़ी है। हिन्दी सिनेमा की 'रेस' जैसी फिल्मों के स्त्री चरित्रों में इन किरदारों का भान होता है। सोनम कपूर ने 'प्लेयर्स' में अपने किरदार को विश्वसनीय बनाने हेतु क्लाउडिया कार्डिनले के किरदारों का अनुसरण किया है।

पश्चिम की बहुचर्चित फिल्म 'लोनसे वुड इन लोंसोम डोव' में डायनेलीन ने तवायफ की भीतरी जिंदगी और संघर्ष के साथ उसकी जीने व जिंदगी के साथ दरियादिली से कदमताल करने की उत्कट चाह को पर्दे पर प्रस्तुत किया है। इस स्त्री पात्र की छवि हिंदी फिल्मों में कई बार नजर आयी है चाहे वो फिर 'देवदास' की चंद्रमुखी हो या 'बदलापुर' की झीमली। इसके अलावा भी देह धर्म को बाजार तक प्रदर्शित करने वाली हिंदी फिल्मों में करीना कपूर की 'चमेली', मनीषा कोइराला की 'मार्केट' और विद्या बालन की 'बेगम जान' विशेष हैं। इन सभी फिल्मों में स्त्री मुक्ति और उनकी स्वच्छंदता विषयक प्रश्नों को अलग-अलग कोणों से उठाया गया है। चाहे ये फिल्में अपनी सामाजिकता और नैतिकता में अच्छी नहीं होगी परंतु स्त्री की यौन स्वच्छंदताओं और जरूरतों को मुखर स्वर में व्यक्त करती प्रतीत होती हैं। विभिन्न नारीवादी आंदोलनों में जो पश्चिम से निसृत हुए हैं, में सामूहिक अधिकारों के प्रति काफी अपील है। यथा पैतृक संपत्ति में लड़कियों की समान भागीदारी, यातनादायी और उत्पीड़क वैवाहिक संबंधों से अलग होने के लिए तलाक का हक, स्त्रियों के सम्मानजनक रोजगार, समान वेतन, समाज, प्रशासन, सिनेमा एवं राजनीतिक क्षेत्रों में समान भागीदारी जैसे मुद्दे उठाये गये हैं जिनकी पश्चिमी सिनेमा मसलन हॉलीवुड, फ्रांस, जर्मनी, पौलेण्ड के सिनेमा में स्पष्ट छाप नजर आती है। जेम्स कैमरन निर्देशित हॉलीवुड फिल्म 'टाइटैनिक' में कैट एलिजाबेथ विंसेंट अभिनीत किरदार रोज को कैसे भुलाया जा सकता है जो अभिजात्य समाज की तमाम गरिमा और मर्यादा को कुचलकर मोहब्बत की नैतिकता को नहीं तोड़ती है। हिन्दी फिल्म 'ये जवानी है दीवानी' में भी नैना का किरदार कहीं न कहीं रोज के साहसी और प्रेम में पागल लड़की के पात्र से प्रभावित है। नैना अपनी परिवार की जिम्मेदारी को भूलकर अपने प्रेमी को पाना चाहती है।

इक्कीसवीं सदी में हिन्दी फिल्मों की दुनिया में नारी के प्रति सहयोग और समतामूलक पौरूष व्यवहार नजर आने लगा है। जिसके मूल में हिन्दी फिल्मों की स्त्री का संघर्ष, हक के प्रति अत्यधिक अपील एवं पुरुष सत्तात्मक समाज का आर्थिक समीकरण रहा है। इसी संदर्भ में नारीवादी लेखिका जैमैन ग्रीर का मानना है ''पुरुष अगर आज बदला हुआ नजर आता है तो इसलिए नहीं कि वह 'फैमिनिस्ट' (नारीवादी) रवैया अख्तियार कर रहा है- वस्तुतः वह आर्थिक दबाबों के कारण उदार नजर आ रहा है।'' मौजूदा दौर में शीर्षस्थ अभिनेत्रियाँ पश्चिम की अभिनेत्रियों की कद्दावर छवि से प्रेरित होकर हिन्दी सिनेमा में समावेशी माहौल एवं 'जेंडर इक्वेलिटी' स्थापित करने का भरपूर प्रयास एवं पहल कर रही है। प्रियंका चोपड़ा, कैटरीना कैफ, कंगना रानावत, दिव्या खोसला, फराह खान, हनी इरानी जैसे नाम उम्मीदें ही नहीं जगाते वरन् उम्मीदों को यथार्थ में बदल रहे हैं। नयी सदी की हिन्दी फिल्मों की स्त्री पाश्चात्य सिनेमा से बहुत कुछ सीखकर अपनी मौलिकता से पुनः प्रस्तुत कर रही है। चक दे इंडिया, मैरीकॉम, बाजार, उमराव जान, माया मेम साहब,

फैशन, हीरोइन, सात खून माफ, मर्दानी, हाइवे, बैंडिट क्वीन, पिंक, पार्च्ड, पीकू, जय गंगाजल, मणिकर्णिका : द क्वीन ऑफ झांसी, क्वीन, तनु वेड्स मनु जैसी समकालीन हिन्दी फिल्में अमेरिकन ब्यूटी, एमेली, एरिन ब्राकोविच फीडा, सर्बरीना, मारिया फुल ऑल ग्रेस, ज्यूड, वेराड्रेक, निफो मैनिक, नोर्मारे, सीक्रेट लाइज जैसी फिल्मों की तरह मजबूत महिला चरित्र रच रही हैं और सजावटी एवं दोयम दर्जे की नागरिकता वाली सिमटी-सी नारी की जगह मनुष्यता को विस्तार देने वाली स्त्री पात्रों के रूप में सामने आ रही हैं। हिन्दी फिल्मों में भी अब वह दौर गया जब स्त्री को जींस या स्कर्ट पहना देने भर से ही खराब चरित्र का मान लिया जाता था। अब स्त्री, सैंयाँ मैं तौरे पैयाँ पड़ूँ जैसी चरित्र नहीं रह गई है। इक्कीसवीं सदी की अनेकानेक सशक्त महिला किरदारों वाली फिल्मों ने बता दिया है कि न तो औरत के लिए शादी ही असली जीवन का पासपोर्ट है और न मातृत्व उसका चरम तथा न वर्जिनिटी पवित्रता की अनिवार्य शर्त। पश्चिमी सिनेमा की स्वच्छंद एवं उन्मुक्त नारी विषयक अवधारणा से प्रेरित कई हिन्दी फिल्में अब मैथिलीशरण गुप्त की 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी। आँचल में है दूध और आँखों में है पानी'' वाली उक्ति को जोरदार ढंग से न सिर्फ चुनौती दे रही हैं वरन् उसे आधुनिक युग में अप्रासंगिक भी कर रही हैं।

सारांशत: कहा जा सकता है कि पश्चिमी सिनेमा से नयी सदी के हिन्दी सिनेमा में स्त्री किरदार अत्यधिक सशक्त, जुझारू, स्वावलंबी, समतामूलक एवं नित्य प्रति अपने वजूद और अस्मिता के प्रति काफी सजग, सतर्क और संवेदनशील हो रहे हैं। अभी भी हिंदी सिनेमा में स्त्री की स्थिति को और ज्यादा बेहतर व गरिमामय बनाने में काफी श्रम और हौसले के निवेश की दरकार है क्योंकि पुरुषसत्तात्मक हिन्दी फिल्मोद्योग में कदम-कदम पर स्त्री के लिए मुश्किलें पसरी पड़ी हैं मगर अधिकारों एवं मानवीय अस्तित्व हेतु बेहतरी की उम्मीद हमें अंधेरे में भी कायम रखनी चाहिए-

''मौसम चाहे जितना खराब हो।
उम्मीद नहीं छोड़ती कविताएँ।''

हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
E-mail : pspranaysaini@gmail.com

डॉ. ज्ञान प्रकाश

प्रकृति-राग और दिनकर की कविता

आलोचक आनंदनारायण शर्मा ने रामधारी सिंह 'दिनकर' संबंधी सामान्य आलोचकीय धारणा के सम्बंध में उचित ही लिखा है कि ''दिनकर के नाम के साथ 'राष्ट्रकवि' की उपाधि कुछ इस प्रकार जुड़ गई है कि प्राय: उन्हें राजनीतिक हलचलों के गायक, क्रांति और भूचाल का कवि माना जाता है।''[1]

इसमें कोई संदेह नहीं है कि उनके रचना-संसार का एक बड़ा हिस्सा क्रांतिकारी मनोभावों और ओजस्वी नारों से जुड़ाव रखता है साथ ही साथ यह भी सच है कि विराट राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना उन्हें राष्ट्रकवि के रूप में स्थापित करने में सक्षम है। बावजूद इसके दिनकर के काव्य का एक बड़ा भाग प्रकृति, प्रेम, नारी आदि सौन्दर्यमयी चित्रों से संचालित है और कहीं न कहीं उनका वास्तविक कवि हृदय इसी रसधारा से आप्लावित है।

निश्चित रूप से समय और परिस्थितियों के कुठार ने कवि को कठोर वाणी की ओर उन्मुख किया है और उनकी कविता में ओज, विद्रोह और भूचाल पैदा किया। इस संदर्भ में डॉ. तरुण कुमार ने उनके काव्य-शरीर के कोमल पक्ष को रेखांकित करते हुए लिखा है कि ''ऐसा नहीं है कि छाया से उन्हें कोई गुरेज था, बल्कि छायावादी सौंदर्य उन्हें भीतर ही भीतर बहुत भाता था।''[2]

''प्रकृति-सौंदर्य'' उनके कोमल-कवि मन का एक अटूट अंग है जिसकी ओर आलोचकों ने कमतर ही कलम फेरने की जोहमत उठाई है। प्रकृति के प्रति दिनकर का कवि मन तन्मयता से आगे बढ़ा है। चाहे वह रस में डूबी कविता हो या कटु और कठोर जीवन-यथार्थ से जुड़ी कविताएं हों-कवि ने प्रकृति को सहचरणी रूप में साथ रखा है प्रकृति-चित्रण के प्राय: समस्त मान्य शैलियों/परिपाटियों तक का दर्शन दिनकर कविता में आसानी से हो जाता है।

छायावादी-रुमानियत और 'शंका' के साथ ही छायावाद के ठीक पीठ पर सवार होकर दिनकर अपनी काव्य-यात्रा शुरू करते हैं जहां भावुक कवि मन प्रकृति-प्रेम की 'आह' भरता नजर आता है, 'वसंतानिल' बनने की इच्छा लिए प्रकट होता है-

''कवि! आषाढ़ की इस रिमझिम में
धन-खेतों में जाने दो,
कृषक सुंदरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो!''[3]

'रसवंती' और 'रेणुका' का कवि मन जब तत्कालीन परिस्थितियों के आघात से जब ऊब का शिकार होता है तब भी वह विश्वसुंदरी प्रकृति की शांत गोद में प्रश्रय पाता है। इस संग्रह की 'विश्व-छवि', 'अमासंध्या', 'मिथिला में शरद', 'कोयल', 'कलातीर्थ', 'निर्झरिणी' आदि कई कविताओं में प्रकृति के प्रति समर्पण और आलम्बन का सहज भाव देखने योग्य है।

'रेणुका' संग्रह की कविताओं में छायावादी प्रकृति-चित्र से दिनकर बंधे नजर आते हैं यहां तक कि बिम्ब और कोमलकान्त पदावली के साथ ही। इसलिये इन कविताओं में प्रकृति रंग-बिरंगे पहन कर खेतों से उठकर कवि के हृदय-पटल पर प्रेयसी के साथ आच्छादित हो जाती है।

प्रेयसी धान के खेत में इठलाती है, कभी धान के पौधों को चूम रही है तो कभी मंजरियों को और कभी 'गंडक' की लहरों को करीने से झांकती है -

''कर कभी धान का आलिंगन
लेती मंजरियों का चुम्बन
गंडकी-ओर फिर दृष्टि फेर
देखती लहर को बड़ी देर!''[4]

'रसवंती' दिनकर के श्रृंगारिक भावनाओं का महल है। इस संग्रह की कविताओं में प्रेम और सौंदर्य के मधुर गीत पिरोये हुए हैं जहां प्रकृति पूरे उल्लास और उद्दीपक रूप में चित्रित है। सुख और दुख दोनों मनोभावों में राजा वसंत और ऋतुओं की रानी वर्षा कवि के शब्दों का सहचरी है-

''राजा बसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी,
लेकिन, दोनों की कितनी भिन्न कहानी!
राजा के मुख में हँसी, कण्ठी में माला,
रानी का अन्तर विकल, ख्रगों में पानी।''[5]

'रसवंती' संग्रह की अधिकांश कविताओं में दिनकर के प्रकृति-प्रेम और प्रकृति-जीविता के कई उदाहरण मिलते हैं। स्वयं कवि ने इस संग्रह की भूमिका में कहा है-''इन गीतों में मैं अपने आप से छूट गया हूँ और प्राय: अकर्मण्य आलसी की भांति उस प्रगल्भ अप्सरा के पीछे-पीछे भटकता फिरा हूँ, जिसे कल्पना कहते हैं''[6] दिनकर के इस काल्पनिक और भावुक संसार की निर्मति प्रकृतिजन्य बिम्बों और प्रतीकों से हुई है -

''जलना तो था बदा भाग्य में
कविते! बारह मास तुझे,
आज विश्व की हरियाली पी
कुछ तो प्रिये, हरी हो ले।''[7]

'द्वन्दगीत' का दिनकर मन आध्यात्मिक दर्शन में गोते खाता हुआ नजर आता है। उसका अंतर्मन काम और सौंदर्य से सराबोर है परंतु बाह्य परिवेश ठीक इसके बाधक रूप में खड़े हैं। यहां कवि 'सहजयान' और 'बाह्यज्ञान' के बीच झूलते हुए चार्वाक दर्शन की ओर आकृष्ट होते हैं परंतु इसके लिए भी कवि प्रकृति को ही माध्यम बनाता है जहां उन्होंने अपनी कविता को तितली की उपमा दी है-

''अरे! मरूँगा कल तो फिर क्यों,
आज नहीं रसधार बहे?
फूल-फूल पर फिरे न क्यों,
कविता तितली-सी दीवानी?''[8]

'नये सुभाषित' संग्रह तक आते-आते कवि दिनकर एक साथ ओज और करुणा, प्रेम और सौंदर्य, नियति और नीयत एवम् रस और विष धारण कर चुके थे। परंतु भीतर का अंत:जगत दु:ख और अवसाद के मर्म में डूबा है। इन मुक्तकों में भी प्रकृति कवि मन के अवसाद को सहन करने की शक्ति देती है -

''दर्द को तुम फेन की धारा बनाओ
फेन तो बह जायेगा
नीर निर्मल सिंधु में रह जायेगा।''[9]

'कोयला और कवित्व' तक पहुँचते-पहुंचते कवि मन मे वीरता और ओज की जगह तपती हुई करुणा का पक्ष भारी हो गया है। इसके पहले 'हुंकार', 'सामधेनी', 'परशुराम की प्रतीक्षा', 'दिल्ली', 'नीम के पत्ते', 'नीलकुसुम', आदि मुक्तक संग्रहों में कवि रामधारी सिंह दिनकर की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का बलवती प्रवाह बह चुका था जहां प्रकृति-घटक कभी हिमालय के रूप में गर्व से मदमाता है, कभी धान के खेतों में कृषक-वेदना को प्रकट करता है, कहीं मिट्टी का तिलक रूप धारण कर वीरों में क्रांति की पुकार लगाता नजर आता है। कहीं-कहीं प्रकृति के बिम्बों का प्रयोग ऐसा नजर आता है जैसे कवि नहीं प्रकृति ही क्रांति करती शोषक तंत्र के सम्मुख खड़ी हो जाती है-

''सरसी में लो उतर गया अब चांद,
व्योम अभी कितना निश्छल लगता है।
तारों की जो फसल ताल मे लहराती है,
हंसिया बनकर चांद काटने को आया है।''[10]

और भी

''हटो व्योम के मेघ, पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
दूध, दूध ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम आते हैं''[11]

'कुरुक्षेत्र', 'परशुराम की प्रतीक्षा', 'रश्मिरथी' एवम् 'उर्वशी' आदि प्रबन्ध-काव्यों में कवि दिनकर की प्रकृति चेतना का चरम उत्कर्ष दीखता है। युद्ध और युद्ध की पृष्ठभूमि में रचित 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध की विभीषिका के वर्णन में प्रकृति-घटकों का प्रतीकात्मक प्रयोग कविता में अलग प्रभाव पैदा करता है-

''वायस, श्रृंगाल, स्वान, दल के दल वन-माजार,

यम के अतिथि विचरते सुख से देख विपुल आहार।''[12]

'रश्मिरथी' में कर्ण की मनोभूमि को उजागर करने में भी दिनकर ने प्रकृति का प्रयोग किया है। द्वितीय सर्ग में परशुराम के आश्रम का यह मनोरम चित्र देखने योग्य है-

''शीतल, विरल एक कानन शोभित,
अधित्यका के ऊपर,
कहीं उत्स प्रसवण चमकते, झरते कहीं शुभ निर्झर!
कुछ प्रशांत, अलसित बैठे हैं,
कुछ करते शिशु का लेहन
कुछ खाते शाकल्य दीखते, बड़े तुष्ट सारे गेवन।''[13]

वहीं कर्ण की मनोदशा का यह प्रकृति-चित्र भी उल्लेखनीय है -

''निराशा से विकल टूटा हुआ सा
किसी गिरिश्रृंग से छूटा हुआ सा
चला खोया हुआ सा कर्ण मन में
कि जैसे चांद चलता है गगन में।।''[14]

महाकाव्य का दर्जा प्राप्त 'उर्वशी' में प्रकृति चित्रण के तमाम शास्त्रीय रूप मौजूद हैं। यहां आलम्बन रूप में चांद, तारक, रजनी, गन्धमादन पर्वत, आदि का विशद चित्र खींच गया है -

''खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारें यो दीप रहे हैं,---
नील वारि को फोड़ ज्योति के द्वीप निकल आये हों..''[15]

तीसरे अंक में गन्धमादन पर्वत पर रात के अवसान में सूर्योदय का मनोरम प्रकृति चित्र उकेरा गया है-

''चन्द्रमा चला, रजनी बीती, हो गया प्रातः,
पर्वत के नीचे से प्रकाश के आसन पर
आ रहा सूर्य फेंकते बाण अपने लोहित ....''[16]

प्रकृति का उदीपक चित्र असंख्य मात्रा में इस महाकाव्य में चित्रित हैं। द्वादशी का चंद्रमा अपनी छटा के साथ आकाश में विराजित होकर अप्सराओं को गाने-झूमने को मजबूर कर देता है-

''फूटा सुधा ललित की धारा
डूबा नभ का कूल किनारा
सजल चांदनी की सुमन्द लहरों में
तैर नहाओ री....''[17]

इसी प्रकार मानवीकृत प्रकृति के अनेकों मनमोहक चित्र पूरे महाकाव्य में दर्शनीय हैं। रानी औशीनरी को प्रेषित दूसरे अंक का यह दृश्य देखें-

''शिखरों पर हिमराशि और नीले झरनों का पानी,
बीचों बीच प्रकृति है,
ओढ़ निचोली धानी ....''[18]

'उर्वशी' में पौरुष, कर्म, काम आदि के प्रतीकों के रूप में भी कवि ने प्रकृति का भरपूर प्रयोग किया है। पुरुरवा के पौरुष को प्रतीक-बद्ध करते हुए दिनकर लिखते हैं-

''वह ज्योतिर्मय रूप?
प्रकृति ने किसी कनक पर्वत से
काट पुरुष प्रतिमा विराट निज मन
के आकारों से...''[19]

काम-आध्यात्म का महाकाव्य 'उर्वशी' प्रकृति बिम्बों और प्रतीकों के बिना रसहीन और तेजहीन होती-ऐसा कहना गलत न होगा।

दिनकर की सामाजिक यथार्थ चेतना में भी प्रकृति प्रेरक रूप में प्रकट होती है। दिनकर का मानना है कि विपन्नता का साथ प्रकृति देती है, मनुष्य नहीं। वह कवि जो आजीवन समाज के लिए रोता-जगता है उसकी मृत्यु पर चांद रोता है, चाँदनी कफन देती है, मलयनिल शव को कंधा देती है तथा वन चिता जलाने के लिए चन्दन और श्रीखण्ड उपलब्ध करता है -

''जब गीतकार मर गया, चांद रोने आया,
चांदनी मचलने लगी कून बन जाने को,
मलयनिल ने शव को कंधे पर उठा लिया,
वन ने भेजे चन्दन श्रीखण्ड जलाने को!''[20]

'नीलकुसुम' की ये पंक्तियां दिनकर के प्रकृति-प्रेम और दिनकर काव्य में प्रकृति की सहचरणी भूमिका को स्वतः प्रकट कर जाती हैं।

दिनकर साहित्य में प्रकृति-सौंदर्य की विपुल सामग्री उच्च साहित्यिक गुणवत्ता के साथ संग्रहित हैं जिसे समग्रता में पाठकों के सामने लाने की आवश्यकता है।

सहायक आचार्य
डॉ. राम मनोहर लोहिया स्मारक महाविद्यालय,
बिहार विश्वविद्यालय, मुज्जफरपुर, बिहार

संदर्भ सूची

1. आनंदनारायण शर्मा, दिनकर : व्यक्तित्व और रचना के आयाम, सं. गोपाल राय, सत्यकाम, पृष्ठ-146

2. डॉ. तरुण कुमार, दिनकर : व्यक्तित्व और रचना के आयाम, सं. गोपाल राय, सत्यकाम, पृष्ठ-79
3. रामधारी सिंह 'दिनकर' : रेणुका, पृष्ठ-14-15
4. रामधारी सिंह 'दिनकर' : रेणुका, पृष्ठ-55
5. रामधारी सिंह 'दिनकर' : रेणुका, पृष्ठ-41
6. रामधारी सिंह 'दिनकर' : रसवंती, भूमिका।
7. रामधारी सिंह 'दिनकर' : 'सावन' रसवंती, पृष्ठ-93
8. रामधारी सिंह 'दिनकर' : द्वन्दगीत, पृष्ठ-19
9. रामधारी सिंह 'दिनकर' : कोयला और कवित्व, पृष्ठ-66
10. रामधारी सिंह 'दिनकर' : सीपी और शंख, पृष्ठ-25
11. रामधारी सिंह 'दिनकर' : हुंकार, पृष्ठ-23
12. रामधारी सिंह 'दिनकर' : कुरुक्षेत्र, पृष्ठ-56
13. रामधारी सिंह 'दिनकर' : रश्मिरथी, सर्ग 2, पृष्ठ-9
14. रामधारी सिंह 'दिनकर' : सर्ग 2, पृष्ठ-21
15. रामधारी सिंह 'दिनकर' : उर्वशी, अंक 1, पृष्ठ-5
16. रामधारी सिंह 'दिनकर' : उर्वशी, अंक 3, पृष्ठ-102
17. रामधारी सिंह 'दिनकर' : उर्वशी, अंक 1, पृष्ठ-8
18. रामधारी सिंह 'दिनकर' : उर्वशी, अंक 2, पृष्ठ-28
19. रामधारी सिंह 'दिनकर' : उर्वशी, अंक 2, पृष्ठ-69
20. रामधारी सिंह 'दिनकर' : नीलकुसुम : पृष्ठ-32

शोध-पत्र

भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में पुरातात्विक स्रोतों की प्रासंगिकता

मुकेश पासवान

सारांश :

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के आधार स्तम्भ के रूप में पुरातात्विक स्रोतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुरातात्विक स्रोत निष्पक्ष रूप से इतिहास के निर्माण में सहायक सिद्ध हुए हैं। किसी भी देश के प्राचीन इतिहास की जानकारी हेतु पुरातात्विक स्रोतों की मदद लेनी पड़ती है। इस शोध पत्र के माध्यम से भारतीय इतिहास लेखन के पुनर्निर्माण में पुरातात्विक स्रोतों के महत्व को दर्शाया गया है। इसके अन्तर्गत मुख्यतः अभिलेख, स्मारक, भवन सिक्के या मुद्राओं का प्रमुख स्थान है। प्रस्तुत लेख के माध्यम से प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में पुरातात्विक स्रोतों की प्रासंगिकता के साथ-साथ इनकी सटीकता व निष्पक्षता को दर्शाने का भी विनम्र प्रयास किया गया है।

संकेत शब्द :

पुरालेख शास्त्र, पुरातात्विक, अभिलेख, स्मारक, मुद्राएँ, प्रागैतिहासिक, स्तम्भ, ताम्र-पत्र, ऋग्वैदिक काल।

प्रस्तावना :

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के पुनर्निर्माण हेतु ऐतिहासिक साहित्यों का अभाव रहा है। ऋग्वैदिक काल से ही भारतीय इतिहास के लिए केवल एकमात्र स्रोत नगरों की खुदाई द्वारा प्राप्त की गई वस्तुएं हैं। उस समय का न तो कोई लिखित ग्रन्थ प्राप्त है और न ही उस समय की भाषा को समझा जा सकता है। वैदिक काल से ज्ञान के लिए हमें पूर्ण रूप से हिन्दू, बौद्ध व जैनियों के धार्मिक ग्रंथों पर निर्भर रहना पड़ता है। भारत में हेरोडोटेस (यूनानी) व लिवी (रोमन) जैसे इतिहासकार नहीं हैं, इसलिए पाश्चात्य विद्वानों में भी यह धारणा बन गई थी कि भारत का कोई प्राचीन इतिहास नहीं है। भारतीय लोग अपने अतीत के गौरव को नहीं पहचानते हैं। महाभारत के अनुसार जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की शिक्षा मिले वह साहित्यिक या धार्मिक इतिहास है। अतः भारतीय इतिहास राजनीतिक दृष्टि की अपेक्षा सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक समृद्ध है। इतिहासकारों ने प्राचीन भारतीय इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया है :-

1. प्रागैतिहासिक काल
2. आद्यैतिहासिक काल
3. ऐतिहासिक काल

प्रागैतिहसिक काल के कोई लिखित साक्ष्य मौजूद नहीं है जिसमें मानव जीवन के सांस्कृतिक पहलू की कोई लिखित जानकारी नहीं मिलती है। इसे प्रागैतिहासिक काल कहा गया है। हड़प्पाई सभ्यता आद्यैतिहासिक काल के अन्तर्गत आती है। क्योंकि इसमें लिपि संबंधी साक्ष्य तो हैं लेकिन वे अपाठ्य है। इसलिए यह आद्यैतिहासिक काल के अन्तर्गत रखा गया है।

जिस साहित्य के लिखित साक्ष्य उपलब्ध हैं जिसे पढ़ा जा सकता है जैसे वेद, आरण्यक, उपनिषद, पुराण, कल्याण की राजतरंगणी, अष्टध्यायी, तवकाते नासिरी, तुजके बाबरी, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया आदि। यह ऐतिहासिक काल कहलाता है। अर्थात् वैदिककाल से वर्तमान तक का समय ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत आता है।

इतिहास निर्माण में सहायक उपलब्ध स्रोतों को तीन भागों में बांटा गया है: -

1. पुरातात्विक स्रोत
2. साहित्यिक स्रोत
3. विदेशियों के विवरण

पुरातत्व सम्बन्धी स्रोतों का प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका है। प्रागैतिहासिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए इतिहासकार पूर्ण रूप से पुरातात्विक सामग्री पर निर्भर हैं। भारतीय ग्रंथों की रचनात्मकता की दृष्टि से समय, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के बारे में ठीक से ज्ञात नहीं है। साथ ही लेखक का खुद का भी दृष्टिकोण भी बहुत बार सही चित्रित करने में बाधक हो जाता है। जैसे चीनी यात्रियों ने भारतयी समाज की झांकी बौद्ध दृष्टिकोण से प्रस्तुत की है। अत: इनके विवरण को पूर्णत: ठीक नहीं माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त ग्रंथों की प्रतिलिपि करने वालों ने अपनी इच्छानुसार अनेक प्राचीन प्रकरणों को छोड़ दिया और नए प्रकरण जोड़ दिए।

पुरातात्विक स्रोतों के द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास को एक नया तथा वास्तविक रूप दिया गया है। पुरातात्विक स्रोत साहित्यकार स्रोतों की अपेक्षा अधिक प्रमाणिक और सत्य प्रतीत होते हैं। पुरातात्विक स्रोतों से भारतवर्ष के अनेक तथाकथित अंध युगों पर प्रकाश पड़ा है। अनेकानेक संदिग्ध ऐतिहासिक मतों का निश्चित रूप से खण्डन मंडन हुआ है। पुरातत्व का महत्व इस बात से समझा जा सकता है कि आज एकमात्र इतिहास ही नहीं रहा बल्कि एकमात्र स्वतन्त्र विकास बन गया है। इतिहास निर्माण में यह शास्त्र हमारे समक्ष दो रूप में आता है। 1. प्रतिपादक के रूप में (निर्माता) 2. दूसरा समर्थक के रूप में अर्थात् (ग्रहणकर्ता)।

प्रथम रूप में यह उन ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करता है जो हमें अन्य साधनों से विदित नहीं होते। उदाहरणार्थ समुद्र गुप्त की दिग्विजय का वर्णन विस्तार हमें एकमात्र उसके प्रयोग स्तम्भ लेख से ही विदित होता है। यदि यह स्तम्भ लेख न होता तो हम भारतीय इतिहास के एक अति महत्वपूर्ण गुप्त काल से अनभिज्ञ रहते। इस प्रकार हाथीगुफा (उड़ीसा) अभिलेख न मिलता तो हमें एक प्रतिभाशाली नरेश खारवेल का पता न चलता। दूसरे रूप में पुरातत्व हमें किसी नई वस्तु का ज्ञान नहीं कराता बल्कि यह अन्य साधनों से ज्ञात किसी न किसी वस्तु का समर्थन करता है। उदाहरणार्थ पतंजलि के महाभाष्य के कतिपय वाक्यों से ऐसा प्रतीत होता था कि पुष्पमित्र शुंग ने कोई यज्ञ किया था। परन्तु एक व्याकरण ग्रंथ के एक दो वाक्यों के आधार पर इतना बड़ा निष्कर्ष निकालने में संकोच कर रहे थे। ऐसी संधिग्ध परिस्थिति में पुरातत्व ने उनकी शंका का समाधान किया। अयोध्या का अभिलेख मिला और उसने स्पष्ट स्वर में घोषित किया-' द्विरश्वमेधयाजिन: सेनाते: पुष्पमित्रस्य'। इस प्रकार पुरातत्व ने पतंजलि के महाभाष्य के कथन को सिद्ध करते हुए यह कहा कि पुष्पमित्र शुंग ने अश्वमेघ यज्ञ किया था।

इतिहास के निर्माण में पुरातात्विक सामग्री को तीन भागों में बांटा गया है:-

1. अभिलेख
2. स्मारक
3. मुद्राएं

पुरालेख शास्त्र :

अभिलेखों के अध्ययन के पुरालेख शास्त्र कहते हैं। ये ऐतिहासिक जानकारी का महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इसे ऐपिग्राफी भी कहा जाता है। अभिलेख मुहरों, पाषाण स्तम्भों, स्तूपों, ताम्रपत्र, मंदिरों की दीवारों, ईंटों, मूर्तियों आदि पर उत्कीर्ण किए गए हैं। पूरे भारतवर्ष में आरम्भिक अभिलेख पत्थरों पर लिखे गए हैं। ईसा की प्रथम शताब्दी में अभिलेख ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण किए गए हैं। इसी समय दक्षिणी मास में पत्थरों पर और मंदिरों की दिवारों पर अभिलेख उत्कीर्ण किए गए हैं। अनेक अभिलेख संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। दक्षिणी भारत के ज्यादातर अभिलेख मैसूर पुरालेख संग्रहालय में हैं।

आरम्भिक अभिलेख प्राकृत भाषा हैं और ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी के हैं। संस्कृत भाषा में अभिलेख ईसा की दूसरी शताब्दी में उत्कीर्ण होने प्रारम्भ हुए तथा चौथी एवं पांचवीं शदी के सर्वत्र अधिकारिक उत्कीर्ण किए गए हैं। इसी दौरान भी प्राकृत भाषा में अभिलेख उत्कीर्ण होते रहे हैं। प्रादेशिक (क्षेत्रिय) भाषा में अभिलेखों का आरम्भ 9वीं-10वीं शताब्दी में शुरू हुआ। मौर्य काल, मौर्योत्तर काल और गुप्त काल के अधिकांश अभिलेख 'कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेस्म' ग्रंथ माला में संकलित हैं।

हड़प्पा सभ्यता के अभिलेख भाव चित्रात्मक लिपि में हैं जो अभी तक पढ़े नहीं गए हैं। धौलावीरा से भी हमें अभिलेख प्राप्त हुआ है। भारत के प्राचीनत् अभिलेख जो पढ़े गए हैं अशोक के अभिलेख हैं। जिसे जेम्स प्रिंसेप नामक अंग्रेज ने 1839 में पढ़ा है।

अशोक के अभिलेखों के अतिरिक्त कलिंग नरेश खारवेल समुद्रगुप्त प्रयाग प्रस्सति चन्द्रगुप्त द्वितीय का महरौली (दिल्ली), स्कन्तगुप्त का भीतरी स्तम्भलेख, रूद्रदमन का जूनागढ़, पुलकेशिन द्वितीय का एहोल आदि राजाओं के अभिलेख भी ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। अभिलेखों से हमें राजाओं, प्रशासनिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्वरूप की जानकारी मिलती है। जैसे ऐहोल अभिलेख से हमें पुलकोशेन द्वितीय की विजयों की जानकारी मिलती है जिसमें उसने कन्नौज के शासक हर्षवर्धन व पुल्लव नरेश को हरा दिया था।

इलाहाबाद के स्तंभलेख से समुद्रगुप्त की विजयों की जानकारी मिलती है तथा उसने सम्पूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इसकी जानकारी हरीषेण नामक कवि ने दी थी।

Dr. Flit के अनुसार उत्कीर्ण लेखों से प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास का ज्ञान मुख्य रूप से प्राप्त किया गया है। उनके बिना ऐतिहासिक घटनाएँ तथा तिथियाँ निश्चित न हो पातीं जो सामग्री भी हमें परम्परा, साहित्य, मुद्राओं, कलाभवनों या अन्य किसी साधन से प्राप्त होती है, वे सब उसको क्रमबद्ध करते हैं। परन्तु यह निश्चित रूप में नहीं भूलना चाहिए कि इन अभिलेखों की रचना राजकवियों के द्वारा की गई है। इन्होंने अपने संरक्षक राजाओं की सफलताओं या विजयों का वर्णन बढ़ा चढ़ाकर किया है।

कुछ अभिलेख हमें विदेशों से भी मिले हैं जैसे वैदिक काल के बारे में बताने वाला अभिलेख मुख्य एशिया के बोगजकोई नामक स्थान से मिला है। यह लगभग 1400 ई. पू. का है। इसमें चार वैदिक देवता इन्द्र, वरुण, मित्र, नासत्य देवता नाम अंकित हैं। इसके अलावा चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के ईरानियों के भारत पर आक्रमण की जानकारी भी हमें बहिस्तुन नाम लेख से मिलती है। इससे पता चलता है कि सिंध प्रांत दारयबाहु प्रथम के साम्राज्य का 20वां प्रदेश था। इससे उसे 360 टैलंट की आय प्राप्त होती थी। इस कथन की पुष्टि हमदन के स्वर्ण पत्र लेख और रजत पत्र लेख से भी होती है।

डॉ. वी. ए. स्मिथ का कहना है कि प्रारम्भिक हिन्दू समाज से संबंधित घटनाओं की तिथियों का जो ठीक-ठाक ज्ञान जो अभी तक प्राप्त हो सका है व मुख्य रूप से उत्कीर्ण साक्ष्यों पर आधारित है।

सारांश यह है कि नानाविध उत्कीर्ण लेख प्राचीन भारतीय इतिहास के अति महत्वपूर्ण एवं विश्वसनीय स्रातों में से एक हैं।

स्मारक एवं भवन :

इतिहास में प्राचीन स्थापत्यकार, वास्तुकार और चित्रकार किसी भी लेखक व इतिहासकार से कम नहीं है। प्राचीन भारत के जो मंदिर, स्तूप, गुफाएं, मूर्तियां आदि पर चित्रादि मिले हैं जिसमें भारतीय जीवन शैली की छवि की प्रस्तुति हुई है। पाटलीपुत्र की खुदाई में चन्द्रगुप्त मौर्य के लकड़ी के महल के होने की जानकारी मिलती है। यह बिहार के 'कुम्माहर' नामक गाँव में मिले हैं। इसमें लकड़ी के राजप्रासाद के ध्वंसा वेशों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जो कलाकृतियां प्रायः नष्ट हो गई हैं। किंतु अशोक के भारत वर्ष में पाषाण (पत्थरों) का उपयोग पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। अतः अशोक काल व परवर्ती काल की बहुसंख्यक कलाकृतियां आज भी विद्यमान हैं। इनमें भारतीय इतिहास की अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्वरूप आदि।

मुद्राएं :

इतिहास निर्माण में मुद्राओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस कथन की प्रमाणिकता इस बात से होती है कि 206 B.C. से 300 A.D. तक का भारतीय इतिहास का ज्ञान हमें प्रमुखतः मुद्राओं की सहायता से ही प्राप्त होता है। मुद्राओं की महत्ता इतनी अधिक स्वीकार की गई है कि आज उनके अध्ययन के लिए एक पृथक और स्वतन्त्र विषय या शास्त्र 'मुद्राशास्त्र' जिसे न्यूमिस्मेटिक्स कहते हैं। वह अलग विषय बन गया है। प्राचीन सिक्के तांबे, चांदी और सीसे के प्राप्त होते हैं। पकाई गई मिट्टी के सांचे बहुतायत में प्राप्त होते हैं। अधिकतर ये सांचे कुषाण काल के अर्थात् ईसा की आरम्भिक तीन सदियों के हैं। प्राचीन काल में बैंकिंग प्राणाली आधुनिक समय जैसी नहीं थी। इस कारण जन सामान्य अपना धन मिट्टी व कांसे के बर्तन में जमीन के नीचे खोदकर रख देते थे जो उनकी आवश्यकता व कष्टप्रद स्थिति में उपयोग में आ सके। इस प्रकार की अनेक विधियां जिनमें भारतीय व विदेशी विशेषकर इन्डोग्रीक टकसालों में ढाले गए सिक्के हैं। देश के विभिन्न भागों में उत्खनन के दौरान प्राप्त हुई हैं। ये विधिया कोलकाता, मुम्बई, चेन्नई, जयपुर, पटना, दिल्ली,

लखनऊ, कुरुक्षेत्र, झज्जर आदि के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। अधिकांश भारतीय सिक्के नेपाल, बांग्लादेश, पाकिस्तान, अफगानिस्तान व इंग्लैंड के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

भारत में सिक्कों की प्राचीनता का स्तर आठवीं सदी ई. पू. तक है परन्तु नियमित सिक्के छठी शताब्दी ईसा पूर्व से ही प्रचलन में आए हैं। प्राचीनतम भारतीय सिक्कों पर किसी प्रकार का लेख नहीं है। उन पर अनेक प्रकार के चिह्न उत्कीर्ण हैं। ये आहत् सिक्के या पंचमार्क्ड कोएंस कहलाते हैं। वैदिकोत्तर साहित्य में इसे कार्षापण भी कहा गया है। ये अधिकांशत: चांदी के हैं। हिन्द युनानी शासकों ने सर्वप्रथम सिक्कों पर लेख अंकित किए हैं। लेखों से संबंधित राजा की सूचना प्राप्त होती है। सबसे अधिक तांबे, चांदी व सोने के सिक्के मौर्योत्तर युग के हैं। मुद्राओं की सहायता से संबंधित काल के धार्मिक विश्वास, कला, शासन पद्धति तथा साम्राज्य विस्तार व विजयों का ज्ञान प्राप्त होता है। कनिष्क की मुद्राओं से उसके बौद्ध धर्म के अनुयायी होने का पता चलता है। शक-पहलव युग की मुद्राओं में अधिक कांसा मिश्रित स्वर्ण मिलता है जिससे तात्कालिक आंतरिक अशांति तथा कमजोर आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। कुषाण काल की स्वर्ण मुद्राएं सर्वाधिक शुद्ध स्वर्ण मुद्राएं हैं व गुप्तकाल में सर्वाधिक सोने के सिक्के जारी हुए हैं। मालव यौद्धेय आदि गणराज्यों के इतिहास की जानकारी हमें मुख्यत: सिक्कों से ही होती है। कभी-कभी मुद्राओं से राजाओं की व्यक्तिगत गुणों व रूचियों का पता भी चलता है। जैसे समुद्रगुप्त से उसके कुशल वीणावादक होने का पता चलता है। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त की अश्वमेघ शैली की मुद्राओं से अश्वमेघ यज्ञ की सूचना भी मिलती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की व्याघ्रशैली की मुद्राओं से उसकी पश्चिमी भारत के शकों की विजय की सूचना मिलती है। इस प्रकार मुद्राएं अर्थात् सिक्के प्राचीन भारतीय इतिहास निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

निष्कर्ष :

इस प्रकार उपरोक्त तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि पुरातत्व संबंधी सामग्री हमारे इतिहास निर्माण में बहुत सहायक है। प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए पुरातात्विक सामग्री सर्वाधिक विश्वसनीय मानी गई है, क्योंकि साहित्यिक व विदेशी विवरण के स्रोत लेखकों का स्वयं का दृष्टिकोण व रूचि से प्रभावित होते हैं। उदाहरण के रूप में चीन के यात्रियों ने भारतीय समाज का वर्णन बौद्ध दृष्टिकोण से किया है जबकि पुरातात्विक स्रोत की ये सीमाएं नहीं हैं। ये ज्यादा सटीक जानकारी प्रदान करते हैं। अनेक संदिग्ध ऐतिहासिक मतों का इन पुरातात्विक स्रोतों की मदद से खण्डन-मण्डन हुआ है। इतिहास निर्माण का यह पहला नियम है। निश्चित सत्य के रूप में प्रतिपादित करने से पूर्व हमें अपने कथन पर पूरी तरह से अवलोकन किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास में जहां पर ऐतिहासिक साहित्य का अभाव रहा है वहीं पर हमें पुरातात्विक अवशेषों का सहारा लेना पड़ता है। अत: प्रागैतिहासिक भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में इतिहासकारों को पूर्णत: पुरातात्विक सामग्री पर निर्भर रहना पड़ता है। पुरातत्व शास्त्री पुरातात्विक साधनों की सहायता से प्राचीन इतिहास की एक विश्वसनीय झांकी प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं।

सहायक प्रोफेसर (NCWEB)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. डा. ए. सी. अरोड़ा, प्राचीन भारतीय इतिहास, पृ. 32
2. डा. विमलचन्द्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 18
3. प्रतियोगिता दर्पण, भारतीय इतिहास, पृ. 6
4. सिविल सिर्विसिज क्रोनिकल, भारतीय इतिहास
5. मनिक लाल गुप्त, इतिहास प्रतियोगिता साहित्य सीरिज, पृ. 10
6. डॉ. ए. एस. पाण्डेय, द प्राचीन भारतीय इतिहास, पृ. 20
7. किरण कम्पीटिशन्स टाइम्स, पृ. 5
8. हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ. 262
9. साउथ इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ. 9
10. इण्डियन पेलियोग्रॉफी (आंग्ल-अनुवाद), पृ. 17
11. रिज डेविड्स बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 108
12. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 1
13. इण्डियन पेलियोग्रॉफी, पृ. 4

डॉ. पुष्कर सिंह

रामकाव्य परंपरा में साकेत का स्थान

रामकथा अत्यंत प्राचीन है। भारत में दो हजार वर्ष पूर्व से राम विषयक काव्य रचना होती रही है। सबसे पहले रामकाव्य के रूप में 'वाल्मीकि रामायण' दिखाई देती है, इसमें राम को मानव के रूप में दिखाया गया है, बाद में बौद्धों के प्रभाव से अवतारवाद का जन्म हुआ, जिसके परिणामस्वरूप राम को विष्णु का अवतार मान लिया गया। 'विष्णु पुराण' और 'अध्यात्म रामायण' में राम को अवतार के रूप में स्थापित किया गया। रामकाव्य के अंतर्गत भक्ति का प्रवर्तन आचार्य रामानुजाचार्य की परंपरा में राघवानंद द्वारा होता है। उनके शिष्य रामानंद ने चौदहवीं शताब्दी में राम-भक्ति संप्रदाय को जन्म दिया। इन्हीं के शिष्य तुलसीदास द्वारा चर्चित रामकाव्य 'रामचरितमानस' की रचना हुई।

तुलसी से पूर्व हिंदी में रामकाव्य परंपरा पर यदि दृष्टि डालें तो आदिकालीन ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' में दशावतार वर्णन के अंतर्गत राम की कथा दिखाई देती है। उसके पश्चात 'विष्णुपुराण' ने इस दिशा में प्रयास किया इसी परंपरा में ईश्वरदास कृत 'भरत मिलाप' और 'अंगद पैज' चर्चित रचनाएं हैं।

डॉ. गणपति चंद्रगुप्त ने तो 'रामचरितमानस' संबंधी 'भरत मिलाप' को प्रथम प्रबंध काव्य स्वीकार किया। तुलसीदास उत्कृष्ट कवि होने के साथ-साथ सबसे बड़े राम भक्त थे। उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'रामचरितमानस' रामकाव्य परंपरा में सबसे ऊंचा स्थान रखती है। वैसे तो तुलसी ने 'पार्वती मंगल', 'रामलला नहछू', 'जानकी मंगल', 'गीतावली', 'बरवै रामायण', 'कवितावली' जैसी रचनाएं भी लिखी हैं; लेकिन उनके यश का मूल ग्रंथ 'रामचरितमानस' ही है, जोकि सात कांडों में विभाजित है। 'रामचरितमानस' के लिए तुलसी ने 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'विष्णु पुराण', 'शिव पुराण', 'श्रीमद्भागवत', 'उत्तररामचरित' जैसे ग्रंथों को आधार रूप में लिया है। तुलसी ने राम के शक्ति और सौंदर्य के विरोधाभासी गुणों का समन्वय किया है। तुलसी की दृष्टि समन्वयवादी दृष्टि है।

डॉ. नगेंद्र के अनुसार ''तुलसी ने राम के विराट रूप का दर्शन ग्रहण कर जीवन के व्यापक क्षेत्र में उसे अवतरित किया। उन्होंने राम में अनंत सौंदर्य, अनंत शक्ति का समावेश कर उनका ईश्वर रूप पूर्ण कर दिया और उधर राम के जीवन में आर्य जीवन को समाहित करते हुए राम का भारतीय जीवन से संबंध स्थापित कर दिया है।''

तुलसी रामकाव्य के माध्यम से न केवल ईश्वर भक्ति की है अपितु अपने बिखरते समाज में आदर्श की स्थापना की है। उनके राम आदर्श जीवन की प्रस्तुति है। उनके राम एक आदर्श पुत्र हैं, आदर्श भाई हैं, आदर्श सखा है। तुलसी ने मानस के माध्यम से समन्वय की विराट चेष्टा भी की है। समन्वय करने में उन्होंने निर्गुण और सगुण, ज्ञान और भक्ति, राजा और प्रजा, ब्राह्मण और शूद्र, शास्त्र और लोक संस्कृति के साथ-साथ संस्कृत और लोक भाषा आदि विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय किया है।

तुलसी के परवर्ती काल में कई रामचरित काव्यों की रचना हुई जिनमें 'रामचंद्रिका', 'रामायण महानाटक', 'हनुमन्न नाटक', 'राम रासो', गोविंद रामायण आदि दिखाई देते हैं।

'रामचंद्रिका' लेकिन हिंदी काव्य परंपरा के अंतर्गत एक विशिष्ट कृति है। यह प्रबंध काव्य उनतालीस प्रकाशों में विभक्त है लेकिन इस रामकाव्य पर अनेक प्रश्न चिन्ह लगे हैं; क्योंकि यह काव्य भक्ति का कम दिखाई देता है। यह रीतिकालीन कलात्मक चकाचौंध के अंदर उलझकर रह गया है। वास्तव में केशव राज्याश्रित, श्रृंगारी कवि थे। अत: यह विषय उनकी रुचि के अनुकूल भी न था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार ''प्रबंध काव्य रचना के योग्य ना तो केशव में अनुभूति ही थी, ना शक्ति। परंपरा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के फुटकल वर्णन ही अलंकारों की भरमार के साथ भी करना जानते थे।'' इसीलिए शुक्ल जी ने केशव को 'हृदयहीन कवि', 'कठिन काव्य का प्रेत' भी कहा है। शुक्ल जी ने उनकी रामचंद्रिका को 'छंदों की प्रदर्शनी' कहा है, वहीं रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी इनकी रामचंद्रिका को 'छंदों का अजायबघर' कहा है। केशव ने भाव की अपेक्षा कलात्मकता व अलंकृति को अधिक महत्व दिया है, इसीलिए डॉ. नगेंद्र ने इसे न भक्ति-काव्य माना, न जीवन-काव्य, बल्कि एक अलंकृत-काव्य माना है।

प्राणचंद चौहान का 'रामायण महानाटक' एक संवादात्मक प्रबंधकाव्य है। जो दोहा-चौपाई शैली में है। 'हनुमन्नाटक' हृदयराम का है, जिसमें पन्द्रह सौ छंद है। इसमें रामकथा को जानकी स्वयंवर से लेकर राम के राज्याभिषेक तक प्रस्तुत किया गया है। 'रामरासो' माधवदास चारण कवि द्वारा रचित रामकाव्य है। इसमें संस्कृत के 'अध्यात्म रामायण' को आधार बनाया गया है। नरहरि बारहट का 'पौरुषेय रामायण' एक बड़े आकार का ग्रंथ है इसमें इक्कीसवें अवतार के रूप में श्रीराम के चरित्र का वर्णन है। मुख्य रूप से यह 'वाल्मीकि रामायण' पर आधारित है। जिसकी भाषा राजस्थानी व ब्रज मिश्रित अवधी है। डॉ. विजेंद्र स्नातक ने इसे रामकाव्य परंपरा की एक प्रौढ़ कृति माना है। गुरु गोविंद सिंह द्वारा रचित 'गोविंद रामायण' भी एक विलक्षण ग्रंथ है, क्योंकि गुरु गोविंद सिंह करवाल और कलम दोनों के धनी थे। इस रामकाव्य में राम का तेजस्वी वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त नवल सिंह कृत 'रामचरित चंद्रविलास', 'आल्हा रामायण', 'रूपक रामायण', विश्वनाथ सिंह द्वारा रचित 'आनंद रामायण', सरजूराम पंडित द्वारा रचित 'जैमिनी पुराण भाषा', मधुसूदन दास द्वारा रचित 'रामाश्वमेध' भी उल्लेखनीय है।

तुलसी के बाद कई रामभक्त कवियों ने कृष्ण काव्य की लोकप्रियता से प्रभावित होकर जो रामकाव्य लिखे उनमें राम को मर्यादा पुरुषोत्तम ना दिखाकर कृष्ण के समान रसिक और छलिया दिखाया गया। राम और सीता की प्रणय लीलाओं का सरस वर्णन इन कवियों ने किया। जिसमें लालदास कृत 'अवध विलास', जानकी रसिक शरण कृत 'अवध सागर', जनक राजकिशोरी शरण कृत 'जानकी करुणाभरण', अग्रदास कृत 'अष्टयाम' आदि प्रमुख हैं।

आधुनिक काल में रचित प्रसिद्ध रामकाव्य 'रामचरित चिंतामणि', 'साकेत', 'रामचंद्रोदय', 'कौशल किशोर', 'साकेत संत', 'कैकयी', 'वैदेही वनवास' आदि दिखाई देते हैं। रामचरित उपाध्याय द्वारा रचित 'रामचरित चिंतामणि' पच्चीस वर्गों में विभक्त महाकाव्य है, जिसमें 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'रामचरितमानस' को आधार बनाया गया है, फिर भी राम के चरित्र का विकास प्रभावशाली ढंग से नहीं हो पाया है। डॉ. नगेंद्र ने आधुनिक युग में प्रणीत रामकाव्य का आकलन करते हुए लिखा है कि ''इस युग में आकर 'रामचरित चिंतामणि', रामचरित चंद्रोदय' एवं 'कौशल किशोर' तीन महाकाव्यों के सृष्टि हुई। तीनों में महाकाव्य के लक्षण विद्यमान होने पर भी काव्य में कुछ कमियाँ हैं। पहले में नैतिक दृष्टिकोण से रामचरित का वर्णन है, परंतु मानव-मनोविज्ञान का आधार ना होने से इस ग्रंथ का विशेष साहित्यिक मूल्य नहीं रह गया। 'रामचरित चंद्रोदय' 'रामचंद्रिका' का आधुनिक स्वरूप है। 'कौशल किशोर' में कवि ने भले ही रामायण का आधुनिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया है, परंतु उसमें जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं है। उनमें रामचरित के उस स्वरूप का तो स्पर्श भी नहीं है, जिसके कारण वे राम हैं। अत: रामकाव्य के केवल दो ही स्तंभ हैं – 'मानस' और 'साकेत'।''

आधुनिक काल में रचित रामकाव्यों में मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित साकेत सर्वोत्तम रामकाव्य है। इस महाकाव्य की विशेषता यह है कि इसमें रामकथा को अवध में घटित होते हुए तथा अलौकिक शक्तियों के द्वारा वहां से दर्शाया गया है। मैथिलीशरण गुप्त उर्मिला विषयक प्राचीन कवियों की उदासीनता से व्यथित थे। परिणामत: उन्होंने उर्मिला के उपेक्षित चरित्र को उजागर करने हेतु 'साकेत' की रचना कीय लेकिन स्वयं रामभक्त होने के कारण इस काव्य को

रामकाव्य से भिन्न स्वरूप ना दे पाए। उन्होंने साकेत लिखने की प्रेरणा अपने गुरु महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंध 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' से की है। 'साकेत' के अंतर्गत राम के नर में नारायण दोनों रूपों के दर्शन हो जाते हैं। उन्हें आर्यों का आदर्श बताने तथा आर्य संस्कृति के उद्धार के लिए पृथ्वी पर अवतरित होते हुए दिखाया है। वे विवश, विकल, दीन-हीन तथा राक्षसों द्वारा प्रताड़ितों को भयमुक्त करके उनकी सहायता करने आए हैं। वे मर्यादा को बचाने तथा आदर्श की स्थापना के लिए आए हैं।

मैं राज्य भोगने नहीं, भुगाने आया,
हंसों को मुक्ता-मुक्ति चुगाने आया।
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरतम प्राप्त कराने आया।
संदेश यहां मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

बारह वर्गों में विभक्त इस महाकाव्य में 'नवम सर्ग' विशेष रूप से प्रधान है। जो उर्मिला को समर्पित है। इसमें उनकी विरह व्यथा का व्यापक वर्णन किया गया है। इस वर्ग में कैकयी के चरित्र को भी उभारने और ऊपर उठाने का प्रयास किया है। उसे ग्लानि बोध से पीड़ित दर्शाया गया है। वह अपनी गलती को स्वीकार करते हुए उसके लिए भारी से भारी दर्द सहने को तैयार है। वह अपने पुत्र भरत की दृष्टि में भी गिर चुकी है। उसे पश्चाताप की अग्नि में जलती देख स्वयं राम उसके मनोबल को बढ़ाते हुए कहते हैं-

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने जना भरत-सा भाई।
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई-
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।

आधुनिक युग में लिखे जाने के कारण 'साकेत' में आधुनिक विज्ञान सम्मत दृष्टिकोण अपनाया गया है। आज का बौद्धिक मानव हर घटना को तर्क की कसौटी पर परखता है। अत: गुप्त जी ने ऐसी घटनाओं का या तो परिहार किया है, जो नितांत अविश्वसनीय अथवा अलौकिक प्रतीत होती हो, उन्हें बुद्धि सम्मत बनाने का प्रयास किया है। 'साकेत' का अभिव्यंजना पक्ष भी समृद्ध बन पड़ा है। कवि ने प्रत्येक सर्ग में भिन्न छंद का प्रयोग किया है। 'नवम सर्ग' में विरहणी की मनोदशा के अनुसार छंद बदलते हैं और सभी शब्दों का सुंदर, सरस प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए-

बचकर हाय पतंग मरे क्या?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या?
जले नहीं तो मरा करे क्या?
क्या यह असफलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

'साकेत' भाव और भाषा दोनों दृष्टि से उत्तम है। 'साकेत' से पूर्व हिंदी में रामकाव्य का जिनका उल्लेख किया गया, उसमें केवल तुलसीदास का 'रामचरितमानस' ही 'साकेत' की टक्कर का काव्य दिखाई देता है, लेकिन आधुनिक काल में 'साकेत' ही श्रेष्ठ काव्य है। जिसके आधार पर मैथिलीशरण गुप्त को 'आधुनिक काल का तुलसी' भी कहा जाता है। इस संदर्भ में डॉ. नगेंद्र ने कहा है कि ''तुलसीदास का काव्य ही एक प्रकार से हिंदी में रामकाव्य का इतिहास है।''

'साकेत' एक श्रेष्ठ रामकाव्य होते हुए भी जनसामान्य में वह स्थान नहीं बना सका, जो 'रामचरितमानस' ने बनाया। तुलसी के 'मानस' से मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' आगे निकल सकता था अगर उसमें राम के विराट चरित्र का समन्वित उल्लेख होता। 'साकेत' में बारह सर्ग हैं जबकि 'रामचरितमानस' में सात कांड हैं। मार्मिक स्थलों में भी 'रामचरितमानस' में ज्यादा मार्मिकता दिखाई देती है। कथा संयोजन की दृष्टि से 'साकेत' 'मानस' से बहुत पीछे रह जाता है। उसके कथानक में शैथिल्य विसंगतियां हैं। कहीं घटनाओं की भरमार है, कहीं जबरदस्ती उन्हें संयुक्त करने का प्रयास किया गया है, कहीं कथा लंबी हो गई है तो कहीं बहुत द्रुत गति से चलती है। 'नवम सर्ग' में आकर तो मानो कथा ठहर ही जाती है। 'साकेत' में बाह्य संघर्ष का भी अभाव है। 'मानस' के कथानक में रावण वध उसका लक्ष्य है, जबकि 'साकेत' में लक्ष्मण उर्मिला का मिलन प्रधान है। रावण वध उतना महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत होता, जितना 'मानस' में है। 'मानस' में राम का चरित्र बड़ी भव्यता से प्रस्तुत किया गया है। गुप्तजी ने अपने काव्य में मुख्य रूप से उर्मिला के चरित्र को ही उभारने का प्रयास किया है। मानस में उर्मिला के कई इत्यादि पात्र उपेक्षित रह गए हैं, उन्हीं को उभारना 'साकेत' को लिखने का मूल कारण दिखाई देता है। 'मानस' में कैकयी के दुष्कर्म के

कारण उसे नितांत त्याज्य मान लिया गया है, जबकि गुप्तजी ने उसे मानवीय धरातल पर देखा-परखा है। उर्मिला के चरित्र के प्रति महाकवियों की उदासीनता का तो साकेत में परिहार हुआ ही हैय उसके त्याग-धैर्य-करुणा तथा पर-दुख कातरता को भी रेखांकित किया गया है।

गुप्तजी ने 'साकेत' में आधुनिक बोध को अपनाया है। जो प्रसंग अथवा घटनाएं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होते उनको बुद्धि संगत बनाने का प्रयास किया है। जैसे हनुमान को संजीवनी लाते समय पर्वत उठाकर उड़ते नहीं दर्शाया बल्कि भरत से ही वह बूटी उन्हें दिलवा दी गई है। राम-लक्ष्मण की सहायता के लिए भरत व शत्रुघ्न का सेनाएं तैयार करना सहज भी प्रतीत होता है। मानस में समुद्र सुखाने का वर्णन है, जो असंभव प्रतीत होता है। अतः 'साकेत' में उसे स्थान नहीं दिया गया है। 'साकेत' के अंतर्गत सीता द्वारा आमंत्रित उर्मिला व लक्ष्मण की क्षणिक भेंट भी रोचक बन पड़ी है। मानसकार ने इस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार 'मानस' में राम पिता के विषाद का कारण कैकयी से पूछते हैं। वह निर्लज्जता से सब कुछ बता देती है जबकि 'साकेत' में इसे अति स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया गया है। उसे अपने कुकृत्य का बोध है। अतः वह कुछ नहीं बोलती राजा दशरथ राम का मुख कैकयी की ओर करके उसे धिक्कारते हुए कहते हैं-

अभागिनी देख कोई क्या कहेगा?
यही चौदह बरस बन में रहेगा,
भरत का भी ना ऐसे राज्य होगा,
प्रजा-कोपाग्नि का वह राज्य होगा।

सीता का चरित्रांकन 'साकेत' में अधिक सुंदर बन पड़ा है। वह स्वावलंबी दिखाई गई है। आदिवासी बालिकाओं को चरखा इत्यादि सिखाते हुए जीवन के प्रति उसकी सकारात्मक दृष्टि परीक्षित होती है। इसी प्रकार राम राजतंत्र में विश्वास करते हुए भी उसे अधिकृत मानते हैं। राम से राज्य ले लेने के बाद लक्ष्मण शोक व्यक्त करते हैं-

भला वे कौन जो राज्य लेवें,
पिता भी कौन जो राज्य देवें,
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा,
मुकुट है श्रेष्ठ ही पाता हमारा।

राज्य के सारे नियम जनसामान्य के मंगल के लिए हैं। राम जी सीता से कहते हैं कि वह दुखी प्राणियों के कल्याण के लिए इस भूमि पर अवतरित हुए हैं। 'साकेत' के अंतर्गत राम का व्यक्तित्व व कृतित्व अधिक मानवतावादी है-

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
संदेश यहां मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

इस प्रकार साकेतकार ने अपने युग के अनुरूप 'साकेत' का सृजन किया है, इसीलिए डॉ. नगेंद्र ने 'मानस' को भक्ति काव्य तथा 'साकेत' को जीवन काव्य कहा है। सच्चाई यह है कि 'साकेत' में भक्ति को चाहे इतना महत्व न दिया गया हो, लेकिन मानस को मात्र भक्ति काव्य नहीं कहा जा सकता। वह जीवन से पूर्णता जुड़ा हुआ काव्य है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त का भी यही मत है कि मानस में जीवन की एक विस्तृत भूमिका ली गई है। उसका लक्ष्य मानवता को अशक्ति से शक्ति, अशांति से शांति और ऊंचे से नीचे ले जाना है। इसके लिए उन्होंने मर्यादा व भक्ति को महत्व दिया है। साकेतकार का भी दृष्टिकोण मानवतावादी है, लेकिन उसने भक्ति की अपेक्षा सामाजिक क्षमता पर बल दिया है।

निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी,
हम तो समझती के लिए व्यष्टि बलिदानी।
आनंद हमारे ही अधीन रहता है,
तब भी विषाद नरलोक व्यर्थ सहता है।
करके अपना कर्तव्य रहो संतोषी,
फिर सफल हो कि तुम भी फल न होंगे दोषी।

गुप्तजी ने अपनी काव्य कला का उत्तम निर्देशन 'साकेत' में किया है। वे तुलसीदास के 'मानस' के काव्य-उत्कर्ष तक नहीं पहुंच पाए हैं। अतः यही कहा जा सकता है कि 'रामचरितमानस' हिंदी रामकाव्य परंपरा का सर्वोत्तम काव्य है। वह अद्वितीय है, जबकि साकेत द्वितीय है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. तुलसी संदर्भ : माताप्रसाद गुप
2. रामचरितमानस : तुलसीदास
3. राम भक्ति काव्य परम्परा में महाकवि तुलसी का स्थान : सतबीर सिंह
4. रामकाव्य भक्ति परम्परा और साहित्य का अध्ययन : डॉ. रामकुमार
5. साकेत : मैथिलीशरण गुप्त
6. हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : डॉ. गणपति चंद्रगुप्त
7. हिंदी साहित्य का इतिहास : संपादक डॉ. नगेंद्र और हरदयाल
8. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल
9. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : विजयेन्द्र स्नातक

शोध-पत्र

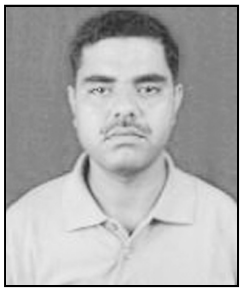

पंकज कुमार सोनी

नई शिक्षा नीति 2019 के संदर्भ में विकलांग व्यक्तियों के समवायजन

कई मुद्दों पर बहुत विश्लेषण किया गया है लेकिन आर्थिक दृष्टिकोण के रूप में विकलांगता के मद्देनजर बहुत कम विश्लेषण किए गए हैं। विकलांगता के लिए चर्चा करना कोई नई बात नहीं है और इसने वैज्ञानिक और राजनीतिक चर्चा का एक बड़ा कारण उत्पन्न किया है। विशेष रूप से 1970 के दशक के बाद से, दुनिया भर में विकलांग व्यक्तियों के बढ़ते सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों ने विकलांगता और पुनर्वास नीतियों के अध्ययन और विश्लेषण को काफी प्रभावित किया है। नतीजतन, सामाजिक धारणा में एक उल्लेखनीय बदलाव आया है और विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत-केंद्रित चिकित्सा या नैदानिक समस्या से सामाजिक-राजनीतिक समस्या तक विकलांगता का मुद्दा है। विकलांगता की घटना को अब विकलांगता के पारंपरिक दृष्टिकोण के रूप में मामलों की एक व्यक्तिगत स्थिति के रूप में नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार, विकलांगता के संरचनात्मक चरित्र पर ध्यान केंद्रित करने की अधिक आवश्यकता है। विकलांग व्यक्तियों के सामने आने वाली समस्याओं को बढ़ाने के लिए सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तंत्र की आवश्यकता होती है।

अधिकांश देशों में, विकलांगता की प्रकृति पर जनता की राय और बहस और समुदाय की चुनौतियां पिछले कुछ दशकों के दौरान भारी परिवर्तन से गुजरी हैं। मानव अधिकारों का संवर्धन और संरक्षण एक सतत संघर्ष है। चूँकि मानवाधिकार मूलत: लोगों का अधिकार है, दोनों व्यक्तियों और समूहों के रूप में, लोगों के लिए लगातार सतर्कता और कार्रवाई की आवश्यकता है। विकलांग व्यक्तियों के सामने आने वाली समस्याएं मुख्य रूप से उनके मानवाधिकारों का सवाल है- जन्मजात विशेषताओं के विकास के लिए शर्तों की उपलब्धता, जो प्रकृति ने उन्हें एक इंसान के रूप में दिया है। इस मुद्दे को विसर्जित करने के लिए मानव अधिकारों के लिए संघर्ष बहुत लागू है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि लगभग सभी समाजों में विकलांगों को उत्पीड़ित, हाशिए पर रखा गया है और कलंकित किया गया है। एक व्यक्ति शारीरिक और सामाजिक बाधाओं के एक मेजबान की पहचान कर सकता है जो अभिनय में अक्षम है और सामुदायिक जीवन में भाग ले रहा है, न कि एक असंबद्ध इकाई के रूप में जो सामाजिक रूप से पूरी तरह से तलाकशुदा है।

विकलांग व्यक्तियों के लिए मानव अधिकारों को प्राप्त करने के लिए वैश्विक आंदोलन एक हालिया घटना है। यह अध्ययन समाज-विकलांग व्यक्तियों के सबसे कमजोर वर्ग के मानवाधिकारों के संवर्धन और संरक्षण के लिए गतिविधियों और चिंता का विश्लेषण करना चाहता है। विश्व भर में स्वास्थ्य, बीमारी और विकलांगता के क्रॉस-सांस्कृतिक धारणाओं की समीक्षा करना, जिसने पिछले कुछ दशकों के दौरान और सामाजिक धारणाओं और सार्वजनिक नीति पर इसके प्रभाव को गति दी है। हमारा देश, भारत इस पहल का एक हिस्सा है।

विकलांगता का संरचनात्मक चरित्र अभिनय और सामाजिक जीवन में भाग लेने में अक्षम लोगों द्वारा सामना की जाने वाली सामाजिक बाधाओं के संदर्भ में सामाजिक बहिष्कार की व्याख्या करना चाहता है। विकलांग लोगों को

उनकी ताकत, योग्यता और क्षमताओं के साथ समाज में एक सम्मानजनक स्थिति में तैयार करने और संलग्न करने में सक्षम बनाना संघीय और राज्य नीति निर्माताओं के लिए एक प्राथमिकता का विषय है। परिणामस्वरूप, नीति निर्माता विकलांग व्यक्तियों की स्थितियों में सुधार के लिए डिजाइन की गई पहलों को अपना रहे हैं, जबकि साथ ही साथ उचित आय सुरक्षा और स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रमों को बनाए रखते हैं। हाल के वर्षों में अपनाई गई नीतिगत पहलों में नागरिक अधिकार संरक्षण, आय संरक्षण (नकद सहायता), स्वास्थ्य कवरेज, रोजगार से संबंधित सेवाएं और समर्थन, संपत्ति विकास और प्रतिधारण, और कर नीति से संबंधित कानून शामिल हैं। नीति निर्माताओं को यह जानने की जरूरत है कि क्या ये पहल विकलांग व्यक्तियों के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता बढ़ाने और विकलांगता नीति के अन्य लक्ष्यों को प्राप्त करने में सफल हो रही है, जैसे पूर्ण भागीदारी (आत्मनिर्णय) और स्वतंत्र जीवन, और यदि नहीं और क्यों नहीं तो वैकल्पिक दृष्टिकोण हो सकते हैं अधिक सफल हो।

यह अध्ययन नीति के कुछ खामियों के लिए नीति-निर्माता का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश करता है जो हमेशा उस नीति की विफलता का मुख्य कारण होता है। यह पेपर चार मुख्य वर्गों में विभाजित है। इस अध्ययन का पहला खंड नई दीक्षाओं के साथ विकलांगता की अवधारणा को विस्तृत करता है जो संयुक्त राष्ट्र द्वारा सही दृष्टिकोण के साथ विकसित किया गया है और विकलांगता की लागत को मापने के लिए कुछ सैद्धांतिक प्रयास भी दिखता है। इस तरह, यह खंड नीति निर्माताओं के लिए विकलांगता की एक सैद्धांतिक अवधारणा स्थापित करता है। इस पत्र का दूसरा खंड अंतर्राष्ट्रीय समन्वय की मदद से नीति निर्धारण पर एक नई दृष्टि बनाने की कोशिश करता है। यह खंड घरेलू मोर्चों के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय उपकरणों के रूप में विकलांगता मुद्दे के विकास का अवलोकन प्रदान करता है। इस लेख का तीसरा खंड न्याय और अधिकार के आधार पर सार्वजनिक नीति के साथ विकलांगता से संबंधित है। यह खंड सैद्धांतिक संदर्भ के रूप में भारतीय संदर्भ में नीति निहितार्थ के सिद्धांत और व्यवहार के बीच बेमेल पर ध्यान आकर्षित करता है। इस पत्र के चौथे और अंतिम खंड में नीति निहितार्थ के लिए कुछ निष्कर्ष शामिल हैं। यह खंड बताता है कि समस्या को कैसे कम किया जाए।

विकलांगता को परिभाषित करने और मापने के लिए एक बहुत ही विवादास्पद और जटिल अवधारणा साबित हुई है। संक्षेप में, विकलांगता को परिभाषित करने के लिए विभिन्न वैचारिक मॉडल बनाए गए हैं। उदाहरण के लिए, चिकित्सा मॉडल विकलांगता को व्यक्ति की समस्या के रूप में मानता है जो सीधे किसी बीमारी, चोट या अन्य स्वास्थ्य स्थितियों के कारण होता है और उपचार और पुनर्वास के रूप में चिकित्सा देखभाल की आवश्यकता होती है। हानि के साथ एक व्यक्ति को अक्षम माना जाता है (जहां हानि शारीरिक, शारीरिक या मानसिक हानि या असामान्यता है) चाहे वह व्यक्ति अपने जीवन की गतिविधियों में सीमाओं का अनुभव करता हो। मेडिकल मॉडल आमतौर पर सामाजिक मॉडल के विपरीत होता है। कुल मिलाकर, सामाजिक मॉडल विकलांगता को सामाजिक निर्माण के रूप में देखता है। विकलांगता व्यक्ति की विशेषता नहीं है; बल्कि यह सामाजिक परिवेश द्वारा बनाया गया है और इसके लिए सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता है। सामाजिक मॉडल में, विकलांगता राजनीतिक स्तर पर एक मानवाधिकार मुद्दा बन जाती है। हाल ही में, मित्र ने ए.के. का उपयोग करके विकलांगता की अवधारणा को परिभाषित किया। सेन की क्षमताओं के दृष्टिकोण ने जीवन स्तर, गरीबी और विकास के मानकों की अवधारणाओं का विश्लेषण किया। यहां, विकलांगता को क्षमताओं के अभाव के रूप में समझा जाता है जहां क्षमताएं व्यावहारिक अवसरों का उल्लेख करती हैं। विकलांगता तब होती है जब हानि वाला व्यक्ति व्यावहारिक अवसरों से वंचित होता है। अधिक सटीक रूप से, व्यक्ति के लिए उपलब्ध संसाधनों, व्यक्तिगत विशेषताओं (जैसे, हानि, आयु, लिंग) और पर्यावरण (भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक) के बीच पारस्परिक क्रिया से वंचित होने का परिणाम है।

दुनिया भर में विकलांगता क्षेत्र ने WHO के 1976 के नुकसान, विकलांगता और विकलांगों के विवरण को विशेष रूप से नीतिगत परिप्रेक्ष्य से नीति निर्धारण, राजनीतिक कार्रवाई और समस्याग्रस्त के लिए भ्रमित पाया। बढ़ती चिंता का जवाब देते हुए, WHO ने हानि, विकलांगता और बाधा के बीच संबंधों को फिर से परिभाषित किया, जो यह स्थापित करता है कि 'हानि' अंग-स्तर के कार्यों

या संरचनाओं को संदर्भित करता है, 'विकलांगता' शारीरिक और मानसिक-संज्ञानात्मक गतिविधियों में व्यक्ति-स्तर की सीमाओं को संदर्भित करता है और 'सामाजिक क्षमताओं या व्यक्ति और समाज के बीच संबंध में बाधा।'

इस प्रकार, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानक नियमों ने विकलांगता को एक परिप्रेक्ष्य से परिभाषित किया है जो सामाजिक परिस्थितियों पर जोर देता है जो व्यक्तियों के एक समूह को उनकी परिस्थितियों के अनुकूल तरीके से अवसरों की पहुंच की जरूरतों को अनदेखा करके अक्षम करता है।

जैसा कि अनुमान लगाया जा सकता है, विकलांगता को मापने के अलग-अलग तरीके हैं जो विकलांगता की विभिन्न वैचारिक परिभाषाओं के अनुरूप हैं। मूल रूप से, तीन विकलांगता उपाय हैं जो आमतौर पर लागू विकलांगता अनुसंधान-हानि, कार्यात्मक सीमा और गतिविधि सीमा उपायों में उपयोग किए जाते हैं।

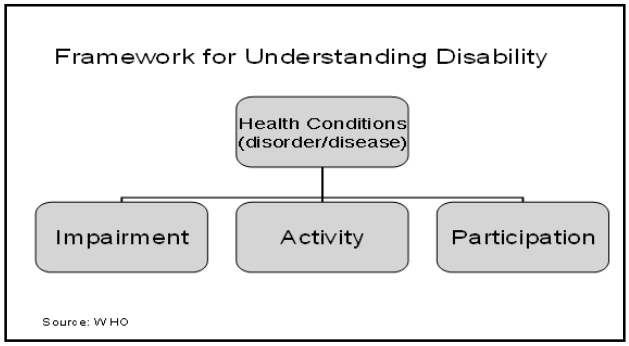

Figure 1: Framework for Understanding Disability

ब्रिटिश काउंसिल द्वारा अपनाई गई विकलांगता की परिभाषा उन सामाजिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखती है, जो दूसरों से अलग तरीके से अवसरों तक पहुँचने की उनकी आवश्यकताओं की अनदेखी करके व्यक्तियों के एक समूह को अक्षम कर देती हैं। हालाँकि, यह इन सामाजिक परिस्थितियों को विकलांगों के मानवाधिकारों के उल्लंघन के रूप में और उनके खिलाफ भेदभाव के उदाहरणों के रूप में भी देखता है। इस परिभाषा के अनुसार, ''विकलांगता एक ऐसे समाज के कारण होने वाली गतिविधि का लाभ या प्रतिबंध है जो उन लोगों के बारे में बहुत कम या कोई खाता नहीं है जिनके पास हानि है और इस तरह उन्हें मुख्यधारा की गतिविधियों से बाहर रखा गया है''। इसलिए, नस्लवाद या लिंगवाद की तरह, विकलांगता को भेदभाव के परिणाम के रूप में वर्णित किया जाता है और विकलांग लोगों की अनूठी परिस्थितियों की उपेक्षा की जाती है।

अध्ययनों ने तीन प्रकार के कारकों की पहचान की है जो विकलांग लोगों, या विकलांग लोगों वाले परिवारों को, बदतर (आय) नुकसान से दूर कर सकते हैं; (ii) विकलांगता से उत्पन्न अतिरिक्त लागत, और (iii) सामाजिक और सामुदायिक गतिविधियों से हाशिए पर या बहिष्कार, आदि। विकलांगता और आय के बीच व्यापक संबंध, विशेष रूप से विकलांग व्यक्ति की आय विकलांगता से होने वाली कुछ लागतों पर चर्चा करती है, जिसमें परिवार के अन्य सदस्यों के लिए अप्रत्यक्ष लागत भी शामिल है। यह तब हाशिए और बहिष्कार में योगदान देने वाले कुछ अवरोधों और विकलांग लोगों के कुछ विशेष रूप से कमजोर समूहों को देखता है।

विकलांगता स्पष्ट रूप से एक प्रासंगिक उदाहरण है जहां एक पर्याप्त संसाधन विभिन्न मानव आवश्यकताओं और बंदोबस्तों की पूरी श्रृंखला का पूरा लेखा-जोखा लेता है, इसमें संसाधनों के चयन और वजन की आवश्यकताएं शामिल होंगी। यह मानना असंभव है कि हानि के साथ कई लोगों द्वारा अनुभव किए गए सभी नुकसान भेदभाव के कारण होते हैं। न्याय के एक सिद्धांत को हानि से उबरने में मदद करने के लिए लोगों को सामाजिक संसाधनों को आवंटित करने की आवश्यकता है, क्योंकि वे अपने शारीरिक या मानसिक लक्षणों को आदर्श रूप से सामाजिक वातावरण के अनुकूल नहीं हैं। इसलिए विकलांगता भेदभाव की सीमा को देखना बहुत आवश्यक है। राज्य विकलांगता के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव के बिना विकलांग व्यक्तियों के लिए सभी मानवाधिकारों और मौलिक स्वतंत्रता की पूर्ण प्राप्ति को सुनिश्चित करने और बढ़ावा देने का कार्य करते हैं। मूल रूप से, विकलांगता भेदभाव को तीन-आयामी दृष्टिकोण से समाप्त कर दिया गया है, जो निम्नानुसार है

पहला आयाम

भेदभाव

उचित समायोजन

दूसरा आयाम

विकलांगता मानक

सार्वजनिक पूछताछ

तीसरा आयाम

कार्य योजना

आचरण के नियम

समानता को बढ़ावा देने और भेदभाव को खत्म करने के लिए, इन मुद्दों पर एक नए रूप को समझना आवश्यक है। 21वीं सदी के लिए चुनौती यह है कि मानव अधिकारों के संचालन के लिए तंत्र विकसित किया जाए ताकि समानता एक सार्थक अनुभव हो। मानव अधिकार के लिए, विकलांग लोग अपने समावेश के लिए सामाजिक बाधाओं को पहचानने और प्रतिक्रिया देने में सक्षम हैं।

तीन आयामों में से पहले में, राज्य एक ऐसी प्रक्रिया स्थापित करता है जो अन्यायपूर्ण उपचार का जवाब देने की अनुमति देता है। इस दृष्टिकोण का दूसरा आयाम परिचालन रूप से मानव अधिकारों का है जहां राज्य असमानताओं का जवाब देने में एक सतत भूमिका निभाते हैं और प्रणालीगत भेदभाव से निपटने के लिए सक्रिय रूप से काम करते हैं जिन्हें भेदभाव विरोधी प्रक्रियाओं के माध्यम से बस संबोधित नहीं किया जा सकता है। तीसरा आयाम बड़े पैमाने पर समुदाय की भूमिका प्रदान करके राज्यों और विकलांग लोगों की साझेदारी पर आधारित है।

यह महत्वपूर्ण मुद्दा और रणनीति वंचित समूहों के असमान उपचार और कम प्रतिनिधित्व और बहिष्कार के उपाय के रूप में सकारात्मक कार्रवाई की प्रासंगिकता पर बहस का दिल है। एक तरफ, यह तर्क दिया जाता है कि आरक्षण समानता के लिए मौलिक हैं और इसके लिए यह आवश्यक है कि वंचित समूहों का अलग तरह से व्यवहार किया जाए। दूसरी तरफ, यह तर्क दिया जाता है कि यह दृष्टिकोण विकलांग व्यक्तियों के लिए भी लागू किया जाता है जहां संवैधानिक परियोजना उनके लिए भागीदारी के लिए मुख्य रूप से मुख्य है।

विकलांग व्यक्ति, अपनी संख्यात्मक शक्ति के आधार पर, भारत में एक संभावित शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में माना जा सकता है। उन्हें राजनीतिक प्रणाली से बाहर रखा गया है क्योंकि वे जीवन के कई अन्य क्षेत्रों में हैं। परिणामस्वरूप, उन्हें समाज में अपना पूर्ण और सही हिस्सा खेलने से रोका जाता है। विकलांग व्यक्ति सामाजिक जीवन के सभी प्रमुख क्षेत्रों से अनुपस्थित हैं, जहां वे न केवल उन फैसलों पर सुनवाई कर सकते हैं जो उनके जीवन को प्रभावित करते हैं, बल्कि उनके समुदायों के कल्याण को भी प्रभावित करते हैं। इस दृष्टिकोण से, विकलांग आबादी के विशाल बहुमत से सामाजिक और राजनीतिक अलगाव का निर्धारण कारकों की अधिकता द्वारा किया जाता है। विकलांगता और गरीबी के बीच बहुत अंतरंग संबंध है। विकलांगता की घटनाएं ज्यादातर गरीबी से ग्रस्त और समाज के कम से कम शक्तिशाली क्षेत्रों के बीच केंद्रित हैं, जो ''कम आय, कम शिक्षा और कम कार्य-बल'' की विशेषता है।

असिस्टेंट प्रोफसर
डिपार्टमेंट ऑफ इकोनॉमिक्स
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

Referance :

- National Human Rights Commission
  - (a) Disability Manual 2005
  - (b) Discrimination based on Sex Caste, Religion and Disability
  - (c) Handbook on Employment of Persons with Disabilities in Govt- of India, 2006
  - (d) Human Rights Education for Beginners- Chapter 2 Rights of the Disabled
  - (e) Know your Rights : Rights of Persons with Disabilities
  - (f) Rights of Disabled by Anuradha Mohiti, Meera Pillai and Pratiti Rungta

शोध-पत्र

महामारी में हिंदी साहित्य एवं शोध के बदलते आयाम

रेनु कुकरेती

Abstract

मनुष्य अपनी विचारधारा और जीवन मूल्यों से समाज को दिशा देता रहता है जब यह विचारधारा एक व्यक्ति से जुड़ कर दूसरे व्यक्ति तक पहुँचती है तब कहीं न कहीं बदलाव का रूप हमें दिखाई देता है। परिवर्तन जीवन का नियम है। कभी-कभी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिवर्तनों के दौर से समाज गुजरता है। उन सभी बदलावों में भी मनुष्य जीवन की चुनौतियों के लिए तैयार रहता है और यह जीवन की धारा चलती रहती है। मनुष्य के लिए सबसे बड़ी चुनौती तब होती है जब उसे प्रकृति आपदाओं से लड़ना व जूझना पड़ता है, प्रकृति के कोप के सामने हम लाचार हो जाते हैं क्योंकि कहीं न कहीं हम जानते हैं कि प्रकृति के सामने हम बौने हैं। आज के समय में महामारी का रूप देखकर यह बात सत्य ही लगती है कि प्रकृति में अनेक बदलाव होते हैं जिनके सामने मनुष्य लाचार हो जाता है। साहित्य जगत अपने ढंग से पाठकों के प्रति अपनी जिम्मेदारी निभा रहा है। कोरोना वायरस की महामारी से बचने के लिए लागू लॉकडाउन ने बहुत कुछ बदल दिया है, यह बदलाव निरंतर जारी है। बदलाव की एक धारा साहित्य में देखने को मिल रही है। किताबों को लेकर लोगों में रुचि बढ़ी है। डिजिटल माध्यम का प्रयोग और अधिक किया जा रहा है। हिंदी क्षेत्र में विभिन्न लेखक संगठन, व्यक्ति और प्रकाशन संस्थान फेसबुक लाइव जैसे उपायों के जरिए लेखकों से उनकी रचनाओं और अनुभवों को साझा कर रहे हैं। हिंदी शोध के क्षेत्र में नए-नए विषयों पर शोधार्थी स्वतंत्र रूप से कार्य करना सीख रहे हैं। शोध के विषयों में नवीनता के कारण उसमें मौलिकता भी दिखाई देती है।

महामारी में साहित्यकार की दूरदृष्टि

हर काल में साहित्यकार यह जानते हैं कि इस भयावह दौर में इस महामारी के शारीरिक इलाज जितना ही महत्त्वपूर्ण है, उतना ही इसके प्रभाव से जूझ रहे लोगों के मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा भी करना जरूरी है। लोग नकारात्मकता और अवसाद के शिकार न हो जाए। हर काल में साहित्य और शोध कार्यो द्वारा यह कार्य होता रहा है। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की रचनाओं में सन् 1918 में अवध में पड़े अकाल और महामारी का चित्रण मिलता है। अलका व कुल्लीभाट उपन्यास में महामारी का भयावह रूप और समाज के पतन की तस्वीरें देखने को मिलती हैं। विष्णु प्रभाकर का उपन्यास 'आवारा मसीहा' में भी उपन्यासकार ने प्लेग महामारी का चित्रण किया है कि जब शरतचंद्र चट्टोपाध्याय नौकरी की तलाश में रंगून जाते हैं और उनको वहां पहुंच कर क्वांरटीन होना पड़ता। इसी तरह निराला ने अपनी आत्मकथा 'कुल्लीभाट' में 1918 के दिल दहला देने वाले फ्लू से हुई मौतों का जिक्र किया है, जिसमें उनकी पत्नी, एक साल की बेटी और परिवार के कई सदस्यों और रिश्तेदारों की जानें चली गयी थीं। निराला ने लिखा था कि दाह संस्कार के लिए लकड़ियां कम पड़ जाती थीं और जहां तक नजर जाती थी गंगा के पानी में इंसानी है और जब महामारी बढ़ने लगती है तो शहर में बहुत ही भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आज के महामारी के दौर में साहित्य और शोध के बदलते आयाम

कोरोना वायरस की महामारी से बचने के लिए लागू लॉकडाउन ने बहुत कुछ बदल दिया है, यह बदलाव निरंतर जारी है। बदलाव की एक धारा साहित्य में देखने को मिल रही है किताबों को लेकर लोगों में रुचि बढ़ी है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि भागती-दौड़ती जिन्दगी में अचानक से आए इस ठहराव में किताबें सच्ची साथी बनकर उभरी देश के कई बड़े प्रकाशन भी इस दिशा में काफी कुछ कर रहे हैं। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास जहां कोरोना पर शोध आधारित किताबें लिखवा रहा है, देश के कई बड़े प्रकाशन भी इस दिशा में काफी कुछ कर रहे हैं। स्कूल और कालेजों में पढ़ाई करने के लिए डिजिटल माध्यम का प्रयोग और अधिक किया जाएगा। शैक्षणिक लक्ष्यों को हासिल करने के लिए व्हाट्जूम, टीम जैसे ऐप और ईमेल का प्रयोग बढ़ेगा। अकादमिक संस्थान ऐसी अवसंरचना का विकास करेंगे जिसमें अध्यापक और छात्र जिसके माध्यम से गुणवत्तापूर्ण ऑनलाइन शिक्षा दी जा सकेगी। कोरोना वायरस महामारी और उसके कारण लागू लॉकडाउन का दौर बीतने के बाद स्कूल और कालेजों को स्थाई तकनीकी अवसंरचना में निवेश करना होगा जिसमें अध्यापकों का प्रशिक्षण डिजिटल वातावरण में काम करने के कौशल पर केंद्रित होगा और उच्च शिक्षण संस्थानों में परीक्षा पारंपरिक तरीकों की बजाय ऑनलाइन माध्यम से कराई जाएगी। कोविड-19 का दौर बीतने के बाद शिक्षा के क्षेत्र में उभरने वाले आयामों पर किए गए अध्ययन में कहा गया, 'कोविड-19 महामारी के कारण डिजिटल माध्यम से अधिक मात्रा में लोग पढ़ाई कर रहे हैं और कम अवधि वाले पाठ्यक्रम भी लोकप्रिय हो रहे हैं। इन बदलावों से कठिनाई तो हो रही है लेकिन इनसे शिक्षा के क्षेत्र में नवाचार के उदाहरण भी सामने आ रहे हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि शैक्षणिक जगत में डिजिटल माध्यम का प्रभाव लंबे समय तक रहने वाला है।

आज के कोरोना समय में जब अधिकांश लेखक बिरादरी ऑनलाइन है तो दुनिया ही नहीं भारत में भी विभिन्न भाषाओं में कवि कथाकार सोशल मीडिया के जरिए खुद को अभिव्यक्त कर रहे हैं। डायरी, निबंध, नोट, लघुकथा, व्याख्यान और कविता लिखी जा रही है, कहीं चुपचाप तो कहीं सोशल नेटवर्किंग वाली मुखरता के साथ. भारत में खासकर हिंदी क्षेत्र में विभिन्न लेखक संगठन, व्यक्ति और प्रकाशन संस्थान फेसबुक लाइव जैसे उपायों के जरिए लेखकों से उनकी रचनाओं और अनुभवों को साझा कर रहे हैं। हालांकि इस काम में प्रकाशित हो जाने की हड़बड़ी और होड़ जैसी भी देखी जा रही है और अपने-अपने आग्रहों और पसंदों के आरोप प्रत्यारोप लग रहे हैं और वास्तविक दुर्दशाओं से किनाराकशी के आरोप भी हैं। हिंदी कवि संजय कुंदन कहते हैं कि हो सकता है जो आज सोशल मीडिया पर शेयर किया जा रहा है वो साहित्य की कसौटी पर खरा न उतरे और गुणवत्ता में कमतर रह जाए लेकिन उन्हीं के बीच से ऐसी रचनाएं भी अवश्य आएंगी जो आगामी वक्तों के लिए संघर्ष, यातना और संशय के घटाटोप से भरे इस भयावह जटिलताओं वाले समय की सबसे प्रखर और संवेदनापूर्ण दस्तावेज कहलाने योग्य होंगी। आज के जमाने में साहित्य की दुनिया केवल कला और सौन्दर्य की साधना के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढाँचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है। साहित्य समाज का दर्पण तो होता है, पर वह दर्पण केवल कथ्य को लेकर नहीं। लेखन के क्षेत्र में शिल्प, शैली, भाषा संरचना, शब्द संस्कार, आदि इतने महत्त्वपूर्ण हो गए कि इन सबका सीधा सम्बन्ध रचनाकारों की विचारधारा और उनकी जीवन दृष्टि से हो गया। समाज में जो होता है उसका असर साहित्यकार, रचनाकार पर पड़ता ही है। असर पड़ता है तो वो अपनी कहानी में उसे लाता है। महामारी से बचने के लिए लागू लॉकडाउन ने बहुत कुछ बदल दिया है, यह बदलाव निरंतर जारी है। बदलाव की एक धार साहित्य में देखने को मिल रही है किताबों को लेकर लोगों में रुचि बढ़ी है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि भागती-दौड़ती जिन्दगी में अचानक से आए इस ठहराव में किताबें सच्ची साथी बनकर उभरी हैं। ऐसा ही कुछ आभासी या डिजिटल दुनिया में देखने को मिल रहा है।

डिजिटल वाकई आने वाला कल है, जिसकी केवल सूचना व संचार की ही नहीं शब्दों की दुनिया में हैं। ऐसा ही कुछ आभासी या डिजिटल दुनिया में देखने को मिल रहा है। वर्चुअल सेमिनार, गोष्ठी, शोध पत्र वाचन आदि अनेक शिक्षा से जुड़े कार्यक्रमों का आयोजन डिजिटल माध्यम से किया जा रहा है।

पिछले वर्ष 540 वर्चुअल कार्यक्रम आयोजित किए गए, जिन्हें यूट्यूब पर लगभग दो लाख, फेसबुक पर सात लाख दस एवं ट्वीटर पर सत्रह लाख साहित्य प्रेमियों ने देखा।

प्रत्येक काल में साहित्य की भूमिका

परिस्थितियों के आधार पर साहित्य की विषयवस्तु भी बदलती रहती है दुनियाभर में फैली महामारियां या बीमारियां हमेशा से साहित्य की विषयवस्तु रही हैं। इतिहास महामारियों का उतना बारीक और जीवंत चित्रण नहीं करता, जितना साहित्य में मिलता है। उपन्यास, कहानियों, नाटकों और कविताओं के रूप में हमें ऐसी असंख्य रचनाएं मिलती हैं। इस श्रृंखला में वाम प्रकाशन की ''कोरोना में कवि'' भी शामिल हो गई है। इस काव्य संग्रह में जाने-माने और नवोदित कवियों की कविताएं शामिल की गई हैं। अधिकांश कवियों ने लॉकडाउन से उपजी परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है। ज्यादातर कवियों ने प्रवासी मजदूरों का पीड़ा को स्वर दिया है। पुस्तक की भूमिका में संपादक संजय कुंदन ने उन महत्वपूर्ण रचनाओं पर रोशनी डाली है जिनके केंद्र में बीमारियां रही हैं। वह लिखते हैं कि रवीन्द्रनाथ टैगोर की काव्य रचना पुरातन भृत्य और उपन्यास चतुरंग में उन्होंने महामारी को लेकर तत्कालीन समाज में धार्मिक दृष्टिकोण की पड़ताल की तो वहीं शरतचंद्र चट्टोपाध्याय ने श्रीकांत में प्लेग की दारुण स्थितियों का चित्रण किया। ओड़िया साहित्य को आधुनिक स्वरूप देने वाले फकीर मोहन सेनापति की कहानी रेबती में हैजे की भयावहता का वर्णन है। निराला के उपन्यास कुल्ली भाट में 1918 में फ्लू से हुई मौतों का दिल दहला देने वाला चित्रण है। निराला लिखते हैं, ''मैं दालमऊ में गंगा के तट पर खड़ा था। जहां तक नजर जाती थी, गंगा के पानी में इंसानी लाशें ही लाशें दिखाई देती थीं। मेरे ससुराल से खबर आई कि मेरी पत्नी मनोहरा देवी भी चल बसी हैं। मेरी एक साल की बेटी ने भी दम तोड़ दिया था। मेरे परिवार के और भी कई लोग हमेशा के लिए जाते रहे थे।''

संजय कुंदन आगे लिखते हैं, ''हर तरह की तकनीक और उन्नत चिकित्सा प्रणाली एक वायरस के सामने फिलहाल तो असहाय दिख रही है। हालांकि ऐसी ही असहायता के बीच पहले भी रास्ते निकले हैं और निश्चय ही इस बार भी हम इससे उबर जाएंगे। यह भी कम हैरत की बात नहीं कि सत्ता तंत्र का व्यवहार आज भी वैसा ही है, जैसा सौ साल पहले की किसी महामारी में रहा है।'' वह आगे लिखते हैं, ''महामारी के बहाने जनतांत्रिक मूल्यों व जनता के अधिकारों पर कुठाराघात की कोशिशें भी देखी जा रही हैं। इतिहास का यह खतरनाक दोहराव चिंतित करने वाला है।''

पिछले साल कोरोना काल में ढेर सारा साहित्य रचा गया। सैकड़ों कविताएं-कहानियां लिखी गईं। ऑनलाइन चर्चाएं हुईं और हरेक के केन्द्र में कोरोना रहा। कोरोना काल पर पुस्तकें लिखी गईं, मजदूरों का पलायन भी एक विषय रहा। तकरीबन हर लेखक-साहित्यकार खुद को अभिव्यक्त करता रहा। आपदा में अवसर तलाशता रहा। लेकिन अब वो थक गया है। उसे भी लगता है कि लगातार वही वही बातें कितनी बार और क्यों लिखी जाएं। पढ़ने वाला भी ऊब चुका है और कुछ न कुछ अलग हटकर चाहता है। कुछ ऐसा लेखन जो जीवन का संचार करे, जो कहीं न कहीं आपको निराशा के अंधेरे से निकाल कर आशा का संचार कर दें।

साहित्य के आयाम व आधार उसकी परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं साहित्य व शोध का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है लेकिन बदलती परिस्थिति में साहित्य व शोध को व्यक्त करने का माध्यम भी बदल रहा है। महामारी ने सारी दुनिया के आचार-विचार को प्रभावित किया है। जीवन-मूल्यों, नैतिकता, मानवता, दया आदि के मायने समय व परिस्थितियों के आधार पर तय किए जा रहे हैं। जो सैन्य चल रहा है वह तो किसी से भी छिपा नहीं है, जरूरत है कि हम अपनी सोच को नये आयाम दें जिससे साहित्य और समाज के दायित्व को पूरा करने का प्रयास करने की सोच साहित्यकार में जीवित रहे और समय व प्रकृति के बदलते रूप के अनुसार अपने को तैयार करें, महामारी के इस काल में साहित्य व शोध को नई दिशा और रूप देने के लिए जो भी प्रयास किए जा रहे हैं वह सराहनीय हैं।

हिंदी विभाग,
टी. जॉन कॉलेज, बेंगलुरु

संदर्भ सूची

- डी.डब्ल्यू .कक्कम
- दैनिक जागरण ऑनलाइन पत्रिका

शोध-पत्र

हिंदी कहानी में हाशिये पर संघर्षरत किन्नर समाज

डॉ. सत्येंद्र प्रताप सिंह

इक्कीसवीं सदी विमर्शों की सदी मानी जाती है। हिंदी साहित्य में भी कई नए विमर्श इस दौर में मजबूती के साथ उभर कर सामने आए-जैसे स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, व आदिवासी-विमर्श आदि। इन विमर्शों ने साहित्य में एक मजबूत उपस्थिति दर्ज की। इन विमर्शों में जो पीड़ित समुदाय था वो मुखर होकर एक जागृत चेतना के साथ शोषक समाज से संघर्ष करता हुआ दिखाई पड़ता है, या यों कहें कि अपनी अस्मिता को स्थापित करता हुआ दिखाई पड़ता है। वर्तमान में ये विमर्श साहित्य के हाशिये से निकलकर मुख्यधारा के साहित्य में अपने अस्तित्व के साथ लगभग सम्मिलन की स्थिति बनाते हुए दिखाई पड़ते हैं। किन्नरों की जिंदगी भी अजीब सी है। जहाँ का सारा दर्द अपने में समेटे हुए एक अभिशप्त जिंदगी जीने को मजबूर है। जहां पर अन्य समाज अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करते रहे हैं वहीं ये समाज अभी अपनी अस्मिता पहचान ही नहीं कर सका या यूं कहें कि इस समाज की अस्मिता को उभरने का मौका ही हमारा समाज नहीं देता है। हाशिये के समाज की बात हर तरह की जा रही है। परंतु सच यह है कि जहाँ दलित का अपना परिवार है, स्त्री के पास उनका अधिकार है और परिवार है लेकिन किन्नरों के पास अपना कुछ भी नहीं? वे परिवार सम्मान अधिकार सामाजिक सरोकार इन सब शब्दों से नितांत वंचित है। साहित्य और सिनेमा हमेशा से समाज के प्रत्येक वर्ग को समृद्ध बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। यह समाज का दर्पण बनकर उसमें रहने वाले व्यक्ति उनके संस्कार और सभ्यता को सार्वजनिक रूप से लोगों के सामने लाता है जिससे हर किसी को प्रत्येक के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सके। कोई भी साहित्य तब तक गरिमामयी नहीं हो सकता जब तक कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति समुदाय या समूह की गरिमा निहित ना हो। व्यक्ति से ही समाज की सृजना होती है और समाज से ही साहित्य की सृजना होती है।

हिजड़ा जिन्हें भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा तृतीय लिंग की संख्या से नवाजा गया है भले ही इनकी संख्या सीमित हो लेकिन इनके बगैर समाज के पूर्ण होने की कल्पना करना बेमानी होगी। समाज में हिजड़ों के प्रति सकारात्मक सोच पैदा करने में साहित्य हमेशा अग्रणी रहा है। यहाँ हम इसी तथ्य की पड़ताल इस शोध आलेख में कहानियों में करेंगे इनकी उपस्थिति किस तरह से उभार के हिंदी साहित्य में आयी है।

साहित्य की रचना एकतरफा नहीं होती या कोई सूचना एकतरफा नहीं होती है। साहित्य समान रूप से धूप अच्छी होता है साहित्य समाज, सापेक्ष एवं सामाजिक प्रतिबद्धता के उद्देश्य से परिपूर्ण होता है। सामान्यत: यह माना जाता है कि साहित्य में संवेदना का स्वर प्रमुख हैं। अत: समाज के उपेक्षित, वंचित पीढ़ी एवं शोषित वर्ग के प्रति साहित्य सृजन हो रहा है। इसके माध्यम से साहित्यकार अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता को अभिव्यक्ति दे रहा है जैसे समाज के तमाम वंचित वर्ग नारी, दलित व आदिवासी आदि के अलावा एक और बहिष्कृत, वांछित उपेक्षित एवं शोषित वर्ग है किन्नर समाज या तृतीय लिंगी। यह समाज न केवल हर थी सामाजिक आपूर्ति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी दुखी है, पीड़ित अपमानित है, और विषादग्रस्त है। जो हिंदी साहित्य के लिए एक प्रमुख चुनौती है। जैसा कि राम

स्वरूप चतुर्वेदी हिंदी साहित्य की संवेदना का विकास में कहते हैं ''नई शताब्दी में साहित्य की ये कुछ विकट समस्याएं हैं जिनका निराकरण अकेले व्यक्ति के लिए दूँ साध्य है और अब सत्ता की ओर से नहीं बृहत्तर समाज की ओर से ही यह संभव है। समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखता है, भीड़ उसे नष्ट करने को उतारू है और विडंबना यह है कि संगठित सत्ता अपनी शक्ति भीड़ से लेना पसंद करती है बजाय समाज के। यदि समाज सत्ता को अनुशासित नहीं करेगा तो साहित्य क्षरित होगा।''[1] अगर हम देखेंगे कि किन्नर समाज के साथ सबसे बड़ी विसंगति या विडंबना ये है कि ये संख्या में बहुत कम हैं। इसलिए शायद इनकी आवाज अन्य विमर्शों की अपेक्षा एक कमतर सी दिखती है। मानव सभ्यता ने अपने विकास की यात्रा के अनेक पड़ाव पार किए हैं। मानव ने कई प्रकार के प्राकृतिक, शारीरिक, मानसिक और सामाजिक परिवर्तनों का सामना किया और बहुत हद तक इन परिवर्तनों के खिलाफ संघर्ष करते हुए इन्हें स्वीकार करने का प्रयास भी किया। मानव अन्य प्राकृतिक जीवों की अपेक्षा अधिक संघर्षशील और अधिक चिंतनशील प्राणी माना गया है। अपने इसी चिंतनशील स्वभाव के कारण मानो नए आयामों पर सोचने समझने की चेष्टा विकसित कर सका है। मानो कि इस उम्मीद या परिवर्तन के प्रति सहजता के निर्माण में साहित्य एक महत्वपूर्ण अवयव रहा है। वहीं अगर हम भारतीय परिपेक्ष्य में देखें तो जैसा कि शरद सिंह के अनुसार ''भारतीय संस्कृति उदार है, किंतु समाज में दोहरापन है, जो सदियों से लिंग के आधार पर सामाजिक अधिकार तय करता आ रहा है। स्त्रीलिंग और पुल्लिंग इन दोनों को सामाजिक संरचना की धुरी माना गया लेकिन इन दोनों लिंगों के इतर भी एक और लिंग है जिसे समाज रखते हुए स्वीकार करता है।''[2] साहित्य के वर्तमान परिपेक्ष में लिंग निरपेक्ष समाज या किन्नर समाज के प्रति चिंतन और चर्चा तेज हुई है। हिंदी साहित्य में भी किन्नर समाज से संबंधित रचनाओं की उपलब्धता कथा साहित्य में अधिक देखी गई है। जिसमे कहानियों में भी किन्नरों से संबंधित रचनाएँ विचारणीय हैं। हिंदी साहित्य में किन्नर समाज के जीवन की दर्द भरी प्रमुख कहानियाँ है-बिन्दा महाराज, किन्नर, इज्जत के रहबर, पन्ना बा, नेग, बीच के लोग, त्रासदी, ई मुरदन के गांव, संझा, हिजड़ा, माहूर आदि।

इन कहानियों का समग्रता में अध्ययन करेंगे तो ये महसूस होगा कि किन्नर समाज को लेकर गंभीर चर्चा की कहानियाँ अभी उतनी मात्रा में नहीं लिखी गई है जितनी आवश्यकता है। जैसा कि प्रोफेसर शर्मिला सक्सेना, अपने लेख किन्नर जीवन और हिंदी कहानियों में लिखती हैं ''हिजड़ों की एक विशिष्ट छवि साहित्यकारों ने गढ़ रखी है। जहाँ उनका नाम लेते ही आँखों के सामने इठलाती चाल, चमकीले कपड़ों व गहनों से सजा शरीर चेहरे पर अत्यधिक मेकअप, बच्चों के जन्म और विवाह आदि अवसरों पर नाच गाकर पैसा कमाने वाले अगर पैसा नहीं दिया तो गाली गलौज पर उतारू हो जाने वाले किन्नर का चित्र आंखों के सामने उपस्थित हो जाता है।''[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी समाज में जब जुड़ाव सकारात्मक हो तभी आदर्श समाज की कल्पना की जा सकती है। किसी समाज को अलग करके सम्पूर्ण समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। सभ्य समाज किन्नर समाज को अपने से एकदम अलग करके रखता है। साथ ही साथ जब इनका सामना होता है तो इनको एक अजीब बिना से साथ ही भद्दी गालियों से अपमानित भी करता है। ऐसे सभ्य समाज से अपमानित होकर किन्नर समाज ने अपने लिए एक अलग समाज की व्यवस्था कर ली है जहाँ वह अपनी अस्मिता को या सामाजिक अस्मिता को नष्ट कर उन्मुक्त जीवन का संताप छिलती हुई जीते हैं। अंतरलिंगी समाज का या किन्नर समाज भी परिवार होता है जो आम परिवार से बस इतना अलग होता है कि ये खून के रिश्ते नहीं बल्कि एक एहसास के रिश्ते के साथ जुड़े होते हैं।

किन्नरों की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कीर्ति मलिक लिखती हैं कि ''किन्नरों की स्थिति अत्यंत दयनीय है समाज में। किन्नरों को अत्यंत नकारात्मकता एवं हेय दृष्टि से देखा जाता है। लोग इन्हें देखकर घृणा करते हैं। जन सामान्य वर्ग इनसे सामाजिक संपर्क रखना पसंद नहीं करता है। भारतीय समाज में किन्नरों के साथ धार्मिक एवं व्यवहारिक दोनों दृष्टियों से भिन्न-भिन्न व्यवहार किया जाता है एक ओर तो इन्हें धार्मिक दृष्टिकोण से इन्हें उच्च पवित्र स्थान प्रदान किया जाता है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखें तो इनके साथ अत्यंत ही घृणित व्यवहार किया जाता है। किन्नर समाज में सिर्फ हाशिए पर ही नहीं है बल्कि समाज में इनके प्रति बहुत ही गलत धारणाओं को भरा जा रहा है जिसके कारण लोग

इनके प्रति काफी नकारात्मक विचार रखने लगे है।''[4] किन्नर समाज से संबंधित बहुत सी गलत धारणाएं प्रचलित हैं वो कहीं न कहीं किन्नर समाज से संबंधित जो कहानियाँ हैं उनमें भी दिखती हैं। किन्नर समाज आज भी सभ्य समाज के सामने बहुत सारी गलत अवधारणाओं का शिकार है। सभ्य समाज इस समाज को सफाई देने का भी मौका नहीं देना चाहता है। वह किसी भी तरीके से इस समाज से मेलजोल नहीं रखना चाहता है। वह बस किसी भी तरीके से इस समाज से जितना हो सके कम से कम मेलजोल रखना चाहता है। यही कारण है कि समाज का दर्पण होने का दंभ भरने वाले साहित्य में भी इनकी उपस्थिति विषयवस्तु के रूप में या सृजक के रूप में अत्यल्प दिखती है।

किन्नर समाज से संबंधित इन कहानियों के माध्यम से किन्नर समाज के सच को बाहर लाने या मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया गया है ताकि साहित्य के माध्यम से यह हम समझ सकें कि वस्तु का उनके समाज के स्वरूप बनावट, बुनावट सकारात्मक या नकारात्मक किस रूप में लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता रहा है और वास्तविकता क्या है। क्योंकि ये कहानियाँ हमें पर्याप्त नहीं जानकारी प्रदान करती हैं। फिर भी वास्तविकता इससे अधिक भयावह और दुखद है, लेकिन हमारे पास उपलब्ध कहानियों की अत्यल्प संख्या होने के कारण प्रथम प्रयास तो ये होना चाहिए इनकी संख्या बढ़े तत्पश्चात गुणवत्ता पूर्ण मूल्यांकन हो पाए। सभी कहानियों में साहित्य समाज की परंपरागत कुछ सोच दिखाई देती है। जो सदियों से लेकर आज भी किन्नरों के प्रति अपने संकीर्ण सोच से उबर नहीं पाई है। इन कहानियों का अध्ययन करते हुए यह ज्ञात होता है कि किन्नर समाज में धर्म एक महत्वपूर्ण अवयव है, लेकिन बंधन नहीं है। यह कहानियाँ किन्नर समाज के प्रति हमारी सोच को एक नया आयाम देती है। इस दृष्टि से ये कहानियाँ एक सार्थक पहल कही जा सकती हैं जैसा कि रवीना बरिहा कहती है कि ''भारतीय समाज में थर्ड जेंडर को सामाजिक मान्यता और जेंडर की भूमिका में देखा जाता है, जबकि पश्चिम में केवल मौलिकता ही इसका मूल आधार है। हमारी यौन प्रवृत्ति, यौन व्यवहार या मौलिकता के आधार पर इस जेंडर को अलग रखा गया है, पर भारतीय समाज में सामाजिक मान्यता और सामाजिक जेंडर के हिसाब से थर्ड जेंडर को देखा जाता है। यूं कहें कि जहाँ पश्चिम में हमारी बुनियाद यौनिकता है वही भारत में हमारी बुनियाद जेंडर है।''[5] इस तरह से स्पष्ट है कि भारतीय समाज में लैंगिकता का सामाजिक अभिप्राय होता है। जैसा कि जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं या यों कहें इस सामाजिक अभिप्राय किस तरह व्यक्ति को मजबूर कर देता है या उसकी आदत बना देता है उस तरह का व्यवहार करना जिस तरह का समाज चाहता है। वो लिखते हैं ''एटीट्यूड का वर्ग की आदतों से गहरा रिश्ता होता है। आदतें ही एटीट्यूड का निर्माण करती हैं। उनसे ही संस्कार एवं दृष्टिकोण बनता है।''[6] इस तरह से स्पष्ट होता है कि समाज उन्हें एक अभिशप्त जीवन जीने के लिए मजबूर कर देता है। संझा, कहानी में ऐसे ही एक उदाहरण के माध्यम से किन्नर के जीवन जो अभिशप्त है उसको व्यक्त करते हुए वैद जी संझा से कहते हैं कि ''इस धरती के बाशिंदों ने तुम्हारी जाति के लिए हलाहल नरक की व्यवस्था की है। उस नरक के लोग पहाड़ी पर तुम्हारे जन्म के 7 साल बाद आकर बस गए हैं। वे लोग कपड़े उठाकर नाचते हैं और भीख मांगते हैं। लोग उन्हें गालियां देते हैं, थूकते हैं, उनके मुँह पर दरवाजा बंद कर लेते हैं, उन्हें घेरकर मारते हैं। वे जिस इलाके में बसे हो, वहाँ कोई भी अपराध हो इन पर ही इल्जाम लगता है। वे डरे और जले हुए लोग अपनी बिरादरी बढ़ाना चाहते हैं। तुम्हारे बारे में पता चल गया तो वे लोग तुम्हें छीनने आ जाएंगे और चौ गांव के लोग तुम्हें घर से खींचकर उनके साथ भेज देंगे।''[7] इन पंक्तियों में किन्नर होने की असीम पीड़ा झलकती है। एक किन्नर होना अर्थात् समस्त रिश्तों का समाप्त हो जाना है। यह एक ऐसा हृदय विदारक दृश्य है जिससे किन्नर समाज ही नहीं अब उससे जुड़े हुए सभी लोग बच नहीं सकता पाते हैं। इन पंक्तियों मैं बैद जी एक पिता होने के साथ ही एक किन्नर के पिता हैं। इसलिए उनकी पीड़ा इन पंक्तियों में झलकती है।

यही नहीं यदि कोई किन्नर किसी बच्चे की परवरिश करना भी चाहे तो यह समाज उसे यह भी अवसर नहीं देता है। ईश्वर जहाँ उसे संतान पैदा करने का सुख नहीं देता है। वहीं यह समाज उन्हें दूसरे की संतान अपनाने का भी मौका नहीं देता है। ऐसा ही कुछ वाकया श्री कृष्ण सैनी की हिजड़ा कहानी में देखने को मिलता है। ''सभ्य समाज कहलाने वाले लोगों की आलोचना से बचाने के लिए रजिया उसे हेडमास्टर के अधीन कर देती है। दुर्घटना

होने पर वह अपना रक्त देकर सुनील को बचाती है, लेकिन इसके बावजूद भी वह सुनील को अपना मानते हुए भी उससे दूर रहती है। आखिर वह मानसिक रूप से हिजड़ा हो चुकी दुनिया में वह किस-किस को जवाब देती।''[8] इस तरह से हम देखते हैं कि सभ्य समाज उनसे किसी तरह का रिश्ता रखना नहीं चाहता है। चाहे वह कितना भी अच्छा व्यवहार करने का प्रयास करें लेकिन सभ्य समाज उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। यह दोहरापन कहीं न कहीं सभ्य समाज की वास्तविक आवरण को स्पष्ट करता है। दरअसल लैंगिक विकृति से पीड़ित लोग हमारे समाज में रहते हुए भी बहुत रहस्यमय होते हैं। उनको लेकर के हमारे अंदर बहुत मिथक होते हैं। कथाकार अपनी इस कहानी में न सिर्फ उन मिथकों से टकराता है, बल्कि उन मिथकों को तोड़ता भी है और उस रहस्य से भी पर्दा उठाता है, जो हिजड़ों को लेकर गढ़ा गया है। लैंगिक विकृति के साथ पैदा होते ही मेहतर, दाईयाँ या नर्स उसकी सूचना उसके समाज अर्थात् किन्नर समाज को दे देती है। फिर चाहकर भी माता-पिता उन्हें उनके समाज में जाने से रोक नहीं पाते। उस समाज में सम्मिलित होने के बाद उनकी घृणित जीवन जीने की विवशता उनके प्रति समाज की संकुचित मानसिकता को रेखांकित करती है। किन्नर समाज की दर्द को स्पष्ट करते हुए गरिमा संजय दुबे अपनी कहानी पन्ना बा में लिखती है कि ''कोई काम पर रखे नहीं, कोई माता-पिता इस अभिशाप को रखने को राजी नहीं, कोई नौकरी नहीं, कोई पढ़ाई नहीं, बेचारा मनुष्य जिए भी तो कैसे? कैसे देह से परे हो, फिर जी जाती है। एक अभिशप्त किन्नर की जिंदगी।''[9] इन पंक्तियों में केवल किन्नर व्यथा नहीं बल्कि मानो कि मस्तिष्क में विद्यमान कुंठाओं को भी व्यक्त किया गया है। कैसे वो चाहता है कि किन्नर केवल निकृष्ट समझा जाने वाला कार्य करें ना कि सभ्य समाज के साथ सम्मिलन का प्रयास करें। जैसा कि डॉ. शरद सिंह के भी अनुसार, ''आज भी मुख्यधारा के समाज में किसी व्यक्ति के साहस या उसकी वीरता, पौरुष और मर्दानगी पर सवाल करना हो, तो उसे हिजड़ा कहकर दुत्कारा जाता है, यानि मुख्यधारा के बहुसंख्यक पुल्लिंगी और स्त्रीलिंगी लोगों के लिए 'हिजड़ा' शब्द एक भद्दी गाली है। गर्भावस्था की गड़बड़ी के कारण पैदा होने वाले एक खास तरह की लैंगिक स्थिति वाले लाखों स्त्रियों और पुरुषों की यह नकारात्मक धारणा लैंगिक वर्चस्व का नमूना है।''[10] इससे स्पष्ट होता है कि किन्नर समाज जिस अस्मिता के साथ जीता है व स्मिता शब्द समाज के लिए एक गाली है। जिसकों सब समाज दूसरे को हीन भावना से देखने के लिए प्रयोग करता है। ऐसे में किन्नर समाज को कई मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ेगा। क्योंकि अन्य विमर्श जहाँ समाज के भीतर रहकर संघर्ष करते हैं। वही किन्नर समाज, समाज से एकदम अलग होकर संघर्ष करता दिखाई पड़ता है। किन्नर समाज कि सामने समाज द्वारा बहिष्कार के कारण कई चुनौतियों दिखती हैं जिसमें कई चुनौतियां शारीरिक विडंबनाओं के अलावा भी हैं। जैसे आर्थिक विपन्नता। किन्नर समुदाय के लोग नाच गानों के अवसर पर नाच गाकर तालियाँ पीटकर अपनी जीविका चलाते हैं या यूं कह लीजिए कि इसके अलावा और कोई कार्य कराने का उन्हें समाज मौका ही नहीं देता है। हिंदी साहित्य के किन्नर समाज की कहानियों में इन समस्याओं की तरफ बाखूबी ध्यान दिया गया है। शिक्षा और शिक्षा की दुनिया कायदे में व्यक्ति को अपने समाज को समझने प्रकृति में सहभागी होने अपने परिवेश के साथ तादात में स्थापित करने और बेहतर जीवन की कला हासिल करने में मनुष्य की मदद करती है। लेकिन दुर्भाग्य से तृतीय लिंगी समाज शिक्षा से न केवल महरूम होता है बल्कि समाज से भी वो इतना दूर हो जाता है कि हम उसके बारे में बहुत कम जानते या जानना ही नहीं चाहते हैं। हिंदी कहानियाँ किन्नर समुदाय के मनुष्य होने का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं, और समाज में निर्धारित भूमिका की आलोचना भी करती हैं। किन्नर समुदाय की एक प्रमुख समस्या यह भी रही है कि वो अपना जीवनसाथी नहीं चुन सकते हैं। या यूं कहें उन्हें अपने जीवन साथी चुनने की छूट भी नही मिलती है। ऐसे न जाने कितने दर्द के साथ एक किन्नर को प्रतिदिन जीना पड़ता है या यूं कहें कि संघर्ष करना पड़ता है। उसके बारे में ये कहानी है पर्याप्त प्रकाश डालती है। एक किन्नर की केवल अगर इच्छा की बात की जाए तो वो सोचता है उसे एक गरिमापूर्ण जीवन जीने का हक न मिल सके तो कम से कम सामान्य मनुष्य के रूप में जीवन जीने का तो मौका मिलना ही चाहिए। लेकिन एक तथाकथित सभ्य मनुष्य एक कुत्ते या जानवर को पाल सकता है, उसे प्यार और इज्जत देता है, उसे बिस्तर पर सुलाता है, लेकिन वहीं अपनी ही प्रजाति

मनुष्य की एक और रूप किन्नर को देखकर नाक और भौंह सिकोड़ लेता है, प्यार से खाना खिलाने की बात तो दूर है। उसे अपने आसपास भी भटकने का अवसर नहीं देता है। किन्नर समाज के साथ सबसे बड़ी समस्या है कि उसके पास परिवार का ना होना, क्योंकि परिवार एक सुरक्षित आश्रय स्थल होता है। जिसके सहयोग से व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर पाता है जैसा कि डॉ. शरद सिंह लिखती है कि ''बिना परिवार के व्यक्ति इस सामाजिक संरचना में एक असहाय सी अवस्था में पहुँच जाता है। जहाँ वे समाज के भीतर मौजूद अंतर्विरोधों की परिधि में खुद को शोषित महसूस करता है। अपने ही परिवार से, अपने ही लोगों द्वारा उसे अपनों से दूर किया जाता है। परिवार से विस्थापन का दंश सर्वप्रथम उन्हें ही भुगतना पड़ता है।''[10] ऐसे ही बहुत सारे विसंगतियों जो किन्नर जीवन का अभिन्न अंग है, उनसे ये कहानियाँ हमें परिचित कराती हैं। लेकिन ये कहानियाँ साथ में ये भी अहसास कराती हैं कि अभी भी किन्नर समाज अपनी अस्मिता के लिए हाशिये में भी संघर्षरत स्थिति में है।

किन्नर समाज पर अभी तक लिखी कहानियाँ एक सार्थक पहल कही जा सकती हैं। यह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य और समाज की मानसिकता में किन्नर विमर्श अभी प्रारंभिक अवस्था में ही है। समाज की वैचारिकी अभी भी इन्हें स्वीकार करने में हिचक रही है और जो कहानियाँ लिखी गई हैं उनमें कोई गंभीर विश्लेषण निकलकर उनके जीवन संबंधित नहीं आता है। और एक मांग का निर्माण होता है कि इनसे संबंधित कुछ गंभीर पहलू उनके जीवन के उभर के आए क्योंकि सहानुभूति से किसी की पीड़ा को हम उतनी घनीभूत तरीके से महसूस नहीं कर सकते जितना स्वानुभूत से महसूस कर सकते हैं किसी पीड़ा के दर्द को। इसलिए जब तक खुद किन्नर समाज के लोग अपनी पीड़ा को कथा साहित्य में स्वयं के द्वारा व्यक्त नहीं करेंगे तब तक शायद ही कोई गंभीर पहलू उनके जीवन का निकलकर सामने आए। आज भी हिंदी कहानी में किन्नर समाज के हाशिए पर भी संघर्षरत स्थिति में है। क्योंकि अन्य समाज की अपेक्षा ये मुख्य समाज से पूर्णता बहिष्कृत रहते हैं, और इनकी संख्या भी कम है। इसलिए पीड़ा सर्वाधिक होने के बावजूद इनके पक्ष में वैसा आंदोलन नहीं दिखता है जो अन्य विमर्शों के पक्ष में दिखता है। इसलिए ये हिंदी साहित्य के हाशिए में अभी भी संघर्षरत हैं, चाहे वो कहानी हो या उपन्यास हो।

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी)
लाजपत राय महाविद्यालय
साहिबाबाद, गाजियाबाद (यू.पी.)

संदर्भ सूची

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन-2018, पृ. 228
2. शरद सिंह, थर्ड जेंडर विमर्श स्पेस पब्लिशिंग हाउस, संस्करण 2019, पृ. 9
3. डॉ. फिरोज अहमद, थर्ड जेंडर कथा आलोचना अमन प्रकाशन, वर्ष 2017, पृ. 133
4. सरस्वती, वर्ष अंक 13-147, अप्रैल-सितम्बर 2008, पृ. 70
5. Http://www.streekal.com/2015/01/blog-post-20html
6. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 238
7. सूर्यवंशी, विमल ग्यानबरावो थर्ड जेंडर चर्चित कहानियाँ, अमन प्रकाशन, वर्ष 2018, पृ. 30
8. वाङ्ग्य हिन्दी पत्रिका, संपा. एम. फीरोज जनवरी-मार्च, 2017, वाङ्मय बुक्स अलीगढ़, पृ. 124
9. एम. फिरोज (संपा.), पन्ना बा-गरिमा संजय दूबे, वांग्मय (त्रैमासिक) हिंदी पत्रिका, जनवरी-मार्च 2017, पृ. 121
10. शरद सिंह, सागर दिनकर, 27 जुलाई 2010, पृ. 4
11. शरद सिंह, थर्ड जेंडर विमर्श, स्पेस पब्लिशिंग हाउस, संस्करण 2019, पृ. 91

शोध-पत्र

परमजीत कौर

प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों के भाषा कौशल में बहुभाषीय परिवेश का योगदान

सारांश

भारतीय समाज का आर्थिक रूप से पिछड़ा बहुसंख्यक वर्ग अपने बच्चों की शिक्षा के लिए सरकारी शिक्षण संस्थानों पर ही निर्भर है। शहरों में अप्रवासी या विस्थापित मजदूरों के बच्चों को शिक्षा क्षेत्र में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इनमें से भाषा की समस्या एक प्रमुख समस्या है। भाषा केवल विषय के रूप में ही नहीं अपितु सभी विषयों के शिक्षण में माध्यम के रूप में भी अपनी भूमिका निभाती है। ये बच्चे औसत या औसत से अधिक बौद्धिक क्षमता के होने के बावजूद स्वयं को हीन महसूस करते हैं या इनमें हीनता बोध भर दिया जाता है। यही समस्या दिल्ली के झुग्गी-झोंपड़ी तथा अनाधिकृत कॉलोनियों से आने वाले बच्चों की भी है, जो ग्रामीण परिवेश के तो नहीं हैं पर उनके घर की भाषा तथाकथित सभ्य समाज द्वारा असभ्य समझी जाती है। शिक्षक व अन्य छात्र-समूह भी उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं।

शोधार्थी ने दिल्ली नगर निगम के एक विद्यालय को अपने शोध का क्षेत्र बनाया है। यहाँ के बच्चों की भाषा-संबंधित समस्याओं को अपने शोध का विषय बनाया है। ये बच्चे अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पूरी नहीं कर पाते हैं क्योंकि ये अपने को कक्षा के परिवेश में अनुकूल महसूस नहीं करते है। बच्चों की भाषिक समस्या के समाधान के लिए कक्षा के बहुभाषिक वातावरण को भाषा शिक्षण में एक संसाधन के रूप में प्रयोग किया गया है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2005 व भारतीय भाषाओं का शिक्षण पर आधार-पत्र, 2006 में भी जिसका सुझाव दिया गया है।

बीजशब्द

भाषा शिक्षण, बहुभाषिकता, मानक भाषा, घर की भाषा, मातृ भाषा।

प्रस्तावना

6 से 14 वर्ष की आयु समूह के बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करने का मौलिक अधिकार शिक्षा का अधिकार कानून, 2009 में प्राप्त हो चुका है। कानूनन भारत के सभी बच्चों को इस अधिकार का लाभ मिलना चाहिए था परंतु स्थिति ऐसी नहीं है। इस कानूनी प्रावधान को लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण वांछित परिणाम नहीं निकल सके।

हमारे देश में बहुस्तरीय शिक्षा प्रणाली (नवोदय विद्यालय, केंद्रीय विद्यालय, प्रतिभा बाल विकास विद्यालय, सर्वोदय विद्यालय, राजकीय विद्यालय) तथा बहु-प्रबंधकीय शिक्षण व्यवस्था (सरकारी विद्यालय, सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालय, स्व-वित्तपोषित निजी विद्यालय तथा NGO) प्रचलित होने के कारण हम सभी बच्चों को एक समान स्तर की शिक्षा प्रदान नहीं कर पा रहे हैं। समय-समय पर विभिन्न शिक्षा समितियों व शिक्षाविदों ने समान शिक्षा प्रणाली (Common school system) की आवश्यकता की बात कही है। जिसे आज तक हम प्राप्त नहीं कर पाए। उस लक्ष्य से अभी भी हम बहुत दूर हैं।

भारतीय समाज की आर्थिक रूप से पिछड़ी बहुसंख्यक आबादी अपने बच्चों की शिक्षा के लिए सरकारी शिक्षण संस्थानों पर ही निर्भर है। शहरों में अप्रवासी या विस्थापित मजदूरों के बच्चों को शिक्षा क्षेत्र में अनेक समस्याओं का

सामना करना पड़ता है। इनमें से भाषा की समस्या एक प्रमुख समस्या है। भाषा केवल विषय के रूप में ही नहीं अपितु सभी विषयों के शिक्षण में माध्यम के रूप में भी अपनी भूमिका निभाती है। इसलिए भाषा को सभी विषयों के केंद्र में रखा जाना चाहिए (सिंह व कपूर, 2010)। ये बच्चे औसत या औसत से अधिक बौद्धिक क्षमता के होने के बावजूद स्वयं को हीन महसूस करते हैं या इनमें हीनता बोध भर दिया जाता है। यह हीनता बोध अनेक स्तरों पर होता है जो उनके सर्वांगीण विकास और शिक्षा-अर्जन में बाधक होता है। मानक भाषा का अभ्यास न होने के कारण ये बच्चे अपने घर की भाषा (मातृ भाषा) का प्रयोग करते हैं। उन्हें कक्षा में छात्रों के साथ-साथ शिक्षक भी माखौल व हास्य का पात्र बनाते हैं। उन्हें गँवारू और जाहिल तक कह दिया जाता है।

दिल्ली के झुग्गी-झोंपड़ी तथा अनाधिकृत कॉलोनियों से आने वाले बच्चों को भी भाषा-संबंधी उपरोक्त समस्या का सामना करना पड़ता है। ये बच्चे ग्रामीण परिवेश के तो नहीं है परंतु उनके घर की भाषा मानक-भाषा से भिन्न होती है जो तथाकथित सभ्य समाज द्वारा असभ्य समझी जाती है। कक्षा में शिक्षक व अन्य छात्र-समूह उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं।

शोधार्थी ने दिल्ली नगर निगम के एक विद्यालय को अपने शोध का क्षेत्र बनाया है। यहाँ के बच्चों की भाषा-संबंधित समस्याओं को अपने शोध का विषय बनाया है। ये बच्चे अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पूरी नहीं कर पाते हैं क्योंकि ये अपने को कक्षा के परिवेश में अनुकूल महसूस नहीं करते। बच्चों की भाषिक समस्या के समाधान के लिए कक्षा के बहुभाषिक वातावरण को भाषा शिक्षण में एक संसाधन के रूप में प्रयोग किया गया है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2005 व भारतीय भाषाओं का शिक्षण पर आधार-पत्र, 2006 में भी जिसका सुझाव दिया गया है। किसी भी व्यक्ति का बहुभाषिक होना एक सकारात्मक पक्ष है। बहुभाषिकता के व्यवहारिक उपयोग और उसकी संभावना पर प्रकाश डालना इस शोध पत्र का उद्देश्य है।

उद्देश्य

प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों की भाषा सीखने की प्रक्रिया में बहुभाषिकता के योगदान का अवलोकन करना।

विषय की प्रासंगिकता

भारत की बहुभाषिकता की पहचान हमें इसके संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित 22 भाषाएँ से मिल जाती हैं। इन भाषाओं की असंख्य बोलियाँ (dialects) मानी जाती हैं। वास्तव में ये सब अपने आप में पूर्ण भाषाएँ हैं जिनका अपना व्याकरण और साहित्य है। 1971 की गणना के अनुसार यहाँ 1652 भाषाएँ हैं, जो मूलरूप से पाँच परिवारों से संबद्ध हैं। इन्हें 1991 की जनगणना (census) में वैज्ञानिक रूप से 216 मातृ-भाषाओं तथा 114 भाषाओं में समूहित किया गया है। कई भाषाएँ तो इन समूहों में वर्गीकृत होने से वंचित रह गई हैं। इनमें से भारोपीय परिवार की भाषा बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है। (एन.सी.ई.आर.टी., 2005)

हमारे जीवन में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका है। जन्म से ही बच्चा अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का प्रयोग करने लगता है। हालांकि उस समय उसकी भाषा मौखिक (वाणी) न होकर संकेतात्मक होती है। समय के साथ-साथ वह अपने पारिवारिक-सामाजिक परिवेश में भाषा का कौशल प्राप्त कर लेता है। इस भाषा को मौखिक भाषा कहते हैं। बच्चे भाषिक क्षमता के साथ जन्म लेते हैं। इनमें भाषिक विकास विशेष सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक संदर्भों में होता है। कौन सी बात कहाँ, किसे और कैसे कहनी है, यह बच्चा स्वत: सीख जाता है। भाषा अपने आप में ही परिवर्तनशील होती है और अलग-अलग उम्र के समूह द्वारा संदर्भ के अनुसार अलग-अलग ढंग से प्रयुक्त की जाती है (लैबोब 1966, 1972, ट्रडमिल 1974, गुंपर्ज और हाइम्स 1972, गुंपर्ज 1974, हैबरमास 1970, 1996)। भाषिक व्यवहार में यह विविधता बिखरी हुई नहीं होती। यह भाषा, संप्रेषण, विचार व ज्ञान के तंत्रों को जोड़ती है। विचारों के निर्माण व अभिव्यक्ति में भी यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस तरह बच्चे के भाषा सीखने में कई महत्वपूर्ण पहलू काम करते हैं। (एन.सी.ई.आर.टी., 2006)

भारत एक बहुभाषिक देश है। यहाँ बच्चे जन्म से ही बहुभाषिक माहौल में जीते हैं। इस माहौल में निहित सृजनात्मक क्षमता को अपने स्वाभाविक बौद्धिक विकास-क्रम में ग्रहण करते हैं। प्राथमिक शिक्षण-व्यवस्था में भाषा अधिगम (language learning) तथा माध्यम की भाषा (medium of learning) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शोधार्थी को लगता है कि प्राथमिक शिक्षा में इनकी भूमिका को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है। 'भारतीय

भाषाओं का शिक्षण' पर राष्ट्रीय फोकस समूह के आधार-पत्र में प्राथमिक स्तर पर बच्चे की शिक्षा में भाषा से संबद्ध निम्नलिखित बिंदुओं पर प्रकाश डाला है-

• शिक्षा का माध्यम अगर मातृ-भाषा हो तो भाषिक और सांस्कृतिक दूरियों को पाटने में मदद करेगी। बच्चे की घर की भाषा और स्कूल की भाषा को जोड़ना स्कूल की पहली भूमिका होनी चाहिए।

• प्राथमिक शिक्षा एक मायने में भाषा शिक्षण है। यहाँ तक कि गणित, पर्यावरण और समाज की प्रारंभिक जानकारी भी मातृ-भाषा में ही अच्छी तरह से हासिल की जा सकती है।

• मातृ-भाषा/क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा सभी स्तरों पर जारी रहनी चाहिए क्योंकि इन भाषाओं में क्षमता के विकास से बच्चे के मानसिक विकास और संप्रेषण के सभी माध्यम खुले रहते हैं, जिससे आपसी संबंध स्वस्थ होते हैं, साथ ही अवधारणात्मक स्पष्टता भी बढ़ती है।

• शुरुआती शिक्षा का माध्यम बच्चे की मातृ-भाषा में हो तो बच्चे की पूर्व जानकारी, उसकी भाषिक क्षमता और मानसिक विकास का सही इस्तेमाल हो सकेगा।

• हर संभव प्रयास किया जाना चाहिए कि बच्चे की घर की भाषा, आस-पास के वातावरण की भाषा और स्कूल की भाषाओं के बीच एक जुड़ाव या पुल बन सके। यहाँ तक कि अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में भी बच्चों की मातृ-भाषाओं को मध्यस्थ भाषा के रूप में बढ़ावा मिलना चाहिए ताकि एक माध्यम से दूसरे माध्यम में बिना स्कूल बदले आवाजाही हो सके।

• हर संभव यह कोशिश होनी चाहिए कि स्कूली शिक्षा के दौरान बहुभाषी शिक्षा को भी बढ़ावा मिले। (NCERT, 2006)

शोध विधि

इन सभी बिंदुओं को ध्यान में रखते हुए मैंने मुकुंदपुर के दिल्ली नगर निगम विद्यालय की दूसरी कक्षा की भाषा-कक्षाओं का अवलोकन (observation) किया है। मैंने यह कार्य भागीदारी पर्यवेक्षक (participant observer) के रूप में किया है। मेरे शोध की प्रकृति गुणात्मक (qualitative) है इसलिए सूचनाओं व आँकड़ों का विश्लेषण (analysis) भी गुणात्मक विधि द्वारा ही किया गया है।

आँकड़ों के एकत्रण के लिए इस्तेमाल उपकरण (tools)

• साक्षात्कार अनुसूची

1. छात्राओं के लिए
2. अभिभावकों के लिए

• शोधकर्ता के लिए भागीदारी अवलोकन अनुसूची

• छात्राओं की कार्य-पुस्तिकाएँ

• अनौपचारिक वार्तालाप

1. छात्राओं के साथ
2. अध्यापिका के साथ
3. अभिभावकों के साथ

उपकरणों के आयाम

• छात्राओं के घर की भाषा व सामाजिक-आर्थिक परिवेश

• भाषा सीखने में छात्राओं को आने वाली समस्याएँ

• अध्यापिकाओं के शिक्षण से छात्राओं की अपेक्षाएँ

शोध क्षेत्र

दिल्ली नगर निगम प्राथमिक विद्यालय, मुकुंदपुर, उत्तर दिल्ली-110042

जनसंख्या

दिल्ली नगर निगम के स्कूलों की दूसरी कक्षा में पढ़ने वाले सभी छात्राएँ

नमूने का चयन

उद्देश्यपूर्ण/कसौटी आधारित चयन (purposive sampling/criteria based selection)

नमूना

• दूसरी कक्षा की पाँच छात्राओं का समूह

• कक्षा की अध्यापिका

• छात्राओं के अभिभावक

• छात्राओं के भाई-बहन

परिणाम व विचार-विमर्श

मुकुंदपुर स्कूल में आने वाले बच्चे आसपास के क्षेत्र के रहने वाले ही हैं। उनके माता-पिता दिल्ली के मूल निवासी न होकर अप्रवासी हैं जो दूसरे राज्यों से रोजगार के उद्देश्य से यहाँ आकर बस गए हैं। ज्यादातर बच्चे मजदूर-परिवार से संबंधित हैं। इनके पिता किसी फैक्टरी अथवा दुकान में कामगार हैं या फिर दिहाड़ी मजदूर हैं। जबकि इनकी माता या तो घर में ही कुछ माल बनाने का काम करती हैं या फिर बाहर जाकर दूसरे घरों में या फैक्टरियों में काम करती हैं। ये बच्चे आर्थिक, सामाजिक व शैक्षिक सभी तरह से पिछड़े हुए परिवारों से आने वाले बच्चे हैं। माता व पिता दोनों के कार्यरत होने के कारणएक तो, इन

बच्चों को पढ़ाई के साथ-साथ अपने छोटे भाई-बहनों का ध्यान भी रखना पड़ता है। दूसरे, जिनके घर में कोई माल बनाने का काम होता है, उन्हें उसमें भी हाथ बंटाना पड़ता है।

ये अभिभावक आर्थिक रूप से पिछड़े होने के बावजूद अपने बच्चों की शिक्षा को लेकर जागरूक हैं। परंतु पर्याप्त संसाधन न होने के कारण अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजने के लिए मजबूर हैं। इनकी सारी आशाएँ व अपेक्षाएँ सरकार व सरकारी स्कूलों से बंधी हैं। इस स्कूल की कुछ छात्राएँ कई समस्याओं का सामना करने के बावजूद कक्षा में अच्छा प्रदर्शन करती हैं। यदि शिक्षक पढ़ाने की रूढ़िवादी पद्धति (कक्षा में शिक्षक का प्रभुत्व) से हटकर कक्षा-गतिविधियों में छात्राओं को भी भागीदारी के अवसर प्रदान करेंगी तो उससे न केवल छात्राओं के बौद्धिक व शारीरिक कौशल में विकास होगा बल्कि स्वयं उनका कार्य भी सरल होगा। इससे ज्यादा से ज्यादा छात्राओं को अच्छा प्रदर्शन करने के अवसर प्राप्त होंगे। जब छात्राएँ एक ही विषय-वस्तु या अवधारणा को अपने स्तर पर आपसी सहयोग से समझने का प्रयास करेंगी तो ज्यादा अच्छे से समझेंगी। ऐसे में सबको अपनी बात कहने का अवसर भी मिलेगा और साथ ही अपनी भाषा व समझ की अभिव्यक्ति का मौका भी। एक दूसरे के विचारों से अवगत होने से छात्राओं में आपसी तालमेल के साथ-साथ सहिष्णु व सौहार्दपूर्ण संबंध भी विकसित होंगे।

कक्षा में पढ़ाई जाने वाली किसी भाषा को यदि शिक्षिका एक शुद्ध भाषा रूप में पढ़ाने के बजाय यहाँ मौजूद बहुभाषिकता का प्रयोग एक संसाधन के रूप में करती है तो न केवल छात्राओं की भाषा समृद्ध होगी बल्कि इससे उनका मनोबल भी बढ़ेगा। यहाँ कक्षा-शिक्षण गतिविधि का एक उदाहरण प्रस्तुत है-कक्षा-शिक्षिका द्वारा हिंदी की कक्षा में रंगों के नाम कराए गए। श्याम-पट्ट पर दस रंगों के नाम छात्राओं को कापी में उतारने के लिए लिखकर शिक्षिका किसी अन्य कार्य में व्यस्त हो गई। शोधार्थी ने उसी समय कक्षा में प्रवेश किया। कुछ बच्चे ध्यानमग्न श्याम-पट्ट कार्य को अपनी कापी में उतार रहे थे जबकि कुछ बच्चे चुपचाप बैठे थे। पूछने पर पता चला कि उनके पास कापी नहीं है। कुछ को अभी स्कूल से मिली नहीं है और कुछ घर से लाए ही नहीं है। सब छात्रों के काम पूरा कर लेने के बाद शोधार्थी ने उनसे प्रश्न किया, ''कौन बच्चा इन लिखे हुए रंगों के नामों के अतिरिक्त रंगों के नाम बता सकता है? केवल हाथ खड़ा करना है। पूछने पर जबाव देना।'' अब न केवल कापी में लिखने वाले अपितु जिनके पास कापी नहीं थी उन्होंने भी हाथ खड़े किए। एक-एक कर सबने श्याम-पट्ट पर लिखी दस रंगों की सूची को अठारह रंगों की सूची में बदल दिया। छात्राओं ने इन अतिरिक्त आठ रंगों के नाम रोमन या देवनागरी लिपि में लिखे थे। इस सूची को आगे सारणी में प्रस्तुत किया गया है-

रंगों के नाम

क्र. सं.	शिक्षिका द्वारा श्याम-पट्ट पर लिखे गए रंगों के नाम	क्र. सं.	छात्राओं द्वारा सुझाए गए रंगों के नाम
1	लाल	1	चोकलेटी
2	पीला	2	स्काईब्लु
3	नीला	3	जामुनी
4	हरा	4	संतरी
5	सफेद	5	फेस
6	काला	6	चमकीला
7	भूरा	7	सलेटी
8	आसमानी	8	क्रीम
9	गुलाबी		
10	बैंगनी		

निष्कर्ष व सुझाव

भाषा की कक्षाओं के अवलोकन से यही निष्कर्ष निकलता है कि छात्राओं को पहले तो कक्षा-गतिविधि व कक्षा-विमर्श में पर्याप्त अवसर मिलने चाहिए। साथ ही उन्हें अपनी बात अपने ढंग से बिना किसी भाषिक सीमा या नियम के कहने की आजादी होनी चाहिए। भाषिक व व्याकरणिक अशुद्धियों तथा त्रुटियों का कक्षा में निषेध के स्थान पर स्वागत होना चाहिए। ये भाषा सीखने की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण चरण है। समय व व्यवहारिक कौशल से ये स्वत: ही ठीक हो जाएंगे। भाषा की कक्षा का उद्देश्य छात्राओं को आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करना होना चाहिए। यदि छात्रा अपनी बात को किसी भी भाषा या शैली में अभिव्यक्त कर पाती है तो शिक्षिका उसे (विषय-वस्तु) मानक भाषा में कक्षा में संप्रेषित कर

सकती है। बहुभाषिक परिवेश में भाषा की अभिव्यक्ति किसी भाषा-विशेष की सीमा या नियमों के अंतर्गत कार्य नहीं करती अपितु यहाँ वक्ता अपनी व श्रोता की सुविधानुसार शब्दों, भाषिक-संरचना व भाषा-शैली का प्रयोग करता है। प्राथमिक कक्षाओं की शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में बहुभाषिकता महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। यहाँ आने वाले बच्चों के पास अपने घर की भाषा के साथ-साथ अपने सामाजिक-पारिवारिक परिवेश का ज्ञान भी होता है। शिक्षिका बहुभाषिकता को संसाधन के रूप में प्रयोग कर बच्चे के पूर्वज्ञान का प्रयोग कर अपनी शिक्षण-गतिविधि की शुरूआत कर सकती है। इससे छात्राओं तथा शिक्षिका दोनों को लाभ होगा। जहाँ एक ओर छात्राओं को कक्षा में अपनेपन का बोध होगा। वहीं दूसरी ओर शिक्षिका को बच्चों के पूर्वज्ञान के रूप में सीखने के लिए तैयार कक्षा मिलेगी।

पीएच.डी. शोधार्थी
शिक्षा संकाय, जामिया मिल्लिया इस्लामिया
नई दिल्ली-110025
ईमेल: pkaur260@gmail.com

संदर्भ सूची

- एन.सी.आर.टी. 2005. 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा' (एन.सी.एफ.) नई दिल्ली.
- एन.सी.आर.टी. 2006. 'भारतीय भाषाओं का शिक्षण' पर राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार-पत्र. नई दिल्ली.
- सिंह, संध्या व कपूर, कीर्ति. 2010. 'समझ का माध्यम'. एन.सी.आर.टी. नई दिल्ली.

डॉ. प्रीति कौशिक

उपनिषदों में वाक् का स्वरूप

वाणी के अभाव में हमारा जीवन पङ्गु है। हम संसार के सभी व्यापार वाणी के माध्यम से ही करते हैं। वाणी के द्वारा केवल विचारों का विनिमय ही सम्भव नहीं है, अपितु इस जगत् में जो कुछ सत्य है, शिव है और सुन्दर है, उन सबकी व्यञ्जना भी होती है। इस वाणी की दूसरी प्राचीन संज्ञान वाक् है। उपनिषद् वाक् विषयक मधुर एवं युक्तिपूर्ण विचारों से परिपूर्ण है। उपनिषदों में वाक् का आध्यात्मिक, औधिभौतिक तथा दैविक रूप लक्षित होता है। उपनिषद्-कालीन वाक् के स्वरूप की पीठिका वेदों में ही विद्यमान थी।

ऋग्वेद के अनुसार वाक् को देवों ने जन्म दिया–'देवीं वाचमजनयन्त देवाः।'[1]

इस वाक् के चार विभाग हैं–'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि।'[2]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इन चार से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को स्वीकार किया है। वाक् के परा, पश्चन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप दर्शनीय है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 125वें सूक्त की द्रष्टा 'वाक्' नाम की एक विदुषी है, जो अम्भृण महर्षि की पुत्री थी। उसने स्वयं वाक् की स्तुति परमात्मा के रूप में की है। इस सूक्त में वाक् का अलौकिक रूप झलकता है। वैदिक ऋषियों ने लौकिक रूप की उपेक्षा न करते हुए वाक् में निपुण व्यक्तियों की प्रचुर महिमा का गान किया है। ऋग्वेद में विशुद्ध व्यवहार करने वालों के विषय में ऋषि का प्रस्तुत मन्त्र उल्लेखनीय है[3]–

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।।

'जिस तरह चलनी से सत्तू को शुद्ध करते हैं उसी तरह जो विद्वान् वाणी को शुद्ध करके उसका प्रयोग करते हैं, वे लोक में मित्र होते हैं, मित्रता का सुख प्राप्त करते हैं, उनकी वाणी में कल्याणमयी रमणीयता रहती है। वेदों में जो वाक् के स्वरूप मिलते हैं, उनका विकास उपनषिदों में हुआ है। यदि वाक् शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया जाए, तो उपनिषदों में वाक् शब्द की उत्पत्ति वही है, जो वेदों में लक्षित होती है। जिस किसी भी शब्द को वाक् कहते हैं–यः कश्च शब्दः वागेव सा'[4], वाक् सन्धिः जिह्वा सन्धानम्[5]। यह वाक्य वाक् और जिह्वा के सम्बन्ध का स्पष्ट संकेत कर रहा है। उपनिषद् के ऋषियों ने इस जिह्वा-व्यापार के पीछे छिपी हुई प्राणशक्ति और मानसिक शक्ति का भी सङ्केत किया है, जिनका अति सूक्ष्म वर्णन बाद के उपनिषदों और व्याकरण दर्शन में स्फोट के रूप में किया गया है।

यह वाक् लोक-व्यवहार में अत्यन्त सहायक प्रतीत होती है। बृहदाख्यक उपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् में लोक-यात्रा में वाक् की सहायता उल्लेखनीय है। जब जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछा–'जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा की चाँदनी भी नहीं रहती, जब आग भी बुझी रहती है उस समय मानव को प्रकाश देने वाली कौन-सी वस्तु है? तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, ''वह वाक् है, वाक् ही पुरुष का प्रकाशक है।''[6] याज्ञवल्क्य के अनुसार, यदि वाक् की सृष्टि न होती, तो धर्म-अधर्म का ज्ञान न होता, सच-झूठ का ज्ञान न होता, कौन साधु है और

कौन असाधु है, कौन सहृदय है और कौन अनुभूति-शून्य है–इसकी जानकारी नहीं होती। वाक् को ही यह सब सूचित करती है। वाक् की उपासना करो।[7] ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अर्थावेद, इतिहास, पुराण और आदि विद्याओं का ज्ञान वाक् से ही होता है। जो कुछ हवन किया गया, खाया गया, पीया गया–ये सभी वाक् से ज्ञात होते हैं। इस लोक का, परलोक का, सम्पूर्ण भूतों का ज्ञान वाक् से ही होता है।[8] ज्ञान का एकमात्र अधिष्ठान वाक् है–सर्वेषां वेदानां वागेवायतनम्।[9]

उपनिषदों में वाक् और विचार के परस्पर सम्बन्ध की व्यञ्जना स्पष्ट होती है। भाषा विज्ञान की उत्पत्ति विषयक कुछ मत भाषा और विचार के परस्पर सम्बन्ध पर ही आश्रित हैं। हेस और मैक्समूलर भी इसी मत के समर्थक हैं। प्राचीन आचार्यों में भर्तृहरि का यही मत है।[10] संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो शब्द के बिना जाना जा सके। पतञ्जलि के 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' और कालिदास के 'वागर्थावि सम्पृक्तौ' में भी वाक् और विचार का नित्य सम्बन्ध दर्शनीय है। बिना भाषा के विचार सम्भव है कि नहीं यह एक विवादात्मक प्रश्न है। यदि उपनिषदों में इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाए, तो समाधान के दो पहलू लक्षित होते हैं। प्रथम विचार यह है कि, विचार अथवा ज्ञान वाक् की सहायता के बिना भी सम्भव है। ज्ञान इस कोटि का भी हो सकता है, जो वाक् से परे हो। जब उपनिषद् के ऋषि यह घोषित करते हैं, कि 'वेदाहयेतं पुरुषं महान्तम्' मैं उस पुरुष को जानता हूँ और दूसरे क्षण यह कहते हैं कि 'नेव वाचा न मनसा'[11] अर्थात् न तो वह वाणी से न मन से जाना जा सकता है, तो इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान की गहराई तक वाणी नहीं पहुँचती। शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है–वाग्वै मनसो हसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव वाक्।[12] अर्थात् वाक् विचार से हल्की है। विचार असीम-सा जबकि वाक् सीमित-सा है। समाधान का दूसरा पहलू यह है कि वाक् और विचार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपनिषदों के अन्तर्गत सृष्टि क्रम में मन और वाणी के, विचार और वाणी के परस्पर संक्रमण का उल्लेख अवलोकनीय है–स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्[13] बृहदाख्यक उपनिषद् में वाक् का स्वरूप दर्शाते हुए कहा गया है, कि वाक् धेनु है, प्राण इसका ऋषभ (साँड़) है और मन (विचार) इसका वत्स है।[14] वाक् और विचार के परस्पर सहयोग की अनिवार्यता को देखकर ही ऐतरेय उपनिषद् में कहा गया था–

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।[15]

अतः यहाँ यह कथन समुचित होगा कि, उपनिषद् वाक् और विचार के सम्बन्ध को और उनके असम्बन्ध को तथा वाक् के मूल में स्थित मानसिक क्रिया को सम्यक्रूपेण प्रकट करते हैं। उपनिषदों में वाक् का कलापक्ष का भी दर्शनीय है। वाक् स्वयं एक प्रकार की अभिव्यक्ति है। प्रभान्वित अभिव्यक्ति का नाम कला है। वाक् की अभिव्यक्ति की संवेदनशीलता लक्षित होने पर जब वाक् माधुर्यभाव को जगाने में समर्थ होती है, उसका कलत्मक रूप निखर उठता है, जिसके भीतर रस और बाहर सौन्दर्य लहराता है। वाक् की सौन्दर्य-मीमांसा में कहा गया–

वाच ऋग् रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः।[16]

वाक् रस (सौन्दर्य) ऋक् (कविता) है। ऋक् का रस साम (लय-नाद-सौन्दर्य या समरसता है) है। साम का रस उद्गीथ है। (उद्गीथ सामवेद का द्वितीय भाग, छान्दोग्य उपनिषद् में उद्गीथ से प्रणव का ग्रहण किया गया है।)

यहाँ यह भाव प्रतीत होता है, कि वाक् का सौन्दर्य छन्द का परिधान प्राप्त करके देदीप्यमान हो उठता है। तब वाक् ऋक्, छन्द, श्लोक अथवा कविता के नाम से पुकारी जाती है। कविता वाक् का निष्पन्द है। गीतों में एक समरसता लक्षित होती है, जिससे उनका सौन्दर्य कविता के क्षेत्र में बढ़ जाता है। सामगान में केवल स्वरों का सामञ्जस्य नहीं लाना पड़ता, अपितु बाहर के नाद-सौन्दर्य का भीतर की प्राण-शक्ति के साथ ऐक्य स्थापित करना पड़ता है। कविता के बाह्य ऐक्य स्थापित करना पड़ता है। कविता के बाह्य और आभ्यन्तरिक गुणों का गीतों में स्वभावतः समन्वय हो जाता है। गीत कविता के शृंगार हैं। उद्गीथ गीतों का परिपाक है। यह गीत के आह्लदकता स्वरूप को स्पष्ट करता है। आह्लदकता में माधुर्य और माधुर्य में रस है। रस का ही नाम आनन्द है। अतः वाक् के कला-पक्ष की स्थिति भी आनन्द में ही होती है।

उपनिषदों में वाक् की अधिदैवत व्याख्या भी उल्लेखनीय है। बृहदराख्यक उपनिषद् में वाक् को स्पष्ट करते हुए कहा गया है, ''वाक् ही यज्ञ का होता है, वही अग्नि है, वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है।''[17] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार, ''वाक् ब्रह्म का चतुर्थ पाद है।''[18] उपनिषद् के ऋषियों ने वाक् के अत्यन्त रहस्यात्मक स्वरूप के भी दर्शन किए हैं। यहाँ वाक् न तो एक साधारण बोलचाल का

माध्यम है और न ज्ञान का असाधारण साधन है। वह साधारण असाधारण दोनों से परे है। वह अत्यन्त सूक्ष्म, नित्य और अनन्त है। सम्पूर्ण जगत् का विकास वाक् से हुआ है। बृहदाख्यक उपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है कि वाक् के द्वारा सृष्टि की गई–स तथा वाचा तेनात्मना इदं सर्वमसृजत्। वाक् से सृष्टि हुई, श्रुति भी इसकी पोषक है–वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे।

आचार्य वाङ्कर जैसे दार्शनिक ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। यह तो सर्वज्ञात है, कि हम जो कुछ भी करते हैं, उसके वाचक शब्द हमारे मन में पहले आते हैं, उसके बाद हम वह कार्य करते हैं। 'वेदान्तसूत्र' में सृष्टि का निरूपण करते हुए कहा गया है कि, सृष्टि रचने के पूर्व प्रजापति के मन में भी वैदिक शब्दों का अभाव हुआ, तदनन्तर उन शब्दों के अनुरूप प्रजापति ने वस्तुओं की सृष्टि की।

प्रणव वाक् के रहस्यात्मक स्वरूप का निर्देशन करता है। प्रणव वाक् का मूल तत्त्व है। जो उद्गीथ है, वही प्रणव है। जो प्रणव है, वही ओम है। 'यह ओम अक्षर है। यह सबकुछ– भूत, भविष्य और वर्तमान–ओंकार ही है और जो इन तीनों कालों से परे है, वह भी ओम ही है।[19] इस सन्दर्भ में उपनिषद् के ऋषियों का यह कथन अत्यन्त श्लाघनीय है, 'वाक् ही परम ब्रह्म है'–'वाग् वै सम्राट परमं ब्रह्म'[20]

यहाँ यह कथन समुचित ही होगा कि, वाक् का रहस्यात्मक रूप दैनिक व्यवहार के वाक् से भिन्न ही है। परन्तु विचार करने पर, ऐसा प्रतीत होता है कि, वाक् को जो यह उच्चतम आसन प्रदान किया गया है, वह साधार है। 'यह सब ब्रह्म है' इसके पीछे एक दृढ़ सिद्धान्त है और इसी दृष्टि से वाक् भी ब्रह्म है। वाक् सूक्ष्म ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरी वस्तु हो ही नहीं सकता। स्थूल जगत् ब्रह्म का विवर्त है। स्थूल-जगत् वाक् का विकार है, क्योंकि रूप और नाम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उनमें कोई भेद नहीं लक्षित होता। अतः वाक् और ब्रह्म में भी कोई भेद नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि उपनिषदों में जहाँ जीव और जगत्-सम्बन्धी अनेक गूढ़ तत्त्वों का निरूपण है, वहाँ वाक् पर भी प्रकाश डाला गया है। उपनिषदों में जहाँ-तहाँ वाक् विषयक विचार बिखरे हुए हैं, जो वाक् के प्रत्येक अङ्ग पर दृष्टिपात करते हैं। लोक-जीवन में वाक् का जितना महत्त्व उपनिषद् के ऋषियों ने दर्शाया है, उससे अधिक कोई क्या यह सकता है। उपनिषद् के ऋषियों के लिये वाक् केवल जिह्व-व्यापार न होकर अन्तरात्मा की पुकार है। वह दैवी है। भाषा-विज्ञान वाक् के नित्य-नवीन विश्लेषण में निरत है। परन्तु उपनिषदों में जो वाक् का स्वरूप है, उसकी महत्ता ज्यों-की-त्यों है। वाक् की उपासना सदैव होती रहेगी। यहाँ सुप्रसिद्ध नाटककार भवभूति का कथन उल्लेखनीय है–

'विन्देय देवतां वाचममृतात्मनः कलाम्।'

एसोसिएट प्रोफेसर
जाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. ऋक्संहिता, निरुक्त 11-29
2. ऋक्संहिता, 1-164-45
3. वही, 10-61-2
4. बृहदाख्यक उपनिषद्, 1-5-3
5. तैत्तिरीय उपनिषद्, 1-3-5
6. बृहदाख्यक उपनिषद्, 4-3-5
7. छान्दोग्य उपनिषद्, 7-2
8. बृहदाख्यक उपनिषद्, 4-1-2
9. बृहदाख्यक उपनिषद्, 2-4-11
10. वाक्यपदीप, 1-124
11. कठोपनिषद्, 6-13
12. शतपथ ब्राह्मण, 1-3-6
13. बृहदाख्यक उपनिषद्, 1-2-4
14. बृहदाख्यक उपनिषद्, 5-8-1
15. ऐतरेय उपनिषद्, अन्तिम अंश
16. छान्दोग्य उपनिषद्, 1-1-2
17. बृहदाख्यक उपनिषद्, 3-1-3
18. छान्दोग्य उपनिषद्, 3-18
19. माण्डूक्य उपनिषद्, 1-1
20. बृहदाख्यक उपनिषद्, 4-1-2

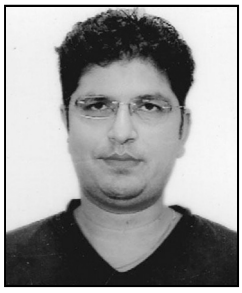

बिभूति कुमार

वेदान्त दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों की मीमांसा

सार-संक्षेप :

भारतीय चिन्तन परम्परा में वेदान्त दर्शन की गणना शीर्ष दर्शन के अन्तर्गत की जाती है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के विस्तृत चिंतन का अंतिम सार ही वेदान्त दर्शन है। वेदान्त के सूत्रों को ब्रह्मसूत्र भी कहा जाता है। वेदान्त दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर उसके मूल सिद्धांतों को आसानी पूर्वक समझा जा सकता है। इस शोध पत्र में अन्वेषक द्वारा भारतीय दर्शन के अन्तर्गत वेदान्त दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों की मीमांसा का एक सार्थक प्रयास किया गया है।

बीज-शब्द :

दर्शन, वेदान्त, बह्मसूत्र, सांस्कृतिक, वैदिक, ऐतिहासिक।

विषय-प्रवेश :

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के गूढ़ एवं विस्तृत चिंतन का अंतिम सार ही वेदान्त दर्शन है। वादरायण व्यास (चौथी शताब्दी) ने इन समस्त ग्रंथों के सार तत्व को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया। उनके द्वारा विरचित ग्रंथ का नाम 'ब्रह्म सूत्र' है। यही ग्रंथ वेदान्त दर्शन का आदि ग्रंथ है। वादरायण के कई सौ वर्ष बाद अनेक विद्वानों ने अनके ब्रह्म सूत्र पर भाष्य ग्रंथ लिखे और अपनी-अपनी दृष्टि से ब्रह्म सूत्र में प्रतिपादित वेदान्त की व्याख्या की है। इन व्याख्याओं से वेदान्त की अनेक शाखा उपशाखाओं का विकास हुआ। इनमें शङ्कर (9वीं शताब्दी) का अद्वैत, रामानुजाचार्य (12वीं शताब्दी) का विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य (13वीं शताब्दी) का द्वैत, निम्बार्क (13वीं शताब्दी) का द्वैत, श्रीकंठ (13वीं शताब्दी) का शैव विशिष्टाद्वैत, श्रीपति (14वीं शताब्दी) का वीर शैव विशिष्टाद्वैत और बल्लभाचार्य (16वीं शताब्दी) का शुद्वैत मुख्य हैं। इनमें शङ्कर का अद्वैत वेदान्त तो पूर्ण रूपेण वेद एवं उपनिषद् मूलक है, परंतु शेष सभी दर्शनों की उपासना की पद्धतियाँ वैष्णव, शैव एवं शाक्त आगमों पर आधारित हैं। वैष्णव, शैव और शाक्त आगमों पर आधारित होने के कारण ही उन्हें क्रमशः वैष्णव, शैव और शाक्त दर्शनों के रूप में जाना जाता है। इनमें शङ्कर का अद्वैत और रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत, वेदान्त के दो सीमांत दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

शङ्कर का अद्वैत वेदान्त भारतीय चिंतन धारा का चरमोत्कर्ष है। आज भारत में जितने भी दर्शन एवं धर्म मानव जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं उन पर वेदान्त का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य है। भारतेत्तर दर्शन एवं धर्मों से भी यह बड़ा मेल खाता है। इसका ब्रह्म यहूदी धर्म के जेहोवा, पारसी धर्म के आहुरमज्द, ईसाई धर्म के गौड और इस्लाम धर्म के अल्लाह के समान निर्गुण एवं सर्वशक्तिमान है। अंतर केवल इतना है कि जेहोवा, आहुरमज्द, गौड और अल्लाह इस ब्रह्मांड के कर्ता मात्र हैं, जबकि वेदान्त का ब्रह्म इसका कर्ता एवं उपादान, दोनों कारण है। जगत् के कर्ता के रूप में ब्रह्म को सगुण रूप देकर उसे ईश्वर की संज्ञा से विभूषित कर शङ्कर ने ईश्वर भक्त लोगों के हृदय को भी स्पर्श किया है। वैसे भी भक्ति भाव तो शङ्कर को अपने माता-पिता से विरासत के रूप में प्राप्त हुआ था। उनके द्वारा विरचित ग्रंथ 'सौंदर्य लहरी' में उनकी भक्ति भावना ही प्रस्फुटित हुई है।

रामानुजाचार्य ने तो ईश्वर को सगुण रूप में ही

स्वीकार किया है और उसकी प्राप्ति के लिए भक्ति को सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को समझना आवश्यक होता है। अतः हम सर्वप्रथम वेदान्त दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

वेदान्त दर्शन की तत्व मीमांसा

शङ्कर ने इस ब्रह्मांड के मूल में केवल ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की है। उनकी दृष्टि से ब्रह्म ही अंतिम सत्य है। उनका यह ब्रह्म अनादि, अनंत और निराकार है। यही ब्रह्म इस ब्रह्मांड का कर्ता और उपादान कारण है। यही शङ्कर का अद्वैत है। शङ्कर के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्म अपनी इच्छा से अपने अंदर माया शक्ति का निर्माण करता है और उसके बाद इस माया शक्ति के द्वारा इस नाना वस्तु जगत् का निर्माण करता है। शङ्कर के अनुसार माया ब्रह्म की बीज शक्ति है, यह न तो सत् है और न असत्। शङ्कर ने इसे अनिर्वचनीय कहा है। शङ्कर के अनुसार जगत् के कर्ता के रूप में यह ब्रह्म साकार ब्रह्म अथवा ईश्वर के नाम से विभूषित होता है।

आत्मा को शङ्कर ब्रह्म का अंश मानते हैं और चूँकि ब्रह्म अपने में अनादि, अनंत, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञाता है इसलिए शङ्कर की सम्मति में आत्मा भी अपने में अनादि, अनंत, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञाता है। जीव के विषय में शङ्कर का मत है कि शरीर तथा इंद्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल का भोक्ता आत्मा ही जीव है। यही जीव सूक्ष्म शरीर के साथ एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता है।

जगत् को शङ्कर नाशवान एवं असत्य मानते हैं। उनकी दृष्टि से इस जगत् एवं उसमें मानव जीवन की केवल व्यावहारिक सत्ता है। पदार्थ की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, पदार्थ तो विचार शक्ति के तेजी से चक्कर काटने से उत्पन्न भँवरजाल है। जिस प्रकार पानी में भँवर का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार पदार्थों का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। शङ्कर का यह मत भारतीय प्रत्ययवाद और प्लेटो के विचारवाद से बड़ा मेल खाता है।

मनुष्य को शङ्कर ने अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत माना है। उनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य आत्मघाती है और आत्मा सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है, इसलिए मनुष्य अपने में अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत है। उनका आगे स्पष्टीकरण है कि माया के आवरण के कारण वह अपने इस वास्तविक स्वरूप को भूले रहता है, जैसे ही माया का आवरण हटता है, वह अपने वास्तविक स्वरूप को समझ जाता है।

शङ्कर कर्म सिद्धांत को मानते थे। उन्होंने मनुष्य के कर्मों को तीन वर्गों में विभाजित किया है-संचित कर्म (पूर्व जन्म में किए गए कर्म), प्रारब्ध कर्म (पूर्व जन्म में किए गए वे कर्म जिनका फल इस जीवन में भोगना है) और संचीयमान कर्म (वे कर्म जो इस जीवन में किए जा रहे हैं)। शङ्कर के अनुसार मनुष्य को प्रारब्ध कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं, वह उनको भोगे बिना कर्म शून्य नहीं हो सकता, मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ, वह अपने संचित कर्मों और संचीयमान कर्मों के फल को ब्रह्म ज्ञान द्वारा शून्य कर सकता है। शङ्कर के अनुसार मनुष्य अपने प्रारब्ध कर्मों का फल भोगकर और संचित एवं संचीयमान कर्मों के फल को ब्रह्म ज्ञान द्वारा शून्य करने के बाद ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

शङ्कर के विपरीत रामानुजाचार्य ने ब्रह्म और ईश्वर को एक ही रूप में लिया है। शङ्कर के अनुसार 'तत्वमसि' का अर्थ है-तुम (आत्मा) ब्रह्म हो। रामानुजाचार्य के अनुसार 'तत्वमसि' का अर्थ है-ब्रह्म तथा ईश्वर एक है। शङ्कर ने केवल ब्रह्म को मूल तत्व माना है, रामानुजाचार्य ने तीन मूल तत्व माने हैं-चित् (चेतन, आत्मा), अचित् (अचेतन, जड़) और ब्रह्म (ईश्वर)। इनकी दृष्टि से ईश्वर में चित् और अचित् दोनों तत्व विद्यमान हैं, सृष्टि के नष्ट होने पर उसके चित् और अचित् तत्व सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं। ईश्वर विशिष्ट ही शेष रह जाता है। ईश्वर के चित्-अचित् से विशिष्ट होने के कारण ही उनके दर्शन को विशिष्टाद्वैत दर्शन कहा जाता है। वस्तु जगत् के विषय में भी रामानुजाचार्य का मत शङ्कर से अलग है। शङ्कर ने इस जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता मानी है, जबकि रामानुजाचार्य ने इसे वास्तविक माना है। उनकी दृष्टि से ब्रह्म (ईश्वर) और उसके द्वारा निर्मित यह जगत् दोनों सत्य हैं, दोनों वास्तविक हैं।

वेदान्त दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा :

शङ्कर ने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है-अपरा

(लौकिक अथवा व्यावहारिक) तथा परा (आध्यात्मिक)। इस वस्तु जगत् एवं मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों के ज्ञान को उन्होंने अपरा ज्ञान कहा है। उनकी दृष्टि से इस ज्ञान की केवल व्यावहारिक उपयोगिता है, इससे मनुष्य अपने जीवन के अंतिम उद्देश्य 'मुक्ति' की प्राप्ति नहीं कर सकता। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं गीता की तत्व मीमांसा को वे परा ज्ञान मानते थे। उनकी दृष्टि से यही सच्चा ज्ञान है, इस ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इन दोनों प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए शङ्कर ने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की विधि का समर्थन किया है, परंतु पराज्ञान के लिए वे श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के साथ साधान चतुष्ट्य को आवश्यक मानते थे। उनकी दृष्टि से बिना साधन चतुष्ट्य (नित्य-अनित्य वस्तु विवेक, भोग विरक्ति, शमदमादि संयम और ममुक्षकत्व) के परा ज्ञान नहीं हो सकता।

रामानुजाचार्य ने ज्ञान को अन्य दो रूपों में विभाजित किया है-धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान। धर्मीभूत ज्ञान से उनका तात्पर्य कर्तारूप ज्ञान से है और धर्मीभूत ज्ञान से तात्पर्य कर्म में विद्यमान ज्ञान से है। रामानुजाचार्य ने जगत् के ज्ञान को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना है जितना ब्रह्म (ईश्वर) ज्ञान को, बशर्ते जगत् का ज्ञान भी आत्मोन्नति के लिए किया जाए।

शङ्कर ने मनुष्य जीवन को दो रूपों में विभाजित किया है-एक अपरा (व्यावहारिक) और दूसरा परा (आध्यात्मिक)। व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने मनुष्यों को अपने वर्ण-कर्म को निष्ठा एवं ईमानदारी से करने की सलाह दी है। इनका विश्वास है कि जो मनुष्य अपने वर्ण-कर्म को जितनी निष्ठा एवं ईमानदारी से करेगा वह व्यावहारिक दृष्टि से उतना ही सफल होगा।

शङ्कर के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति प्राप्त करना है। मुक्ति से शङ्कर का तात्पर्य सांसारिक सुख-दु:ख के छुटकारे से है। मुक्ति के शङ्कर ने दो रूप स्वीकार किए हैं-एक जीवन मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। जीवन मुक्ति से शङ्कर का तात्पर्य जीवन जीते हुए कर्म फल के प्रति अनासक्त होकर, सुख-दु:ख से मुक्त होने से है और विदेह मुक्ति से तात्पर्य जीवन के अंत में ब्रह्म तत्व की प्राप्ति से है जिसके बाद मनुष्य इस संसार के आवागमन से छूट जाता है और इस संसार के सुख-दु:ख भोग से मुक्त हो जाता है। उनके मत से किसी भी प्रकार की मुक्ति के लिए ज्ञान मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए शङ्कर ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर बल दिया है और इस सबके लिए साधन चतुष्टय को आवश्यक माना है। मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक को इन सबका पालन करना चाहिए।

रामानुजाचार्य ने शङ्कर की भाँति मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति माना है, परंतु उन्होंने जीवनमुक्ति को मुक्ति नहीं माना। उनकी दृष्टि से ब्रह्म (ईश्वर) की प्राप्ति करके ही मनुष्य मुक्त हो सकता है। और इसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने सर्वाधिक महत्व भक्ति को दिया है।

वेदान्त दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर हम उसको निम्नलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं-वेदान्त दर्शन भारतीय दर्शन की वह विचारधारा है, जो इस ब्रह्मांड को ब्रह्म (ईश्वर) द्वारा निर्मित मानती है और यह मानती है कि ब्रह्म नित्य है और यह वस्तु जगत् अनित्य है। यह ब्रह्म को इस सृष्टि की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण मानती है और आत्मा को ब्रह्म का अंश मानती है। यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य के जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है, जिसे ज्ञान योग, कर्म योग, राज योग एवं भक्ति योग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

वेदान्त दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों की मीमांसा :

वेदान्त दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं-

1. यह ब्रह्मांड ब्रह्म (ईश्वर) द्वारा निर्मित है - शङ्कर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म मूल तत्व है और ब्रह्म से ब्रह्म के ही द्वारा इस ब्रह्मांड का निर्माण होता है और उसी के द्वारा इसमें नित्य दृश्य एवं अदृश्य परिवर्तन होते रहते हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपने अंदर के द्रव्य पदार्थ से अपने श्रम से अपने जाल की रचना करती है ठीक उसी प्रकार ब्रह्म इस जगत् का निर्माण करता है। ब्रह्म की वह शक्ति जिसके द्वारा वह ब्रह्मांड का निर्माण करता है, उसे शङ्कर ने माया कहा है। शङ्कर के अनुसार ब्रह्म अनादि, अनंत, निर्गुण और निर्वयव है, परंतु जब उसमें माया के द्वारा संसार के निर्माण का गुण आरोपित किया जाता है तो वह सगुण हो जाता है। उपासना

की दृष्टि से भी हम उसे सगुण ब्रह्म (ईश्वर) के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, परंतु है वह निर्गुण ही। रामानुजाचार्य ने ब्रह्म और ईश्वर को एक ही रूप में लिया है। उनकी दृष्टि से ईश्वर ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों का कारण है।

2. ब्रह्म और जगत् में ब्रह्म विशिष्ट है - शङ्कर का तर्क है कि इस जगत् का निर्माण होता है और नाश भी इसमें तो प्रति क्षण परिवर्तन होता रहता है, इसलिए यह अनित्य है, असत्य है। उनके अनुसार केवल ब्रह्म ही नित्य है, सत्य है। शङ्कर ने इस जगत् की व्यावहारिक सत्ता अवश्य स्वीकार की है। इसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार किए बिना तो मनुष्य के अस्तित्व और उसके द्वारा ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग और मोक्ष प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। शङ्कर के विपरीत रामानुजाचार्य ने ब्रह्म और जगत् दोनों को सत्य माना है, परंतु यह उन्होंने भी माना है कि ब्रह्म इनमें विशिष्ट है, प्रलय के समय जगत् तो सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है परंतु ब्रह्म (ईश्वर) विशिष्ट शेष रहता है।

3. आत्मा ब्रह्म का अंश है - शङ्कर की दृष्टि से आत्मा ब्रह्म का अंश है। मूल रूप में इनमें भेद नहीं हैं, ब्रह्म की माया शक्ति के कारण आत्मा ब्रह्म से अलग प्रतीत होती है माया का पर्दा हटते ही आत्मा और ब्रह्म में भेद नहीं दिखाई देता। रामानुजाचार्य ने जीव (आत्मा), अजीव (प्रकृति) और ईश्वर, तीन मूल तत्व माने हैं। उनकी दृष्टि से आत्मा का अलग अस्तित्व है।

4. मनुष्य अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत है - शङ्कर का स्पष्टीकरण है कि मनुष्य आत्माधारी है और आत्मा ब्रह्म का अंश है, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है, इसलिए मनुष्य अपने में अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत है, परंतु माया के कारण मनुष्य अपने इस अनंत ज्ञान एवं शक्ति को पहचान नहीं पाता। जो मनुष्य अपनी आत्मा को पहचान लेता है वह सब कुछ जान जाता है और सब कुछ करने में समर्थ होता है। रामानुजाचार्य ने इसी तथ्य को दूसरे रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से मनुष्य सत्-असत् का योग है इसलिए अनंत ज्ञान एवं शक्ति को प्राप्त कर सकता है।

5. मनुष्य का विकास उसके संचित, प्रारब्ध और संचीयमान कर्मों पर निर्भर करता है - भौतिकवादी मनुष्य के विकास का आधार उसकी कर्मेंद्रियों, ज्ञानेंद्रियों और मस्तिष्क को मानते हैं। वेदान्त मनुष्य की इंद्रियों और मस्तिष्क में भिन्नता के कारण की खोज में संचित एवं प्रारब्ध कर्मों की तह तक पहुँच गया। वेदान्त के अनुसार मनुष्य का विकास संचीयमान कर्म (इस जन्म में किए जाने वाले कर्म) के साथ-साथ उसके संचित कर्म (पूर्व जन्म के संचित कर्म) तथा प्रारब्ध कर्म (पूर्व जीवन के वे संचित कर्म जिनका फल इस जीवन में भोगना है) पर निर्भर करता है। तभी तो इस जीवन में दो समान मनुष्यों के एक ही परिस्थिति में समान कर्म करने पर असमान फल प्राप्ति होती है।

6. मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है - मुक्ति का शङ्कर ने कई रूपों में वर्णन किया है। जब मनुष्य ज्ञान के द्वारा इस संसार की असत्यता से परिचित हो इससे विरक्त हो जाता है और सांसारिक सुख-दु:ख का अनुभव नहीं करता तो उसे जीवन मुक्त कहते हैं। जीवन मुक्त व्यक्ति सब प्राणियों में अपना स्वरूप देखता है, इसलिए वह भेदभाव नहीं बरतता, सत्कर्म उसके व्यक्तित्व का सहज स्वभाव बन जाता है। शङ्कर के अनुसार इस जीवन मुक्त से आगे की स्थिति है-आत्म-ब्रह्म में अभेद। इस स्थिति पर पहुँचने पर ही मनुष्य वास्तविक मुक्ति प्राप्त करता है। इसे शङ्कर ने विदेह मुक्ति कहा है। शङ्कर के अनुसार जीवन मुक्ति में मनुष्य को आनंद की अनुभूति होती है और विदेह मुक्ति में परमानंद की अनुभूति होती है। रामानुजाचार्य के अनुसार मुक्ति का अर्थ है-ईश्वर की प्राप्ति।

7. मुक्ति के लिए ज्ञान योग, कर्म योग व भक्ति योग आवश्यक हैं - शङ्कर ने अनादि एवं अनंत ब्रह्म को सत्य जानने को विद्या (ज्ञान) और मायामय संसार को सत्य जानने को अविद्या (अज्ञान) कहा है। शङ्कर का मत है कि जब तक हम कर्म और भक्ति के द्वारा अच्छे जीवन की आकांक्षा करते रहेंगे तब तक हमें वही प्राप्त होता रहेगा, आत्मा-ब्रह्म के अभेद को हम प्राप्त ही नहीं होंगे। इस अभेद को जानने के लिए उन्होंने ज्ञान प्राप्ति पर बल दिया है। इसका अर्थ यह नहीं कि शङ्कर कर्म के महत्व को स्वीकार नहीं करते थे।

8. ज्ञान के लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन आवश्यक है - शङ्कर की दृष्टि से ज्ञान दो प्रकार का होता है- अपरा (व्यावहारिक) और परा (आध्यात्मिक) और इन दोनों प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की एक ही

विधि है-श्रवण, मनन, निदिध्यासन। शङ्कर के अनुसार अनादि और अनंत ब्रह्म को साक्षात् करने के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता है वह वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और गीता के श्रवण अथवा अध्ययन, उस पर मनन और उससे प्राप्त ज्ञान का नित्य प्रयोग करने पर ही प्राप्त हो सकता है। बिना अनुभूति के, केवल तर्कों के आधार पर वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर भक्ति से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, यह मुक्ति का सबसे सरल साधन है।

निष्कर्षत: इस प्रकार उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार यह ब्रह्मांड ब्रह्म (ईश्वर) द्वारा निर्मित है। ब्रह्म और जगत् में ब्रह्म का स्थान विशिष्ट है। यह आत्मा उस ब्रह्म का ही अंश है तथा मनुष्य के अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत है। मनुष्य का विकास उसके संचित, प्रारब्ध और संचीयमान कर्मों पर ही निर्भर करता है। मनुष्य के जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है और उसके लिए उसे ज्ञान योग, कर्म योग तथा भक्ति योग में से किसी एक के प्रति आस्था रखनी पड़ती हैं। उस ज्ञान की प्राप्ति उसे श्रवण-मनन और निदिध्यासन से ही संभव है।

पीएचडी, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. आप्टे, वामन शिवराम : द प्रैक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, चौथा संशोधित और बड़ा संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965
2. उपाध्याय, डॉ. विष्णु देव; भारतीय दर्शन, मूलान्वेषण पृष्ठ, 15
3. चटर्जी, सतीशचंद्र और धीरेंद्रमोहन दत्ता : भारतीय दर्शन का एक परिचय। आठवां पुनर्मुद्रण संस्करण, कलकत्ता, 1984
4. चौबे, सरयू प्रसाद : शिक्षा के दार्शनिक, ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय आधार, इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ
5. पाठक, राममूर्ति : भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद, अध्याय -1
6. बाढ़, गेविन: हिंदू धर्म का एक परिचय, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1996
7. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली : भारतीय दर्शन- खंड 1, दूसरा संस्करण, लंदन : जॉर्ज एलन एंड अनविन लिमिटेड
8. शर्मा, चक्रधर : ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इंडियन फिलक्सफी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003।
9. सिन्हा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 5-6; 9

शोध-पत्र

मनीषा

कबीर के समय का समाज

सामाजिकता से सीधा अर्थ मनुष्य के सामाजिक होने से लिया जाता है। समाज के हितों को ध्यान में रखकर समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को अनुभव कर उन्हें पूरा करने के लिए प्रयासरत रहना व्यक्ति का सामाजिक होना ही है।

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के अंतर्गत संत साहित्य के फलने-फूलने का आधार उसकी सामाजिकता ही है। भक्तिकाल के प्राय: सभी कवियों ने समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को बखूबी निभाया है। संतों की प्रसिद्धि का आधार ही उनकी सामाजिकता है। संत साहित्य के अंतर्गत सबसे प्रसिद्ध कवि 'कबीर' हुए हैं जिन्होंने समाज के लिए अपने सर्वस्व तक का होम कर, समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों का न सिर्फ बीड़ा उठाया अपितु उन्हें पूरा भी किया है। 'कबीर' का लेखन समाज को आधार बनाकर समाज के लिए ही है इसलिए उनके भीतर यह सामाजिक भाव होना स्वाभाविक भी है। यही कारण है कि उन्हें प्राय: समाज सुधारक भी कह दिया जाता है। हालांकि कबीर के समाज सुधारक होने का विषय काफी विवादास्पद रहा है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से असम्पृक्त होकर कोई व्यक्ति नहीं रह सकता। इसलिए कवि भी समाज का एक अंग है और उसके द्वारा की गई रचना भी समाज के लिए और समाज को प्रेरणा देने का एक स्रोत है। इस प्रकार कवि या साहित्यकार समाज का सृष्टा हुआ। उसके साहित्य का आधार भी समाज ही है या यों कहें कि समाज-विहीन कोई साहित्य हो ही नहीं सकता। इसलिए साहित्य में समाज का होना स्वाभाविक ही है। जब कवि साहित्य में सामाजिक जीवन के पक्षों का उद्घाटन करता है तो इसका अभिप्राय है कि वह समाज को समाज से अभिप्रेत कर नई दिशा प्रदान कर रहा है या उसे समाज के अन्य पक्षों से परिचित करा रहा होता है।

कबीर का आविर्भाव जिस समय साहित्य के अंतर्गत हुआ उस समय समाज में कई विषमताएं थीं जो आज भी व्याप्त हैं। इन्हीं विषमताओं को कबीर ने अपने साहित्य में समाज के लिए घातक साबित किया है। ये विषमताएं सामाजिक, राजनीतिक, धामिक व आर्थिक स्तर पर मौजूद थी। यथा-''कबीर का जन्म ऐसे समय में हुआ जबकि मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा नहीं रह गई थी और न ही उसमें अपने आपको जीवित रखने की इच्छा ही रह गई थी। उसे मृत्यु या धर्म परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं दीख पड़ता था।''[1] कबीर के काव्य में जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन हुआ है। कबीर जितने बड़े भक्त थे उतने ही बड़े वे सामाजिक-सुधारक भी कहे जाते हैं। उनके काव्य में सामाजिक पक्षों का गहरा भाव देखने को मिलता है। श्री शरण के अनुसार-''उन्होंने अपनी सन्तई और भक्तई की रक्षा करते हुए भी जीवन और समाज के दुर्बल, अमानवीय एवम् प्रतिगामी पक्षों पर अपने वाक्-बाणों से इतना गहरा आघात किया कि निर्यास ही वे एक समाज-चिन्तक और सुधारक के रूप में लोगों की नजरों में चढ़ गए।''[2]

कबीर के साहित्य में सामाजिक पक्ष को समझने के लिए आवश्यक होगा कबीर युगीन समाज को समझना। कबीर के समय भारत में हिन्दू व मुस्लिम दो प्रकार की जनता निवास करती थी। दोनों के बीच धर्म के कारण

परस्पर द्वेष की भावना व्याप्त थी। हिन्दू समाज वर्ण व्यवस्था के बंधनों में जकड़ा हुआ था। जो चार वर्णों में बँटा हुआ था। जिसमें ब्राह्मण वर्ग सर्वश्रेष्ठ माना जाता था और शूद्र निम्न। रामचन्द्र तिवारी के अनुसार, ''कबीर के समय में सर्वाधिक उथल-पुथल सामाजिक जीवन में वर्ण व्यवस्था और आश्रम धर्म के आधार पर संघटित ब्राह्मण समाज व्यवस्था का ढांचा लड़खड़ा गया था। मुसलमानों के आगमन से वर्ण-व्यवस्था को एक प्रबल चुनौती मिली थी। मुसलमानों में मजहबी जोश था। उनमें कट्टर भ्रातृ-भावना थी। भारतीय समाज का उपेक्षित निम्न वर्ग इस्लाम की ओर आकृष्ट हो रहा था। मुसलमान विजेता और शासक के रूप में यहां आए थे। इसलिए निम्न वर्ग पर उनका विशेष आतंक था।''[3] कबीर युगीन समाज में स्त्री की स्थिति अति दयनीय व सोचनीय थी। वह केवल भोग की वस्तु मात्र बनकर रह गई थी। सामाजिक कार्यों में उसकी उपस्थिति को निम्न दृष्टि से देखा जाता था। धार्मिक कार्यों में विधवा स्त्री का किसी भी प्रकार का सहयोग अमांगलिक माना जाता था। रामचन्द्र तिवारी के अनुसार ''स्त्रियों की दशा सबसे खराब थी। सामन्तों सुल्तानों के लिए वे 'खड्ग की चेरी' और विलासिता की वस्तु थीं। पंडितों के लिए संस्कारहीन होने के कारण वे शूद्रवत थीं और संतों एवं भक्तों के लिए वे साक्षात् मायामूर्ति थी। भक्त लोग उनके सती रूप की प्रशंसा करते थे और दरबारी कवि उनके 'रानी' रूप की। सामान्य नारी की कोई सामाजिक मर्यादा न थी।''[4] नारी के लिए पर्दा प्रथा व सती प्रथा जैसी रूढ़ियाँ अत्यन्त प्रचलित थीं। धार्मिक पाखण्ड कबीर युगीन समाज में व्याप्त था। कबीर का समाज राष्ट्रीयता की भावना से विलग हुआ नजर आता है चूँकि जहां साधारण जनता में स्वयं को बाह्याडम्बरों, अंधविश्वासों व अनेक रूढ़ियों से ग्रप्त होने का बोध न था वहाँ राष्ट्रीयता का बोध कहां से होता। समाज में वेश्यावृति प्रचलित थी। मुस्लिम शासन काल के कारण यह प्रवृत्ति अपने चरम पर पहुंची।

आर्थिक रूप में कबीर का गरीब समाज अपनी खुद की टांगों पर खड़ा नजर नहीं आता। उस समाज को सामन्तों व साहूकारों के यहाँ पूरा दिन खुट-पिटकर मुश्किल से दो जून की रोटी नसीब होती है। जाहिर है कबीर ने जिस समाज को अपनी आंखों से देखा उसकी का यथार्थ चित्रण अपने काव्य में किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कवि या साहित्यकार विषय वस्तु या सामग्री समाज से ही ग्रहण करता है। यही कबीर ने भी किया। कुल मिलाकर ''कबीर युगीन समाज गतिशील नहीं था। उस समय की जीवन-चेतना विश्वास-प्रधान, रूढ़िगत, धर्मकेन्द्रित, संकीर्ण, प्रेरणा रहित और नैतिकता के आग्रह से परिपूर्ण था।''[5]

कबीर के साहित्य का आधार आम जनता है। कबीर उपेक्षित, तिरस्कृत व निम्नवर्गीय व समाज के बीच जन्में साधारण व्यक्ति थे। साथ ही वे निम्न वर्ग की समस्याओं से भी अवगत थे। इसलिए अपने आस-पास के सामाजिक जीवन के प्रति वे सजग और चेतनशील थे। उन्होंने अपने काव्य में समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंधों, सामाजिक विसंगतियों के बीच एकता, व्यक्ति व समाज के बीच सामंजस्य बैठाया। अपने जन्म के मतभेद के कारण सामाजिक और मानसिक विवशता को सहते हुए भी हीनता का बोध न अपनाकर अपने साहित्य में समाज का यथार्थ अंकन किया। आर्थिक शोषण, राजनीतिक दमन, सामाजिक रूढ़ियों और संस्कृति के पतन से कबीर मनुष्य और सम्पूर्ण समाज की चिन्ता करते हैं। इसलिए वे समाज में स्वयं को उत्सर्ग करने की बात कहते हैं-'कबिरा खड़ा बाजार में' ये बात सामाजिक मुक्ति से जुड़ी है। यहाँ सामाजिक मुक्ति से अभिप्राय समाज के प्रति आदमी के कल्याण से है, जो कबीर ने किया।

इस समाज से कबीर ने विद्रोह किया। कबीर के इस विद्रोह के विषय में नामवर सिंह लिखते हैं ''कबीर की विद्रोही भावना स्वयं उनकी सामाजिक स्थिति की स्वाभाविक उपज थी।''[6] इस विद्रोह के द्वारा कबीर ने अपने समाज में व्याप्त रूढ़ियों व छदम कदम आडम्बरों से जनता को मुक्ति दिलाने का प्रयास किया। जिस समाज में ब्राह्मण वर्ग के विषय में एक शब्द भी कहना खतरे से खाली नहीं था उस समाज में कबीर ने उसके खिलाफ आवाज उठायी। कबीर कहते हैं पंडित झूठा वाद पढ़ता है-

पंडित वाद बदंते झूठा।
राम कह्याँ दुनियाँ गति पावै।
खाँड कह्याँ मुख मीठा।।

कबीर युगीन समाज की दशा अत्यन्त सोचनीय थी। हिन्दू व मुसलमान में आपसी वैमनस्य की भावना व्याप्त थी। समाज में जातिगत भेदभाव अपने चरम पर था लेकिन कबीर जाति से अधिक 'ज्ञान' पर बल देते थे। उनके लिए जाति से बड़ा 'ज्ञान' था। 'ज्ञान' के कारण जाति का नीच

होने वाला व्यक्ति भी उनके लिए श्रेष्ठ था। तभी तो उन्होंने कहा-'जाति न पूछों साध की, पूछ लीजिए ज्ञान ।'

वे मानते हैं कि जरूरी नहीं है कि ऊँचे कुल का जन्मा व्यक्ति श्रेष्ठ हो, श्रेष्ठता के लिए उसकी करनी भी श्रेष्ठ होनी चहिए-

ऊँचे कुल का जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होई।

इसलिए ''कबीर अपने समय से बहुत आगे तक की सोच रखने वाले व्यक्ति थे। समयत्र पर अपने कुछ निशान उन पर छोड़े जरूर, पर वे समय की गिरफ्त में नहीं आ सके, उसे झाड़ते और मुँह बिराते हुए आगे निकल गए।''[7] वर्ग भेद, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच व जातिगत भेदभाव के स्वरूप हिन्दू समाज में आपसी वैमनस्य की भावना अपनी जड़ें पकड़ रही थी। मनुष्य, मनुष्य से ईर्ष्या-द्वेष रखने लगा था। अस्पृश्यता के निवारण के लिए कबीर ने परम्परागत रूढ़ियों का विरोध किया-

मुलों कहाँ पुकारै दूरि।
राम रहीम रह्या भर पूरि
यह तो अलह गूंगा नाही।
देखै खलक दुनी दिल माँही।

कबीर का समाज साम्प्रदायिक विषमता से आघात था। हिन्दू व मुस्लिम सम्प्रदाय एक-दूसरे को श्रेष्ठ सिद्ध करने की होड़ में लगे हुए थे। सिर्फ स्वयं को ही नहीं अपने-अपने ईश्वर को भी श्रेष्ठ साबित करना चाहते थे। जिसके परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक विषमता बढ़ती चली गई। कबीर ने समाज के इस साम्प्रदायिक वैमनस्य के पक्ष को एकता में स्थापित करने की पूरी कोशिश की। कबीर का मानना था कि दोनों अपने ईश्वर को श्रेष्ठ मानते हैं पर मरम कोई नहीं जानता-

हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।
आप में दोऊ लड़े मरतु हैं मरम कोई नहिं जाना।

यज्ञन्त शर्मा के अनुसार-''कबीर की विचारधारा धर्म, जाति अथवा समाज विशेष तक सीमित नहीं थी-उसमें मानव मात्र के कल्याण की भावना थी। इस भावना ने समाज के नैतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के उत्थान में सहयोग दिया।''[8] कबीर युगीन समाज में विषमता, अस्तव्यस्तता व्याप्त थी। इस कारण सामाजिक जीवन की दशा अत्यन्त सोचनीय थी। डॉ. सुनीता कुकरेती के अनुसार-''कबीर युगीन सामाजिक जीवन सामाजिक मिथ्यावाद और कुरीतियों के माया जाल से ग्रस्त था। कबीर ने उक्त वातावरण के प्रति ग्लानि का भाव पैदा कर जनता का हृदय भक्ति के क्षेत्र में उन्मुख किया।''[9] कबीर युगीन समाज विलासिता का समाज था। जिसके कारण मानव की चारित्रिक विशेषताओं का पतन हो गया था। यह विलासिता समाज में तत्कालीन शासकों की विलासी प्रवृत्ति के कारण आई। शासकों की देखा-देखी समाज भी विलासमय हो गया था। इसलिए कबीर ने काम की प्रवृत्ति को निहकाम और नर-नारी को नरक बताकर समाज को जाग्रत करने का प्रयास इस प्रकार किया-

नर नारी सब नरक है, जग लग देह सकाना।
कहै कबीर वे राम के, जो सुमिरै निहकाम।।

इस विलासी प्रवृत्ति के कारण ही समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। समाज में उन्हें सम्मान प्राप्त नहीं था। इस विलासी प्रवृत्ति के कारण कबीर ने नारी को ही समाज के पतन का कारण माना

नारी की झाई पड़ी, अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कोन गति जो नित नारी के संग।।

कबीर नारी को माया भी मानते हैं जिसके जाल में फँस कर बाहर नहीं आया जा सकता। कबीर कहते हैं-

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँसि लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।

तत्कालीन समाज में वेश्यावृत्ति व्याप्त थी। जिसकी चपेट में हिन्दू व मुस्लिम दोनों थे। दोनों ही लोभी-भोगी बन गए थे फिर भी अपने को श्रेष्ठ साबित करने में लगे हुए थे। कबीर ने दोनों को फटकार लगाते हुए कहा-

अरे इन दोहुन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुवन न देई।
मुसलमन के पीर-औलिया मुर्गा मुर्गी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि में करै सगाई।
हिंदुन की हिंदुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।

अंत में कबीर ने बताया कि दोनों की एक ही राह है-

हिंदु-तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।

कबीर युगीन समाज में राजनीतिक परिवेश भी षड्यन्त्रकारी बन गया था। सामन्तों का बोलबाला था। इन्हीं सामन्तों ने आम जनता का खूब शोषण किया। इन शासक रूपी सामन्तों को कबीर ने चेतावनी दी-

ऊँचा मन्दर घोलहर, माँटी चित्री पोलि।
एक राँम के नाँव बिन, जंम पाड़ैगा रोलि।
ऊँचा महल चिणाँइयाँ, सोवन कलसु चढ़ाइ।

ते मन्दर चिणाँइयाँ, रहे मसाणों जाइ।

इन शासकों के अधिकार प्रबलता, विलासिता, अन्याय व अत्याचार को कम करने के लिए कबीर ने निश्चय ही अपनी कविता में समाज के राजनीतिक पक्ष को भी उठाया। इसे कम करने की कोशिश करते हुए कबीर कहते हैं-

सब जग सूता नींद भरि, सन्त न आवैं नींद।
काल खड़ा सिर ऊपरै, ज्यूँ तोरणि आया बींद।।

जिस समय पूरा संसार सो रहा था, उस समय कबीर जाग रहे थे। अर्थात् जब समाज सुख वैभव भोग कर सुखी-सुखी सो रहा था। कबीर उस समय आगे या भविष्य के बारे में सोच रहे थे। वे युग की पीड़ा को लेकर चिंतित थे और आँसू बहा रहे थे। निम्न पंक्तियां तभी उसके मुख से निकली-

सुखिया सब संसार है, खावै औ सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे औ रोवे।।

कबीर अपने समाज को लेकर चिन्तित थे। समाज के यथार्थ को अपनी कविता में व्यक्त कर रहे थे। जो भी उन्हें समाज के विपरीत लगा उसकी कबीर ने आलोचना की। डॉ. पारसनाथ तिवारी के अनुसार-''सच्ची बात यह है कि हिन्दी साहित्य में कबीर से बड़ा मानवतावादी कोई नहीं हुआ। उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित समस्त अंधविश्वासों, रूढ़ियों तथा मिथ्या सिद्धान्तों द्वारा प्रचलित सामाजिक विषमताओं का मूलोच्छेद करने का बीड़ा उठाया और निर्ममतापूर्वक सभी पाखण्डों पर प्रहार किया। उन्होंने तत्कालीन सामन्तों तथा शासकों को लक्ष्य कर ऐसी अनेक बातें कही हैं जिनसे भौतिक ऐश्वर्यों पर आधारित उनके झूठे अभिमान का मूलोच्छेद होगा।''[10]

कबीर युगीन समाज के धार्मिक क्षेत्र के अंतर्गत हिंसा व्याप्त थी। इस कारण कबीर का युग धार्मिक ह्रास का युग था। कबीर हिंसा के विरुद्ध थे इसलिए उन्होंने मनुष्य को हिंसा न करने का सुझाव दिया। धर्म के भीतर पाखण्ड, आडम्बर, अंधविश्वास, जादू-टोना व कुरीतियां व्याप्त थीं। कबीर पाखण्डों मजाक बनाते हैं-

यह सब झूठी बन्दगी बरिया पंच निवास।
सांचे मारे झूठ पढ़ि काजी करै अकाज।।

कबीर ने धर्म को कर्मकाण्ड व बाह्याडम्बर पर आधारित नहीं माना। यही कारण था कि उन्होंने समाज में तीर्थ यात्रा, मूर्ति पूजा, अवतार व कर्मकांड की आलोचना की। उनके अनुसार ईश्वर एक ही है ओर उसे ढूंढने के लिए मनुष्य को अपने मन को खंगालना होगा न कि शोर मचाकर उसे पुकारना होगा। इसलिए कबीर ने कहा

न जाने तेरा साहब कैसा है।
मुल्ला होकर बाँग जो दैवे,
क्या तेरा साहब बहरा है।

इसी तरह कबीर ने हिन्दुओं के चोटी रखने और तिलक लगाने का भी विरोध किया। वे कहते हैं जटा बढ़ाने व तिलक लगाने से ईश्वर नहीं मिलता। उसके लिए अपने मन को साफ रखना होगा-

माला फेरी तिलक लगाया
लंबी जटा बढ़ाता है।
अंतर तेरे कुफर-कटारी,
यों नहिं साहब मिलता है।

आर्थिक रूप से समाज कंगाल होता जा रहा था। मनुष्य अपने पेट की आग को आग समझता था और दूसरों की आग में घी डालने का काम करता था। यह मनुष्य की स्वार्थ लोलुप प्रवृत्ति के कारण हुआ। जिसके पास जितना था वह उसमें खुश नहीं था बल्कि उससे अधिक की वह कामना करता था चाहे इसके लिए उसे दूसरों का निवाला क्यों न छीनना पड़े। इसलिए ''सामाजिक जीवन की सुख-समृद्धि के लिए सन्त कबीर ने आर्थिक पहलुओं की तरफ भी ध्यान दिया और अपनी वाणी में एक प्रकार की समतावादी आर्थिक दृष्टि का प्रतिपादन भी किया।''[11] कबीर ने मुक्तिबोध की भांति 'जो है, जितना है, सहर्ष स्वीकारा है।' कबीर कहते हैं-

साई इतना दीजियै जामै कुटुम समाय।
मैं भूख न रहूँ साधु न भूख जाए।।

वास्तव में यह कबीर का समाज-सुधारी रूप है जो अपने समाज के लिए जीता है, उसके लिए चिन्ता करता है लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी इसके विरुद्ध है। वे कबीर को समाज सुधारक नहीं मानते। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार-''कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कहीं हैं। जिनसे (अगर उपयोग किया जाए तो) समाज सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनके समाज सुधारक समझना गलती है।''[12] लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी स्वयं ही यह भी कहते हैं-''हिन्दी साहित्य के हजार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ।''

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर के साहित्य में सामाजिक पक्ष के अंतर्गत समाज के सभी पक्षों का उद्घाटन हुआ है। कबीर तत्कालीन समाज में सभी धार्मिक आडम्बरों और कुरीतियों को समाप्त कर सहज जीवन जीने के पक्ष में थे। इस पक्ष से उन्होंने समाज को भी सचेत करना चाहा। वे सत्य के हिमायती और बुराई के पक्षपाती थे। यही उनके साहित्य का सामाजिक पक्ष है जो सत्य व यथार्थ को लेकर चलता है। इस सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने के कारण ही कबीर युगों-युगों तक जाने जाते हैं, आगे भी जाने जाएँगे।

शोधार्थी,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल : Manishagauraniya@gmail.com

संदर्भ सूची

1. कबीर ग्रन्थावली, सं. श्यामसुंदरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सातवाँ प्रकरण, संवत् 2016, प्रथम संस्करण की भूमिका से
2. कबीर व्यक्तित्व और कृतित्व, श्री शरण शर्मा, आधुनिक प्रकाशन, संस्करण 2002, पृ.सं. 64
3. कबीर मीमांसा, रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ. सं. 11
4. वही, पृ. सं. 11
5. वही, पृ. सं. 12
6. परम्परा की खोज, नामवर सिंह, पृ. सं. 45
7. भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, शिव कुमार मिश्र, लोक भारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ. सं. 81
8. कबीर साहित्य और सिद्धान्त, यज्ञदत्त शर्मा, पृ. सं. 127
9. कबीर काव्य में काल बोध, डॉ. सुनीता कुकरेती, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2001, पृ. सं. 73
10. कबीर व्यक्तित्व और कृतित्व, श्री शरण शर्मा, आधुनिक प्रकाशन, संस्करण 1200, पृ. सं. 68-69
11. वही, पृ. सं. 70
12. कबीर के आलोचक, धर्मवीर भारती, वाणी प्रकाशन, पृ. सं. 86
13. कबीर के काव्य में काल बोध, डॉ. सुनीता कुकरेती, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2001, पृ. सं. 71

आधार ग्रन्थ

- कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1971

शोध-पत्र

जनसंचार माध्यम और हिंदी

डॉ. संगीता रानी

भूमंडलीकरण के दौर में आज सूचना की केंद्रीय भूमिका बन गई है। मानव इतिहास के अब तक के दौर में यह पहली बार हुआ है कि सूचना इतनी महत्वपूर्ण हो गई है। व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, देश, विश्व और मानवता के हितार्थ सूचना का अहम् योगदान है। इसकी तेजी से बढ़ती उपयोगिता ने इसे बेशकीमती वस्तु बना दिया है। आज यह पूंजी और तकनीक के एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में स्थापित है और व्यापारिक, राजनीतिक, आर्थिक ताकत का माध्यम भी है। सूचना ने ना सिर्फ ज्ञान के प्रवाह को पुनः संशोधित किया है बल्कि समृद्धि और ताकत को भी पुनर्परिभाषित भी किया है। आज सूचना मानव समाज की जरूरत से कहीं आगे बढ़कर नियामक की भूमिका में है।[1] आज विश्व के सबसे ताकतवर और समृद्ध संस्थान और राष्ट्र वे हैं, जो सूचना समृद्ध हैं व सूचना के साधनों पर जिनका नियंत्रण है। यहां महत्वपूर्ण बात यह भी है कि सूचना जिसका सीधा संबंध संचार और इस क्रम में संचार माध्यमों और भाषा से भी है, यह कोई निरपेक्ष वस्तु या अवधारणा नहीं रह गई है बल्कि यह ताकत और रणनीतिक उपयोग का जरिया भी बन चुकी है।

यूं तो सूचना और संचार का महत्व मानव समाज में तब से ही रहा है जब से मानव ने सामूहिकता में रहना शुरू किया। मानव समाजों के विकास की प्रक्रिया और परिवर्तन के साथ सूचना सम्प्रेषण के तौर तरीकों एवं उसके साधनों में भी लगातार परिवर्तन आते रहे हैं। मानव सभ्यता के शुरुआती चरण में आदिमानव जहां विभिन्न संकेतों, चिन्हों और ध्वनियों से अपना संचार करता था, वही आज के अधुनातन मनुष्य के समक्ष संचार के व्यापक और जटिल माध्यम और सहूलियतें मौजूद हैं। इसका आशय यह हुआ कि संचार माध्यमों के विकास को मानव समाज, सभ्यताओं के विकास के साथ जोड़कर भी देखा जा सकता है। यह सब तकनीकी विकास, मानव जीवन में बढ़ती गतिशीलता से भी जुड़ता है। आज लोकतांत्रिक समाजों के प्रहरी के रूप में जनसंचार माध्यमों का विकास एक महत्वपूर्ण और प्रशंसनीय परिघटना कही जा सकती है। जनसंचार माध्यमों को लोकतंत्र का चौथा पाया कहकर उनका सम्मान किया जाता रहा है तथा उनकी जिम्मेदारी और भूमिका का आकलन भी किया जाता रहा है। लेकिन समय के साथ स्थितियाँ तेजी से बदली हैं और अपने मौजूदा स्वरूप में ये माध्यम वैश्विक स्तर पर बन रही नयी वैश्विक व्यवस्था की रणनीति के मुख्य औजार की तरह भी प्रयोग किए जा रहे हैं।[2]

जनसंचार माध्यमों के मालिकाना हक और कार्यशैली, उद्देश्य इत्यादि को समझने के क्रम में इस जटिल और महंगी तकनीक के उद्भव और विकास की रणनीतिक साझेदारी को देखना खासा महत्वपूर्ण है। सेटेलाइट आधारित सूचना तंत्रों की तकनीक की वृहद परिकल्पना, शोध और उत्पादन तक की पूरी सोच और पूरा व्यय अमरीकी सेना और व्यापारिक समूहों की भागीदारी में उठाया गया। अमेरिकी सेना और पूंजीपति घरानों के समवेत इन सारे प्रोजेक्ट के निहित उद्देश्य थे। जिसका पहला चरण था अंतरराष्ट्रीय संचार व्यवस्था पर ब्रिटिश प्रभुत्व को तहस-नहस करना और अमेरिकी प्रभुता को बहाल करना।[3] अर्थात् इस क्रांतिकारी प्रौद्योगिकी का विकास अर्थव्यवस्था के निर्णायक

सत्ता केंद्रों की सहमति और प्रोत्साहन पर पूर्णतया निर्भर करता है। यही कारण है कि इस प्रौद्योगिकी पर स्वामित्व रखने वाली ताकतें उसके प्रयोग पर भी भरसक अपनी पकड़ रखना चाहती हैं। मौजूदा दौर में ये ताकतें भूमंडलीकरण और मुक्त व्यापार की व्यवस्था के नाम पर तीसरी और चौथी दुनिया के देशों तक अपनी संस्कृति और समझ को पहुंचाने और उन्हें लागू कराने का काम इसी सूचना क्रांति की प्रौद्योगिकी के द्वारा कर रही है।

जनसंचार माध्यमों की तकनीकी संरचना और उनके पीछे की विकसित देशों की सोच और रणनीति के बारे बात करते हुए हर्बर्ट आई. शिलर लिखते हैं-यह याद रखना जरूरी है कि इस ऊंची उड़ान वाले प्रेषण यंत्र तथा एंटीना की परिकल्पना से लेकर उत्पादन तथा शोध एवं विकास का पूरा खर्च सेना और व्यापारिक समूहों के गठबंधन ने उठाया था। इस योजना के पीछे उनके निश्चित उद्देश्य थे।[4] आशय यह कि जनमाध्यमों की विशाल संरचना के पीछे विराट पूंजी, उन्नत तकनीक, राजनीति और नयी विश्वव्यवस्था के कूटनीतिक गठबंधन और विराट संजाल की कड़ी हैं, जो विराट पूंजीवादी प्रक्रिया और बाजार की ताकतों के प्रभाव के हिस्से के रूप में भी सामने आता है। सूचना क्रांति ने औद्योगिक समाज के सत्ता तंत्रों को ही मजबूत करने का कार्य किया है और इस अर्थ में उसे औद्योगिक समाज का विस्तार भी कहा जा सकता है।[5]

भारतीय संदर्भों में देखें तो आरंभिक तौर पर जनसंचार के माध्यमों की स्थिति थोड़ी भिन्न रही। जिसका बड़ा कारण था, भारत में प्रिंट मीडिया का विकास स्वाधीनता आंदोलन के श्रेष्ठ मूल्यों के साथ होना तथा दूसरा, यह भी कि स्वाधीन भारत में सरकारी नियंत्रण में कार्यरत विभिन्न समितियों की सिफारिशों और उनके आलोक में समाज के लिए उपयोगी माध्यमों के रूप में इसकी पहचान रही। इससे भारतीय जनमाध्यमों के आरंभिक विकास से लेकर देश की स्वाधीनता तक और उसके बाद के आरंभिक दो दशकों तक उसमें गहरे स्तर पर जनसरोकार और सच के पक्ष में निर्भीक और जुझारू तेवरों के साथ खड़े होने की जद्दोजहद दिखाई पड़ती है। भारत में जनसंचार माध्यमों की शुरुआत के समय सार्वजनिक जीवन में राष्ट्रीय-सामाजिक मूल्य और आदर्श गहरे जुड़े हुए थे। देश में एक तरफ स्वाधीनता का समर जोर-शोर से चल रहा था और दूसरी ओर सामंती आचार-विचार और अंधविश्वासों से मुक्त नए राष्ट्र के निर्माण का संकल्प और उत्साह बड़े पैमाने पर जनमानस में था।[6]

इस तरह 'हिंदी पत्रकारिता न सिर्फ देश की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक धाराओं के साथ जुड़ी रही है बल्कि कहना यह चाहिए कि इन धाराओं के साथ इसका गहरा और अविभाज्य रिश्ता रहा है। 1950 से लेकर 1966 तक की पत्रकारिता राष्ट्र निर्माण से प्रेरित दिखाई देती है। यह वह दौर था जब पंचवर्षीय योजनाएं, विनोबा भावे का भूदान और ग्राम आंदोलन, सहकारी आंदोलन, पंचायत राज, भू सुधार, सामुदायिक विकास, प्रखंड विकास, राज्यों का पुनर्गठन, भाषाई आंदोलन जैसे मुद्दों की शहरी और ग्रामीण दोनों प्रकार के भारत में समान रूप से गुंथी गूंज थी।'[7] आठवें दशक में आपातकाल लागू किए जाने और उसके बाद के वर्षों में भारतीय मीडिया में गिरावट का दौर शुरू होता है। राजसत्ता द्वारा अखबारों और पत्रकारों को विभिन्न प्रकार के फेवरों से मालामाल किया जाने लगा। अखबारों में विभिन्न राजनीतिक पार्टियों से प्रतिबद्ध पत्रकारों को नियुक्तियां दिलवाई गई और खास संस्थाओं की पकड़ को मजबूत बनाने की भूमिका की शुरुआत की गई।[8]

लेकिन उदारीकरण के बाद यहाँ मीडिया के स्वरूप में और भी तेजी से बदलाव आया। जब मीडिया पर सरकार का नियंत्रण था तो ऐसा कहा जाता था कि सरकारें अपनी छवि को बनाने और चमकाने के लिए जनमाध्यमों का उपयोग इस हद तक करती हैं कि उसे दुरुपयोग भी कहा जा सकता है। इसलिए मीडिया को डीरेगुलेट करने की आवश्यकता है। मीडिया को डीरेगुलेट करने से इस पर इजारेदारी खत्म होगी। ऐसा हुआ भी लेकिन डीरेगुलेशन के बाद की स्थिति को देखें तो खासकर पिछले दो दशकों में वास्तव में भारत में इसका उल्टा हुआ है। मीडिया के क्षेत्र में निजी घरानों की इजारेदारी जबर्दस्त तरीके से बढ़ी है और यह पहले की तुलना में भी अधिक बढ़ गई है। पहले सिर्फ सरकार का प्रसारण क्षेत्र में वर्चस्व था अब उसके उल्टा निजी कंपनियों का वर्चस्व हो गया है।[9] कहने का तात्पर्य मीडिया पर इजारेदारी घटने के बजाय तेजी से बढ़ गयी। मीडिया की कार्यपद्धति सामाजिक से अधिक व्यावसायिक होती गयी है। इसके समर्थन में प्राय: कहा यह भी जाता है कि मीडिया अधिक माडर्न, अधिक प्रोफेशनल अधिक एडवांस तकनीक सम्पन्न हो गया है। आमतौर पर माडर्न और प्रोफेशनल होने से तात्पर्य हर स्तर

प्रतिष्ठान के आमूलचूल परिवर्तन से होता है। इसे प्रगतिशील दृष्टि, दक्षता और गतिशील उत्पादन प्रणाली से लैस करना भी कह सकते हैं। सिर्फ दफ्तर और मशीन के आधुनिकीकरण और अधुनातन तकनीक से अखबार या चैनल को निसंदेह आकर्षक बनाया जा सकता है, उसकी प्रसार संख्या भी बढ़ाई जा सकती है लेकिन प्रतिष्ठान में पड़ी सड़ांध को दूर नहीं किया जा सकता है। हिंदी अखबारों की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए रामशरण जोशी लिखते हैं - 'हिंदी प्रेसपतियों से अपेक्षा थी कि वे अपने सामाजिक सांस्कृतिक आर्थिक व्यवहारों को भी व्यवसायीकरण करते लेकिन ऐसा नहीं हुआ। मुख्यधारा के क्षेत्रीय दैनिकों के व्यवसायिक व्यवहार और टेक्नोलॉजी के बीच गहरी खाई बनी रही। अधिकांश संपादकीय लेखों में विश्लेषण का अभाव खटकता है। संपादकीय टिप्पणियों में सवालों मुद्दों और चुनौतियों का सतहीकरण और स्थूलीकरण दिखाई पड़ता है। इस दृष्टि से दिल्ली हो या राज्यस्तरीय दैनिक, उनमें काफी हद तक समानताएं दिखाई पड़ती है। इन अर्थों में दिल्ली और हिंदी राज्यों के प्रतिष्ठानों में महाजनी पूंजीवादी दृष्टि का वर्चस्व दिखाई पड़ता है।[10] इलेक्ट्रानिक माध्यमों के संदर्भ में भी यही बात कही जा सकती है, कई मायनों में उनका हाल इससे भी बदतर रहा है।

जनमाध्यमों का मुख्य कार्य वृहत्तर जनसमुदाय से संचार का है। आमतौर पर हम देखते हैं कि जब मनुष्य भावों, विचारों और जानकारियों का आदान प्रदान कर रहा होता है, वह चाहे सामूहिक या व्यक्तिगत स्तर पर हो या फिर विराट जनसंचार माध्यमों द्वारा- वह ज्ञान और अनुभव को भी परस्पर बांटता है। भाषा, संस्कृति और व्यवस्थागत विशेषताओं की भागीदारी भी कर रहा होता है। इस क्रम में एक समाज या मानव समुदाय अन्य समाजों व घटकों की बुनावट उनकी जीवन पद्धति तथा सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को समझने की कोशिश भी करता है। उनके विश्वासों और अंधविश्वासों को समझने व प्रभावित करने की कोशिशें भी की जाती हैं। यहीं से विभिन्न सामाजिक समूहों पर नियंत्रण या वर्चस्व की प्रक्रिया शुरू होती है, जिसमें प्रेषक के साथ ही माध्यमों की विशिष्ट और प्रभावी भूमिका होती है। वर्चस्व कायम करने की यह प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म परंतु इतनी असरदार होती है कि यह कब मनुष्य की प्रकृति और अवचेतन को बदल देती है इसका ज्ञान अधिकांश लोगों को या तो होता ही नहीं, या बहुत बाद में पता चलता है। मार्शल मैक्लुहान जब कहते हैं कि- मीडियम इस मैसेज अर्थात् माध्यम ही संदेश है, तो उनका आशय हम इस प्रभुत्व के रूप में भी देख सकते हैं, जिसमें माध्यम की पूर्णता और इसका वर्चस्व शामिल है।[11] माध्यम की यह विराटता और उसका स्वरूप संदेश की तीव्रता और गहनता को कई बार दिशाहीन, तो कभी लक्ष्य भ्रष्ट कर देता है। यह सब कुछ अनायास या अनजाने में न होकर तयशुदा रणनीतिक योजनाओं के अनुरूप हो रहा होता है क्योंकि इन योजनाओं और रणनीतियों के शिल्पकार भी वही हैं जो नयी विश्वव्यवस्था के वास्तुकार और निर्माता भी हैं।

जनसंचार माध्यम एक साथ बिना किसी भेदभाव के विचारों, संदेशों व सूचनाओं को असीमित जन तक सीधे प्रेषित करते हैं। पहली नजर में यह बड़ा लोकतांत्रिक कदम लगता है जहां सब सीधे संबोधित हो बिना किसी भेदभाव के। लेकिन यह इतना सरल और एकरेखीय मामला नहीं है। प्रश्न सीधे उठ खड़े होते हैं कि क्या भारत जैसे एक विशाल बहुभाषीय, बहुजातीय और विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक स्थलों वाले देश में ये माध्यम क्या सभी को एक जैसा सूचित या संबोधित करते हैं या ऐसा अवसर दे सकते हैं? प्रश्न यह भी है कि अपने स्वरूप में पश्चिम से उधार लिए गए ये माध्यम सूचनाओं के घटाटोप के बीच जनसंचार के साथ क्या बर्ताव करते हैं? विराट पूंजी और तकनीकी संजाल में बद्ध ये माध्यम जिन पर सीधे निजी घरानों का प्रभुत्व और नियंत्रण है क्या सचमुच कोई लोकतांत्रिक साम्यवाद के इरादे से कार्य करते हैं या किसी और मकसद से? और यह भी कि हिंदी और उसके साहित्य का आखिर इन माध्यमों के बीच क्या बनता है? भाषा को किस तरह की भूमिका निभानी होती है जन माध्यमों के बीच आकर?

जनसंचार माध्यमों द्वारा समान रूप से सूचना देना संबोधित करना, यह अपने आप में उलझाव पैदा करता है कि कैसी जानकारी, किसकी जानकारी, किसलिए और अंततः किसके हित साधन या अहित के लिए। वैसे भी भिन्न शैक्षिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक स्तर के समूहों की आवश्यकताएँ बिलकुल एक नहीं हो सकती। उनकी शैली और समझ एक नहीं हो सकती। विभिन्न समाचार पत्रों के प्रमुख पृष्ठों को गहराई से खंगालने पर इस समानता का असली सच सामने आता है।

साथ ही प्रिंट मीडिया के एक ही संस्थान से प्रकाशित हिंदी और अंग्रेजी संस्करण के न्यूज कंटेंट, विचार सामग्री और सप्लीमेंट एवं विज्ञापनों को सामने रखें तो प्रिंट मीडिया की समझ भाषा, चेतना और उद्देश्य के स्तर पर बहुत साफ उभर आती है। इलेक्ट्रानिक माध्यमों के कार्यक्रमों चाहे वे मनोरंजक हों सूचनात्मक वहाँ भी साधारण जन के प्रति उनकी उदासीनता जगजाहिर है। सूचना क्रांति के महत्वपूर्ण साधन जन माध्यमों द्वारा सूचना का लगातार प्रसारण और भंडारण किया जा रहा है। सूचना की इतनी बरसात कि समस्या चयन की आजादी नहीं, चयन की विवशता है। ऐसी व्यवस्था जो विवेकहीनता तक जा पहुंची है। 24 X 7 की इलेक्ट्रॉनिक पत्रकारिता ने यह सवाल खड़ा कर दिया है कि सही मायने में पत्रकारिता किसे कहा जाए। सूचनाओं के घटाटोप से हमारी संवेदना और विचार तंतुओं के कमजोर होने, स्मृति के क्षरण होने का खतरा भी बढ़ा है। इतनी जानकारी कि उसका अंतर्संबंध, उसके विस्तृत परिप्रेक्ष्य, उसकी संबद्धता या असंबद्धता को समझने, विश्लेषण करने का अवकाश ही नहीं। यहां मुद्रित पत्रकारिता इलेक्ट्रॉनिक से कहीं आगे ठहरती है। यहां पीड़ा, अंधविश्वास, शमशान, काल-कपाल, अपराधों और नर मुंडों का उत्सव और एक्सक्लूसिव होने का दंभ नहीं। संपादकीय पृष्ठ और सप्लीमेंट्स खबरों के जाल में राहत की ठाँव की प्रतीति होती है।

जनसंचार माध्यमों का एक और सीधा असर होता है भाषा पर। जनमाध्यमों से पूर्व भाषा और साहित्य वाचिक श्रवण परंपरा में अमर था। जनमाध्यमों ने इसे पुनरुत्पादन की सुविधा दी, प्रसार के मौके दिए और भौतिक रूप से टिकाऊपन का जज्बा दिया। मध्यकाल में जो कलाएं सिर्फ कुछ सामंतों और दरबारियों तक सीमित थी, प्रिंट और उसके बाद इलेक्ट्रानिक माध्यमों में आकर ज्यादा लोगों तक, आमलोगों तक पहुंची। जनसंचार माध्यमों ने हिंदी को प्रचार प्रसार और जन सुलभता के अवसर दिए हैं। हिंदी अब सिर्फ उपदेश की भाषा नहीं रही वह अब जनसंपर्क और बाजार की भाषा के रूप में ढली है। साहित्य और माध्यम के नए बन रहे संबंध का एक बुनियादी बिंदु यही है कि नए माध्यमों में आकर साहित्य के भीतर का अभिजात्य टूटा है, उसकी पवित्रता, अमरता, भव्यता, नैतिकता, वैचारिकता और दिव्यता खत्म हो रही है।[12] आज किसी लेखक को किसी नामचीन साहित्यकार समीक्षक के आशीर्वाद या उद्‌बोधन की जरूरत पहले की तरह नहीं रह गई है। इन अर्थों में हिंदी ज्यादा लोकतांत्रिक और लोकप्रिय हुई है। हां, इस प्रक्रिया में उसका स्वरूप काफी कुछ बदला है, काफी हद तक उसने स्वयं को नई चाल में ढाला है। इस क्रम में भाषा और साहित्य दोनों का ही तेजी से प्रसार हुआ है।

जनसंचार माध्यमों ने आज हिंदी का जो स्वरूप बनाया है, वह अब तक की शुद्ध साहित्यिक अवधारणा से भिन्न है। लेकिन यह तथ्य है कि यह नयी बनती हिंदी चंद साहित्य सर्जकों, साहित्य उपासकों और भक्तों की हिंदी ना होकर सही मायनों में आम व्यवहार की, आमजन की हिंदी बनी है। उसका कथित भद्रपन टूटा है। वह ज्यादा जनतांत्रिक इस अर्थ में बनी है कि वह बड़े परिवर्तनकामी नारों, स्वांतः सुखाय और पवित्रता के लिहाफ से बाहर निकल, आमजन के व्यवहार के साथ ही जीविकोपार्जन और मनोरंजन की भाषा बनती गई है। आज जनसंचार माध्यमों और मनोरंजन जगत में हिंदी से जुड़े या यूं कहें कि हिंदी की बदौलत बड़ी संख्या में लोग कार्यरत हैं और आने वाले समय में इस क्षेत्र के विकास और बढ़त के साथ ही अखबार, टीवी, रेडियो, प्रकाशन उद्योग, जनसंपर्क, प्रचार, विज्ञापन, नाटक, फिल्म, संगीत आदि के क्षेत्र में हिंदी के लोगों की डिमांड तेजी से बढ़नी है। आज कमोबेश ऐसी स्थिति है कि हिंदी में ठीक-ठाक लिख पढ़ कर जीवन यापन किया जा सकता है। अब तक जो भाषा गैर आर्थिक समाजशास्त्रीय संचार का माध्यम थी, वही हिंदी अब आर्थिक संचार के क्षेत्र में पहुंच गई है और मजबूती से पैर जमा रही है। जनमाध्यमों की जीवन रेखा यानि विज्ञापनों ने हिंदी की भाषा प्रयुक्ति को नए आयाम दिए हैं। बदलते समय, जरूरत और बाजारी ताकतों ने हिंदी की ताकत का प्रखर उपयोग कर अनेक आकर्षक और प्रभावी विज्ञापन रचे हैं। विज्ञापनों ने एक नयी हिंदी गढ़ी है।[13]

जन माध्यमों ने भाषा और उसके साथ संस्कृति को एक उत्पाद और कमाई के जरिए के रूप में तब्दील कर दिया है। यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है। लेकिन उतना ही बड़ा सच यह भी है कि हिंदी आज विश्व भर में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषाओं में शामिल है। विश्व भर में 341 मिलियन से अधिक लोगों द्वारा हिन्दी प्रयोग में लाई जाती है।[14] प्रिंट मीडिया ने जिस हिन्दी को राष्ट्रीय व्याप्ति दी वह इलेक्ट्रानिक मीडिया में आकर ग्लोबल हो

रही है। हिन्दी अगर विश्व स्तर पर तीसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है तो इसे बनाने में जनमाध्यमों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। सिर्फ हिंदुस्तान में ही इस देश के बहुसंख्यक जन की खबरें, उनके यथार्थ, उनकी सोच को समझने या व्यक्त करने का माध्यम हिंदी ही है। भारत में ही लगभग 70 करोड़ लोग हिन्दी का प्रयोग करते हैं।[15] यह हिन्दी की ताकत और सामर्थ्य का प्रमाण है। यही हिंदी बाजारवाद के घटाटोप में यहां की जमीनी वास्तविकता को सामने लाने और भूमंडलीकरण के बियाबान में मुकाबले के महत्वपूर्ण औजार का रूप भी ग्रहण करेगी। बाजारी तत्वों द्वारा इसके 'उपयोग' पर बात करते हुए हमें 'फोर्ट विलियम कॉलेज' का उदाहरण सहायक हो सकता है। हम सब जानते हैं कि फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना का मूल उद्देश्य था इंग्लैंड से भारत आने वाले शासकों और अधिकारियों को काम चलाऊ हिंदी की ट्रेनिंग देना। लेकिन क्या इस संस्था का यही योगदान रहा अगर सिर्फ यही योगदान होता तो इसे हम गुलामी के स्मारकों के रूप में ही याद करते। लेकिन यह है सर्वविदित है कि हिंदी के स्वरूप निर्माण, उसके विकास खासतौर पर गद्य की दृष्टि से, इसका योगदान ऐतिहासिक रहा। कहना यह है कि मेन प्रोडक्ट के साथ बाई प्रोडक्ट की भूमिका भी कई बार महत्वपूर्ण होती है। हिंदी हमारे लिए वही भूमिका निभाएगी लेकिन मुख्य भूमिका के रूप में। यहां हिंदी से जुड़े लोगों के विवेक, उनकी चेतना और दायित्व बोध से ही उसका असली स्वरूप तय होना है। हम याद कर सकते हैं कि पिछले साठ वर्षों में राजकाज और प्रशासन के हाथों राजभाषा का दर्जा प्राप्त हिंदी का विभिन्न भाषा और शब्दावली आयोगों, हिंदी पखवाड़े और प्रचार-प्रसार के ढंढ कमंडल के बीच हिंदी का वास्तविक प्रसार कितना हुआ, उसकी ताकत में कितना इजाफा हुआ? निष्कर्ष हम सबको पता है। हिंदी का सबसे ज्यादा प्रसार जन माध्यमों के द्वारा हुआ। यही नहीं हिंदी समाज के भीतर का हाशिए का यथार्थ जो बड़े पैमाने पर मुखर हो रहा है उसमें हिंदी भाषा और उसके माध्यमों की महति भूमिका है। आज हिन्दी में रसिक की जगह हिन्दी को उत्पादक की आवश्यकता अधिक है जो हिन्दी के विराट सांस्कृतिक उद्योग में सक्रिय भूमिका निभा सके।[16] यह अवश्य है कि आज व्यवसायिक दक्षता हासिल करती हिंदी की प्रतिरोधी ताकत, उसके अपने शब्द और अर्थ, उसकी समृद्ध पहचान जो हिंदी भाषी जन की पहचान भी है, कहीं लुप्त ना होने पाए। लेकिन यह संघर्ष माध्यमों की अवहेलना या उनसे अलग होकर, उन पर भड़ास निकाल कर संभव नहीं हो सकता। अपनी भाषा की संवेदना, उसकी प्रतिरोधी ताकत को बचाने और बढ़ाने तथा अस्मिता के महत्वपूर्ण औजार के रूप में हिंदी को बनाए रखने हेतु इन्हीं माध्यमों का रणनीतिक इस्तेमाल करना होगा और इसके लिए शुद्ध साहित्यिक अवधारणा से भी बाहर आना होगा। तब जाकर कहीं हिंदी एक साथ दैनिक व्यवहार से लेकर रोजी रोजगार और सांस्कृतिक पहचान एवं प्रतिरोध की भाषा एक साथ बनेगी। हिन्दी की लघु पत्रिकाओं का योगदान इस दृष्टि से बेहद उल्लेखनीय है। इन्होंने न सिर्फ हाशिये की आवाजों और विभिन्न विमर्शों को स्वर दिया है अपितु साहित्य के पारंपरिक गढ़ों के अलावा छोटे शहरों को भी लगातार महत्व दिया। नये कवियों, लेखकों की पांत तैयार करने के साथ ही समाज में साहित्य तथा ग्लोबल होते साहित्य में समाज के यथार्थ को भी जीवित रखा है, उसके दायरे को लगातार बढ़ाया है।[17] प्रतिरोध के स्वर को मजबूती देते हुए आलोचनात्मक स्वरों को जीवित रखा है। जनमाध्यमों के व्यावसायिक होते जाने और बाजारवादी दौर में जबकि मुख्यधारा की पत्रकारिता पतनोन्मुख है, कुचक्रों के ऐसे दौर में हिन्दी मजबूती से डटी हुई है, यह भविष्य के लिए सुखद संकेत है।

भारती कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. पृष्ठ-2076, समाज विज्ञान विश्वकोश, खंड 6 - संपादक- अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, दूसरा संस्करण 2016
2. पृष्ठ-28, जनमाध्यमों का मायालोक - नोम चाम्स्की, अनुवादक - चंद्रभूषण, ग्रंथशिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, लक्ष्मी नगर, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण, 2006
3. पृष्ठ-25, संचार, बाजार और भूमंडलीकरण - अजय तिवारी, अनन्य प्रकाशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2018
4. पृष्ठ-63, संचार माध्यम और सांस्कृतिक वर्चस्व - हर्बर्ट आई. शिलर, अनुवाद- आर. के. सिंह, ग्रंथशिल्पी

प्राइवेट लिमिटेड, लक्ष्मी नगर, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण, 2002
5. पृष्ठ - vii, सूचना क्रांति की राजनीति और विचारधारा - सुभाष धूलिया, ग्रंथशिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, लक्ष्मी नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001
6. पृष्ठ-331, हिंदी पत्रकारिता- कृष्ण बिहारी मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
7. पृष्ठ-17, मीडिया : मिशन से बाजारीकरण तक - रामशरण जोशी, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, प्रथम संस्करण - 2008
8. पृष्ठ-27, मीडिया : मिशन से बाजारीकरण तक - रामशरण जोशी- वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, प्रथम संस्करण - 2008
9. पृष्ठ-139, जनमाध्यम - पीटर गोल्डिंग, अनुवाद और संपादन सुधा सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, लक्ष्मी नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010
10. पृष्ठ-26, मीडिया : मिशन से बाजारीकरण तक - रामशरण जोशी- वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, प्रथम संस्करण - 2008
11. पृष्ठ-V, उत्तर आधुनिक मीडिया विमर्श- सुधीश पचौरी, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2006
12. पृष्ठ-25, मीडिया और साहित्य - सुधीश पचौरी, राजसूर्य प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1996
13. पृष्ठ-147, मीडिया की बदलती भाषा - डॉ. अजय कुमार सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2012
14. https://en-wikipedia-org/wiki/List_of_languages_by_number_of_native_speakers
15. https://en-wikipedia-org/wiki/List_of_languages_by_number_of_native_speakers_in_India
16. पृष्ठ-128, जनसंचार माध्यम: भाषा और साहित्य - सुधीश पचौरी, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002
17. पृष्ठ-151, साहित्यिक पत्रकारिता- ज्योतिष जोशी, वाणी प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007

शोध-पत्र

डॉ॰ मिथुन कुमार

'कारमाँवाली' में भारत विभाजन की त्रासदी

भारत विभाजन पर यूँ तो उर्दू में कई उपन्यास लिखे जा चुके हैं, लेकिन कश्मीरी लाल ज़ाकिर का उपन्यास 'करमाँवाली' कई मायनों में इन सबसे अलग है। जो बात इस उपन्यास को दूसरे उपन्यासों से अलग करती है उनमें कहानी, क्षेत्र, विचार, सिद्धांत और उपन्यास का परिणाम प्रमुख हैं।

करमाँवाली की कहानी के बारे में कश्मीरी लाल ज़ाकिर ने लिखा है कि, ''करमाँवाली की कहानी मैंने अंग्रेजी अखबार 'ट्रिब्यून' की एक ख़बर से प्राप्त की थी जो 05 मार्च 1980 को छपी थी।''[1]

करमाँवाली के विषय के बारे में उनका मत है कि ''करमाँवाली उसी नस्ल की जो सैंतालीस में हिंदुस्तान से हिजरत कर गयी थी, की नुमाइंदा है। एक माँ अपना वतन छोड़ गयी और उसका मासूम बेटा हिंदुस्तान में रह गया। एक बार उजड़ने और दोबारा बसने के जानलेवा अमल में से गुज़रते हुए भी वह अपने बेटे को न भूल सकी। अपने बेटे को पा लेने की तमन्ना धीरे-धीरे हसरत में बदल गयी और उस हसरत की नाजुक सी पोटली दिल में दबाये वह दरबदर भटकती रही कि शायद कोई उसे उसके बेटे की ख़बर दे सकें।''[2] उर्दू के मशहूर कहानीकार ख़्वाजा अहमद अब्बास ने करमाँवाली के सम्बन्ध में लिखा है कि ''करमाँवाली की कहानी सारी इंसानियत की कहानी है, उम्मीद और आशा की कहानी है, जो नई भी है और पुरानी भी है। कश्मीरी लाल ज़ाकिर ने यह नावेल क़लम में रोशनाई भरकर नहीं, बल्कि इंसानियत के आंसुओं से रोशनाई का काम ले कर लिखा है।''[3]

कश्मीरी लाल ज़ाकिर ने करमाँवाली के प्रकाशन के सम्बन्ध में बड़ी दिलचस्प बातें कही हैं। उन्होंने लिखा है कि गोपाल मित्तल के बेटे प्रेम गोपाल मित्तल ने एक बार उनसे कहा कि ''वह अपने नये इदारे की धाक जमाने के लिए शुरू ही में कुछ अच्छी किताबें छापना चाहता है। मैंने कहा कि अगर वह चाहे तो 'करमाँवाली' का मुसौविदा मुझसे ले ले और उसे छाप दे। तो प्रेम गोपाल मित्तल ने करमाँवाली का पहला एडिशन 1981 ई॰ में छाप दिया।''[4]

इस प्रकार करमाँवाली उपन्यास पहली बार प्रकाशित हुआ और अब तक उसके कई एडिसन प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी में इसे दिशा पब्लिशर्स ने प्रकाशित किया। पंजाबी में इसे आर॰ सी॰ पब्लिशर्स ने प्रकाशित किया। 'करमाँवाली' को नाटक के रूप में पहली बार 10 जून 1990 को प्रस्तुत किया गया जिसके पश्चात सैकड़ों बार पूरे भारत में इसे प्रस्तुत किया गया। इसे एक पंजाबी सीरियल के रूप में 'मेरा रांझा मेरा जोगी'' के नाम से प्रस्तुत किया गया जो बहुत प्रसिद्ध हुआ।

करमाँवाली का अर्थ है 'अच्छी तरक़दीर वाली।' सहेलियों ने उसका नाम छोटा करके 'करमू' रख दिया था। एक दिन एक जोगी करमू के गांव में आया जो गेरुआ वस्त्रधारण किये था। उसने 'हीर' गायी और उसका असर गांव की औरतों पर ऐसा हुआ कि वो सब उसके बारे में देर तक बातें करती रहीं। उसने करमू को 'करमाँवाली कुड़ी है' कहकर सम्बोधित किया था। बाद में करमू की शादी फैजा से हो गयी। शादी के कुछ दिनों बाद करमू को एक बेटा पैदा हुआ जिसका नाम खुशिया रखा गया। एक दिन ऐसी अफवाहें गरम हुई कि हिंदू मुस्लिम फसाद हो गया। करमू, फैजू और खुशिया तीनों ने अपना घर और

बैल रामसरन के हवाले करके गाँव छोड़कर चले गये इस विश्वास के साथ कि कुछ दिनों बाद फिर वापस आ जायेंगे। वह दोनों करमू के भाई करीम खाँ के घर सीसवां चले। करीम खाँ की बीबी वकीलॉ ने इन दोनों को अपने घर में पनाह दी। विभाजन की विभीषिका ने इंसानों के दरम्यान नफरत, घृणा एवं द्वेष पैदा कर दिया था। करीम खाँ के गाँव का भी माहौल बदला हुआ था। वहाँ भी फैजू, करमू और खुशिया की सुरक्षा ख़तरे में थी। स्वयं करीम खाँ और वकीलॉ भी अपना गाँव छोड़ने की फिराक में थे। बहरहाल तय यह हुआ कि पहले फैजू और करमू सरहद पार करेंगे और उनका बेटा खुशिया करीम खाँ और वकीलॉ के पास रहेगा। बाद में करीम और वकीलॉ सरहद पार करके पाकिस्तान जाकर फैजू और करमू से मिलेंगे। इसलिए सुबह होने से पहले ही करीम खाँ, फैजू और करमू को रोपड़ स्टेशन छोड़ने गया तो रास्ते में पता चला कि बहुत सारे लोग डर के साये में, थके हुए, उदास लोग, स्टेशन की तरफ़ जा रहे हैं। करीम खाँ ने इन दोनों को रेल के डिब्बों में बिठा दिया और फैजू और करमू रेल में बैठकर सरहद पार करने के लिए चल पड़े। जब फैजू और करमू पाकिस्तान पहुंचे तो उस नये मुल्क के एक सिपाही ने इनका स्वागत करमू को घूरकर किया। फिर सभी लोगों को ट्रकों में भरकर मुहाजिर कैम्पों में लेकर गये। इस ट्रक में बैठने की धक्का मुक्की में फैजू की पगड़ी कहीं गिर गयी। यह देखकर कि फैजू के सिर पर पगड़ी नहीं है, करमू को लगा कि जिस पगड़ी अर्थात् इज़्जत, को बचाने के लिए उन्होंने अपना मुल्क छोड़ दिया वही पगड़ी पाकिस्तान में आते ही खो गयी। पगड़ी छिन जाने से फैजू भी उदास हो गया था। मुहाजिर कैम्प में पहुंचने पर देखा कि वहां का माहौल ही अलग था। पूरे कैम्पों के क्षेत्र में अफरा तफरी, परेशानी और झगड़े का ऐसा माहौल था कि 'उजड़े हुए लोग, उजड़े हुए लोगों को ही अपनाने को तैयार नहीं थे। कैम्प में इनकी मुलाकात अकबर और उसकी बीवी नूरी से हुई। वह भी अपना घर बार छोड़कर खुश नहीं थे मगर हालात ऐसे बने कि उन्हें अपना घर बार छोड़ना पड़ा। कैम्प के माहौल को देखकर करमू को कभी कभी अपना घर बार याद आ जाता था। अभी भी करमू के दुपट्टे के कोने में उसके खेत की मिट्टी बंधी थी और कुरान हरे रंग के कपड़े में सजो कर रखा हुआ था। यही दोनों चीजें उसे अपने घर की यादों के तौर पर उसके पास थीं। ऐसा लगता था कि करमू का केवल शरीर ही पाकिस्तान में था उसकी आत्मा तो हिंदोस्तान में थी। एक दिन कैम्प में अचानक करीम खाँ और वकीलॉ उनसे मिले। उनसे खुशिया के बारे में पूछने पर पता चला कि वह आते समय रास्ते में उनसे बिछुड़ गया। अब करमू हमेशा खुशिया को ही याद करती रहती। कैम्प से लड़कियाँ जिस्म बेचने जाती थीं और वापसी में बड़ी बड़ी कारों में बैठकर आती थीं। अक्सर मदद केवल उन लोगों को दी जाती थी जिनके साथ जवान बेटियां या बेवा बहुएं होती थीं। इसी दरम्यान अकबर और नूरी (जो उसी खेमे में रहते थे) वे करमू और फैजू को अपनी बेटी और दामाद समझ लिया और अकबर और फैजू ने मिलकर एक दुकान खोल ली। कुछ दिनों बाद निमोनिया से नूरी की मौत हो गयी। कैम्प में ही करमू ने एक बच्ची को जन्म दिया जिसका नाम शादाँ रखा गया। आखिर एक दिन अकबर की भी मृत्यु हो गयी। अब पाकिस्तान में उन्हें लायलपुर में जमीन एलाट कर दी गई थी। अब फैजू, करमू और शादाँ चक 240 लायलपुर पहुंचे। उन्हें एक उजड़ा हुआ बिना किवाड़ का घर एलॉट किया गया था। वहां के नम्बरदार ने पहले तो उनकी मदद की परन्तु कुछ दिन बाद एक बार करमू को रास्ते में अकेला पाकर उसका रास्ता रोकने लगा। बाद में किसी ने उसका कत्ल कर दिया। धर्म के आधार पर बने उसी पाकिस्तान की गोद से एक और मुल्क बना जो बांग्लादेश कहलाया। अब करमू बूढ़ी हो चुकी है, और फैजू की मृत्यु हो चुकी है।

इधर हिंदुस्तान में खुशिया जब जागकर उठा तो करीम खाँ और वकीलॉ को न पाकर रोने लगा। रोते हुए वह गली में जा ही रहा था कि नत्था सिंह ग्रंथी मिला जिसने उसे पनाह दी। स्कूल में दाखिल कराते समय नत्था सिंह ने खुशिया के पिता के नाम की जगह अपना नाम लिखवाया। नत्था सिंह की इच्छा थी कि एक सिख के घर में रहने के बावजूद खुशिया मुसलमान रहे और अपने धर्म का ज्ञान अर्जित करें। राम सरन जिसने फैजा और करमू के घर की चाबियाँ अमानत के तौर पर रखी थी और उनका इंतजार कर रहा था, उसका इंतजार अभी ख़त्म नहीं हुआ था। करमू और फैजा नहीं आये। अब दो मुल्क बन गये थे। एक हिंदुस्तान और दूसरा पाकिस्तान। मुहाजिर पाकिस्तानी और शरणार्थी हिंदुस्तानी बन गये थे। एक दिन ग्रंथी, शाहचुपू और पंडित मूलचंद खुशिया के साथ रामसरन से मिलने आये। उन लोगों ने सरकार से दरख्वास्त की कि खुशिया का घर उसे वापस दे दिया जाए। ग्रंथी का बेटा

खुशवंत ब्याह करके सिंगापुर चला गया। खुशिया से शाहचुपू ने अपनी बेटी फातिमा की शादी कर दी। अब खुशिया को अपना घर मिल गया जहां फातिमा के साथ उसने नये जीवन की शुरुआत की।

करमू अब बूढ़ी हो चली थी इसलिए उसे जिंदगी से किसी भी चीज की उम्मीद नहीं थी। यदि वह कुछ चाहती थी तो अपना बेटा खुशिया। तभी उसने सुना कि हिंदुस्तान से कुछ सिख ननकाना साहिब में दर्शन करने के लिए आये हैं। वह ननकाना साहब पहुंचकर सभी से खुशिया के बारे में पूछती। एक आदमी ने उससे वादा किया कि हिंदुस्तान वापस जाकर वह उस गांव में खुशिया का पता लगायेगा और फिर उसे सूचित करेगा। अचानक एक दिन करमाँवली को खुशिया की चिट्ठी मिली जिसमें उसने अपनी माँ को हिंदुस्तान बुलाया था। करमाँवाली अपने बेटे खुशिया के पास हिन्दुस्तान पहुंच गयी। पूरे तीन महीने वह खुशिया के पास रही और फिर पाकिस्तान रवाना हो गयी।

इस तरह यह उपन्यास चार भागों 'मैं', 'वह', 'सफर', 'वापसी', में विभाजित है। पूरे उपन्यास में भारत विभाजन, मुहाजिरों की समस्याएं, दंगे-फसाद, घृणा, द्वेष, धर्मांधता आदि को प्रस्तुत किया गया है। विभाजन का समाचार सुनते ही इंसान, इंसान न होकर हिंदू, मुसलमान और सिख हो गया था। यही विभाजन और इंसानों की बदली हुई तस्वीर उनकी तकदीर भी बदलने वाली थी। धर्म के आधार पर बने पाकिस्तान के अस्तित्व में ही खून-ख़राबा था जो इंसानों के शरीर से उसका सारा रक्त, फसलों से हरियाली, फूलों से रंग, इंसानों से उनकी मुहब्बतें, प्यार, सुहागिनों की मांग को उजाड़ देने का पैग़ाम लेकर आया था। एक ऐसी आंधी जो सब कुछ तबाह और बरबाद कर देना चाहती थी। विभाजन का प्रभाव ऐसा था कि इंसान न केवल अपनी परछाई से बल्कि स्वयं अपने अस्तित्व से ही डरने लगा था। दूसरे मज़हब के लागों से असुरक्षा की भावना उनके दिल और दिमाग में सरायत कर गयी थी। एक तरफ अपने देश और देश की मिट्टी से प्यार था तो दूसरी तरफ असुरक्षा की भावना। ऐसे में बहुत से लोगों ने अपना घर छोड़ कर 'अपने मुल्क' पाकिस्तान में पनाह लेने को मजबूर थे।

उपन्यासकार कश्मीरी लाल ज़ाकिर ने करमू के ज़रिये एक साथ कई नस्लों के प्रस्तुत किया है। स्वयं करमू, उसका बेटा खुशिया और करमू के पेट में पल रहा बच्चा। एक नस्ल हिंदुस्तान में तो दूसरी पाकिस्तान में। स्वयं करमू अपने साथ अपने दुपट्टे के एक कोने में अपने खेत की मिट्टी और अपना धर्म अर्थात् 'कुरान' साथ लेकर पाकिस्तान गयी थी। हिंदुस्तान से पाकिस्तान की यात्रा करते समय रेल के डिब्बों में बैठे लोगों की किस्मत को उपन्यासकार ने एक बंद लिफाफे की तरह बताया है। जिसे डाकिया उस पर छपे पते पर फेंक कर चला जाता है। उन्होंने लिखा है कि,

''हम सबकी तकदीरें उस बन्द लिफाफे की तरह थीं जो कभी-कभी हफ्ते में एक दिन आने वाला डाकिया किसी-किसी के घर फेंक जाता था और जिसे खोलकर यह जानने के लिए कि उसमें क्या लिखा था, हम गांव के स्कूल के मुंशी के पास जाते थे और वह रूक रूक कर, मज़े ले लेकर लिफाफे में बंद कागज पर लिखी इबारत को पढ़ता था।''[5]

हिंदुस्तानी मुसलमानों के पाकिस्तान पहुंचने पर किस तरह से औरतों का 'स्वागत' किया गया। उसी धर्म की औरतों के लिए किस तरह के शब्दों का प्रयोग किया गया जिस धर्म की बुनियाद पर वह मुल्क बना था, उसी अल्लाह और खुदा के बन्दों ने कैसा सुलूक किया, उपन्यासकार ने उसे भी प्रस्तुत किया है। करमू के पाकिस्तान पहुंचने पर स्टेशन पर मौजूद सिपाहियों की आंखें खूबसूरत और जवान औरतों की ही ताक में ही रहती थीं। लाहौर स्टेशन पर करमू और दूसरी औरतों को देखने के बाद प्लेटफार्म पर मौजूद सिपाही आपस में यह बात कर रहे थे।

''कुछ कुछ माल तो बहुत खरा है।'' एक सिपाही ने दूसरे सिपाही से हंसते हुए कहा।

''हमारे ही काम आयेगा।'' दूसरे सिपाही का जवाब था।

''कैम्प में पहुंचने के बाद या पहले।'' एक और सिपाही का सवाल था।

''जैसे मौला चाहेगा।'' एक अधेड़ उम्र के सिपाही ने जवाब दिया।

''मौलाना तुम हर बात में मौला को खींच लाते हो।'' एक और सिपाही ने कहा।

''पाकिस्तान भी तो उसी ने बनाया है।'' मौलवी किस्म का सिपाही बोला।

''और हिंदुस्तान।'' वही पहले वाला सिपाही सवाल कर रहा था।

''धोती वालों ने।'' यह एक और सिपाही का जवाब था।''[6]

उपन्यासकार ने मुहाजिर की परिभाषा भी उपन्यास में बड़े प्रभावपूर्ण तरीके से किया है। उन्होंने लिखा है कि ''मुहाजिर वह होता है जिसका कोई घर नहीं होता। वह मैदान में खुले आसमान के नीचे जीवन गुजारते हैं।'' इस वाक्य में मुहाजिर होने का दर्द साफ झलकता है। यही नहीं बल्कि मुहाजिर कैम्पों में राशन के लिए लाईन लगाना, राशन बंटना, कुछ को राशन मिलना, कुछ को राशन न मिलना, राशन न मिलने से ना उम्मीद होना, मुहाजिरों को स्वाभिमान, राशन को भीख समझना, चूल्हों पर खाना पकाना, उनके कैम्प और टेंट के उजड़ने का दु:ख, कैम्प की मुहाजिर औरतों का शाम को दूसरों के घरों में जाना और दूसरों की हवस पूरी करके देर रात को वापस आना, कैंप में व्यापार चाहे वह सामान का हो या शरीर का, औरतों के झगड़े, इंसानियत का ख़त्मा आदि समस्याओं को बेहतरीन तरीके से लिखा है। जब भी कोई मुहाजिर औरत कैम्प में रात को सिर झुकाये आती तो कैम्प के लोग उस पर और उसके परिवार वालों के बारे में कैसी बातें करते हैं। इसका एक उदाहरण यह है।

''बुड़ढा अपनी लड़की की कमाई खा रहा है।''

''साला आ गया अपनी बहू को गिरवी रख कर।''

''बेशरम हिंदुस्तान में भी यही करते रहे होंगे।''

''हरामी अपने दुखों का हिसाब अपनी लड़कियों और बहनों की अस्मत से चुकाते हैं।''[7]

विभाजन की त्रासदी का अगर सबसे ज्यादा कोई भुक्तभोगी था तो वह स्त्री ही थी। हर जगह, हर कदम पर उसे हर किसी ने लूटा था। उनकी मजबूरी का हर किसी ने फायदा उठाया था। धर्म की हिफाजत के नाम पर उनकी बलि चढ़ाई गयी। उन्हें तो उनके रक्षकों ने ही लूटा था। उपन्यास का यह अंश इसी तरफ इंगित करता है।

''उन मजबूर औरतों की न मस्जिदों ने हिफ़ाज़त की थी न मंदिरों ने। किसी ने उन्हें मस्जिदों में लूटा था, किसी ने मंदिरों और गुरूद्वारों में। जो वहां बच गयी थीं, वह खुले खेतों, तंग गलियों और बंद कमरों में लुटी थीं। जिन्होंने उन्हें अपना सरपरस्त समझकर अपनी जान व माल उनके सुपुर्द कर दिया था।''[8]

शरणार्थियों की समस्याओं के बारे में उपन्यासकार का विचार है कि दोनों देशों में यह समस्या एक जैसी ही थी। दोनों ही देशों में शरणार्थी और मुहाजिर दूसरे देश से बड़ी संख्या में आ रहे थे। उनको बसाने की, खाने-पीने की जिम्मेदारी उस देश की सरकार की थी। वो जिस उम्मीद के साथ उस देश में आये थे उन उम्मीदों पर पूरा उतरना था। वो उस देश को 'अपना देश' और 'अपनों का देश' समझ कर आये थे। वह अपने ज़ख्मों पर मरहम लगने की उम्मीद लेकर आये थे, अंधेरे से उजाले की तलाश में आये थे। जिस धर्म और मज़हब की बुनियाद पर पाकिस्तान बना था वही मज़हब अब लाचार और मजबूर नज़र आ रहा था, वह उन्हें पनाह नहीं दे पा रहा था। दोनों देशों में शरणार्थी समस्या के बारे में उपन्यासकार ने लिखा है कि

''उखड़े हुए लोगों की दास्तान तो दोनों मुल्कों में एक ही थी। वही उलझनें, वही मसायल, वही सरकारी कार्रवाइयां, वही दौड़धूप, वही उकताहट, वही परेशानी, सब कुछ एक जैसा था। मुल्क के बंटवारे के साथ अवाम के मसायल और परेशानियां थोड़े ही बंटी थीं। वह तो वैसी की वैसी क़ायम थीं। बल्कि पहले से ज्यादा शदीद हो गयी थीं।''[9]

इस तरह करमाँवाली एक ऐसी हिंदुस्तानी मुसलमान की कहानी है जो विभाजन के बाद पाकिस्तान चली गयी मगर हिंदुस्तान में अपना परिवार, एक नस्ल, घर, ज़मीन, जायदाद, सब कुछ छोड़ गयी। अपनी जड़ों से कटने का गम उसे खाये जा रहा है। वह बार-बार अपने अतीत में खो जाती है और अपने अस्तित्व की तलाश करती है। आखिरकार वह पाकिस्तान में ही अपना भविष्य देखती है और हिंदुस्तान में रह रहा उसका आधा परिवार हिंदुस्तान में अपना भविष्य देखता है।

असिस्टेंट प्रोफेसर, उर्दू विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. करमाँवाली, पृ॰ सं॰ 11
2. करमाँवाली, पृ॰ सं॰ 12
3. करमाँवाली, पृ॰ सं॰ 1
4. करमाँवाली, पृ॰ सं॰ 8
5. करमाँवाली पृ॰ सं॰ 42-43
6. करमाँवाली,पृ॰ सं॰ 44
7. करमाँवाली, पृ॰सं॰ 64
8. करमाँवाली, पृ॰सं॰ 64
9. करमाँवाली, पृ॰सं॰ 129

डॉ. सरिता शर्मा

बृहत्संहिता में पर्यावरण बोध

I. भूमिका - आज से लगभग 1500 वर्ष पूर्व विरचित बृहत्संहिता आचार्य वराहमिहिर की अनुपम कृति है। आचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना 106 या 107 अध्यायों में की है। टीकाकार भट्टोत्पल के अनुसार मूलत: मगध निवासी आचार्य वराहमिहिर आजीविकासिद्धि के लिए उज्जयिनी नगरी में निवास करते थे। विभिन्न आचार्यों ने इनका जन्म शक 412 अर्थात् (412+78 = 490 AD) में हुआ। इनको आर्यभट्ट का समकालीन एवं राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक माना जाता है -

धन्वन्तरिक्षपण कामरसिंह शंकुवेताल
भट्टघटखर्पर कालिदासा:।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते: सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य।।

आचार्य वराहमिहिर की अन्य कृतियाँ हैं - पंच-सिद्धान्तिका, बृहज्जातक, लघुजातक, योगयात्रा, विवाहपटल, समाससंहिता, जातकार्णव, ग्रहमण्डलफलम्, पंचपक्षी, दिक्किनीयात्रा, ढिकनिकयात्रा, विवाहखण्ड आदि। (झा)

बृहत्संहिता की एकमात्र उपलब्ध संस्कृत टीका भट्टोत्पलविवृत्ति शक 888 (अर्थात् 888+78 = 966 AD) में लिखी गई थी।

II. विषयवस्तु - बृहत्संहिता में ग्रह, नक्षत्र, योग, लक्षण, अङ्गविद्या, उत्पात, वास्तुविद्या, दकार्गल, वृक्षायुर्वेद, स्त्री तथा पुरुष के लक्षण विचार, रत्न परीक्षा, शकुन शास्त्र, पाकविचार, तिथि, करण, राशि, विवाह आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

III. शोध की आवश्यकता एवं औचित्य - वर्तमान विश्व पर्यावरण संकट के काल में है। जलवायु परिवर्तन, समुद्री जल का बढ़ता स्तर, विलुप्त होती प्रजातियाँ, वनों में व्याप्त दीर्घकालीन अग्निदाह, अनेक देशों में व्याप्त भूमि, जल, वायु तथा ध्वनि प्रदूषण ने मनुष्य के समक्ष विकट चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं। प्राचीनकालीन भारतीय संस्कृति में निहित मूल्य इस विश्व को पुनर्निर्माण का नूतन पथ प्रदर्शित करते हैं। *'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:', 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:'* का उद्घोष करने वाली भारतीय ज्ञान परम्परा के मन्थन द्वारा अवश्य ही विश्व कल्याण के लिए अमृत सिद्धान्तों का संचयन किया जा सकता है। बृहत्संहिता वास्तुशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यदि त्रिविध वास्तु - आवासीय, व्यावसायिक एवं देवालय के सिद्धान्तों को भलीभाँति समझकर नगर, गृह, देवालय, कारखाने आदि का निर्माण किया जाए तो पर्यावरणीय संकट से मुक्ति का मार्ग आधुनिक विश्व को प्राप्त होगा; यही इस शोधपत्र की आवश्यकता एवं औचित्य है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के प्रस्तावित सुधारों के अनुसार प्राचीन ज्ञान संपदा के द्वारा हम् वर्तमान विश्व की समस्याओं के समाधान के लिए सकल विश्व के समुत्थान के लिए प्रयास करना है। यह भी इस शोधपत्र का औचित्य है।

बृहत्संहिता एक बृहत्काय ग्रन्थ है। इसमें अनेकानेक स्थानों पर पर्यावरण बोध, सुगमतया परिलक्षित होता है। शोधपत्र में विषय परिसीमन के लिए कुछ विशिष्ट पक्षों को केन्द्र में रखकर ही विवेचना की गई है - आवासीय वास्तु में पर्यावरण बोध, दकार्गल, वृक्षायुर्वेद तथा देवालय वास्तु

में पर्यावरण।

I. आवासीय वास्तु में पर्यावरण बोध - प्राचीन भारतीय पुस्तकों में नगर निर्माण, प्रासाद निर्माण एवं गृह निर्माण आदि का विचार प्राकृतिक तत्त्वों को विशिष्ट अवधान में रखकर किया जाता था। बृहत्संहिता के पाठक के लिए निष्कर्ष प्रतिपादित करना कदाचित् कठिन नहीं है कि यह ग्रन्थ पर्यावरण की गोद में बैठकर लिखा गया होगा। खगोलीय पिण्डों की अतिविस्तृत परिचर्चा आचार्य वराहमिहिर के ज्योतिषशास्त्रीय ज्ञान को उद्घाटित करती है तो आवासीय वास्तु के सिद्धान्त प्रकृति, पर्यावरण के सदुपयोग के सिद्धान्त पर आधारित हैं। निदर्शन मात्र के लिए -

किमपि किल भूतमभवद्रुन्धानं रोदसी शरीरेण।
तदमरगणेन सहसा विनिग्रह्याधोमुखं न्यस्तम्।। - 53/2
यत्र च येन गृहीतं विबुधेनाधितिष्ठतः स तत्रैव।
तदमरमयं विधाता वास्तुनरं कल्पयामास।। - 53/3

अर्थात् बहुत समय पूर्व अपने शरीर से पृथ्वी और आकाश को व्याप्त करने वाले एक अज्ञात पुरुष की उत्पत्ति हुई, जिसे देवताओं ने सहसा पकड़ कर पृथिवी पर अधोमुख स्थापित करते हुए, उस काल में जो देवता किसी अंग को पकड़े हुए थे, उस उस अङ्ग में अपना-अपना स्थान भी बना लिया। इस प्रकार वह देवमय अज्ञात नाम पुरुष ब्रह्मा जी द्वारा वास्तु पुरुष नाम से संबोधित किया गया।

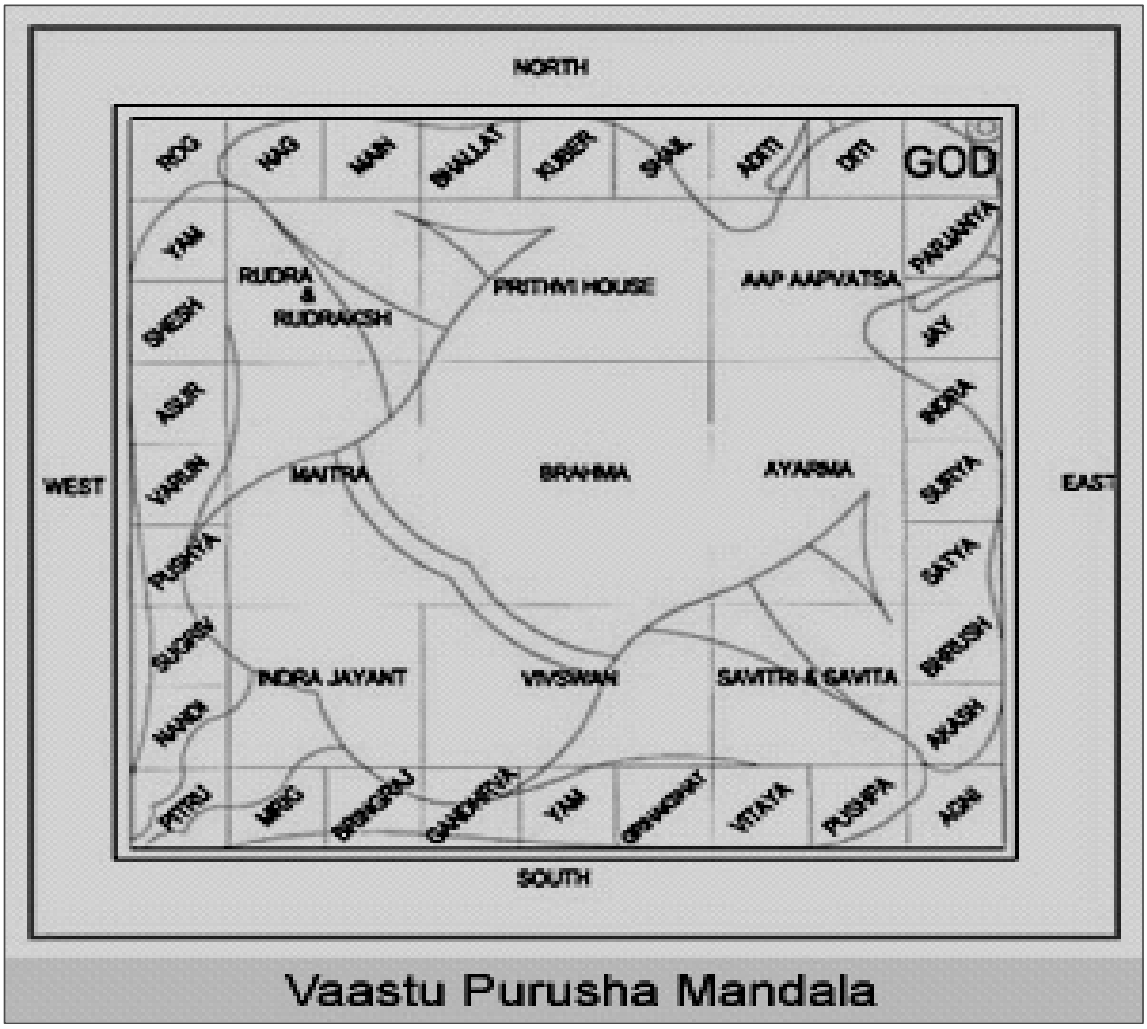

Vaastu Purusha Mandala

NE ईशान **पूर्व E** **SE आग्नेय**

शिखी	पर्जन्य	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	अन्तरिक्ष	अनिल
दिति	आप	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	सावित्र	पूषा
अदिति	अदिति	आप-वत्स	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	सविता	वितथ	वितथ
भुजग	भुजग	पृथिवी धर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	बृहक्षत	बृहक्षत
सोम	सोम	पृथिवी धर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	यम	यम
भल्लाट	भल्लाट	पृथिवी धर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	गन्धर्व	गन्धर्व
मुख्य	मुख्य	राज-यक्ष्मा	मित्र	मित्र	मित्र	इन्द्र	भृङ्गराज	भृङ्गराज
नाग	रुद्र	शोष	असुर	वरुण	कुसमदन्त	सुग्रीव	जय	मृग
रोग	पापयक्ष्मा	शोष	असुर	वरुण	कुसमदन्त	सुग्रीव	दौवारिक	पिता

North **South**

NW वायव्य **पश्चिम West** **नैऋत्य**

चतुरस्र में एकाशीति पद वास्तु नर

इस ग्राफ में हम स्पष्टतया देखते हैं कि घर के मध्य भाग में ब्रह्मा का स्थान है। इस स्थान को प्रत्येक अवस्था में खुला रखने का नियम है। इसे मर्मस्थान कहते हैं और इस पर कोई निर्माण करने से पीड़ित मर्मस्थान जातक को कष्ट देता है-

सम्पाता वंशानां मध्यानि समानि यानि च पदानाम्।
मर्माणि तानि विन्द्यान्न तानि परिपीडयेत् प्राज्ञः।। - 53/57
तान्यशुचिभाण्डकीलस्तम्भाद्यैः पीडितानि शल्यैश्च।
गृहभर्तुस्तत्तुल्ये पीडामङ्गे प्रयच्छन्ति।। - 53/58

अर्थात् यदि वास्तु पुरुष का मर्मस्थान अपवित्र भाण्ड, कील, खम्भा, शल्य आदि से पीड़ित हो तो उसके समतुल्य अंग में गृहपति को पीड़ा होती है। वैज्ञानिक चिन्तन किया जाए तो घर के मध्य भाग को खुला रखने का सामान्य अर्थ है कि प्रत्येक कक्ष में सूर्य का प्रकाश तथा खुली हवा का संचरण सहजता से हो सके। महानगरीय जीवन जी रहे हम सभी यह समझ सकते हैं कि घर के प्रत्येक कक्ष में खुली हवा मिले तो अनेक प्रकार के श्वास रोगों से मनुष्य की रक्षा सम्भव है। सूर्य के प्रकाश में विटामिन डी होता है। सूर्योदय के एक घण्टे के अन्दर यदि धूप में बैठा जाए तो मानव को विटामिन डी की कमी नहीं होगी तथा शरीर की हड्डियाँ सुरक्षित होंगी।

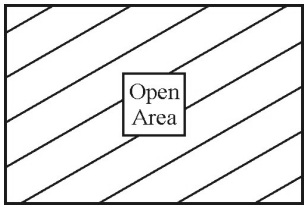

II. दकार्गल -

वैज्ञानिक जे एस.आर. प्रसाद ने अपने 2015 में प्रकाशित शोधलेख में लिखा कि वराहमिहिर ने पंचम शताब्दी में अपने ग्रंथ बृहत्संहिता में प्रलयंकर सूनामी के आरंभ होने के संकेत दिए हैं। उदकार्गलाध्याय में ऐसा वर्णन है। सूनामी प्रभाव के 40 दिन पूर्व धुंए के जैसे वाष्प पैकेट के रूप में संबंधित भू भाग पर दिखाई देते हैं। (Prasad)

डॉ. वि गौरी सुरेश ने 2021 में छपे अपने शोधलेख Water Conservation in India : Then and Now में जलाशयों के चारों ओर वृक्ष लगाने और झीलों तथा सरोवरों की मजबूती सुनिश्चित करने के लिए कहा। (Suresh)

वस्तुतः वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता का दकार्गलाध्याय वर्तमान जलवैज्ञानिकों के विशिष्ट अवधान का विषय बना है।

दकार्गल में वर्णित जीव संकेतकों (bio Indicators) द्वारा गुजरात में अनेक जलस्रोतों को खोद कर तत्तत् स्थान की जल आपूर्ति सुनिश्चित की गई। विनम्रतापूर्वक आचार्य वराहमिहिर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भूगर्भज्ञान की विवेचना करते हैं। जिस प्रकार मनुष्यों के शरीर में रक्तवाहिनी नाड़ियाँ हैं, उसी प्रकार पृथ्वी में भी ऊँची-ऊँची गुह्य स्थानों में शिराएँ हैं। यही शिराएँ जल का वहन करती हैं–

धर्म्यं यशस्यं च वदाम्यतोऽहं दकार्गलं येन जलोपलब्धिः।
पुसां यथाङ्गेषु शिरास्तथैव क्षितावपि प्रोन्नतनिम्नसंस्थाः।
एकेन वर्णेन रसेन चाम्भश्च्युतं नभस्तो वसुधाविशेषात्।
नानारसत्वं बहुवर्णतां च गतं परीक्ष्यं क्षितितुल्यमेव।। – 54/1, 2

इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण, वायु, चन्द्र एवं शंकर इन आठ देवताओं को क्रमशः पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर एवं ईशान –इन आठ दिशाओं का अधिपति समझना चाहिए। ये इन आठों दिशाओं में आठ शिराएँ हैं तथा एक नवम महाशिरा भी होती है, जिसमें जल का अथाह भण्डार मिलता है –

दिक्पतिसंज्ञा च शिरा नवमी मध्ये महाशिरानाम्नी।
एताभ्योऽन्याः शतशो विनिःसृता नामभिः प्रथिताः।। – 54/4

बृहत्संहिता में जीव संकेतकों के निदर्शन द्रष्टव्य हैं –

1. जामुन के पेड़ के पूर्व दिशा में यदि बाँबी हो, तो उसके दक्षिण में तीन हाथ खोदने से दो मनुष्य की ऊँचाई अर्थात् 12 फुट की खुदाई करने पर मीठा जल निकलेगा –

जम्बूवृक्षस्य प्राग्वल्मीको यदि भवेत् समीपस्थः।
तस्माद्दक्षिणपार्श्वे सलिलं पुरुषद्वये स्वादु।। – 54/9

2. यदि किसी वृक्ष के नीचे मेंढक दिखाई दे तो उस वृक्ष का उत्तर दिशा में एक हाथ छोड़कर सादे बाइस हाथ नीचे जमीन पर पानी निकलेगा –

सर्वेषां वृक्षाणामधः स्थिरो दर्दुरो यदा दृश्यः।
तस्माद्धस्ते तोयं चतुर्भिरर्धाधिकैः पुरुषैः।। – 54/31

इस प्रकार के बीसीयों bio indicators अथवा जीव संकेतकों का वर्णन बृहत्संहिता में प्राप्त होता है, किन्तु यहाँ केवल दो का उदाहरण प्रस्तुत किया गया। Water purification अथवा जल शुद्धिकरण के उपाय भी आचार्य के पर्यावरण बोध को दर्शित करते हैं –

अंजनमुस्तोशीरैः सराजकोशातकामलकचूर्णैः।
कतकफलसमायुक्तैर्योगः कूपे प्रदातव्यः।। – 54/121
कलुषं लवणं विरसं सलिलं यदि वा शुभगन्धि भवेत्।
तदनेन भवत्यमलं सुरसं सुसुगन्धि गुणैरपरैश्च युतम्।। – 54/122

अर्थात् अंजन, मोथा, वड़, राजकेशर, आँवला, निर्मली ये सभी समान मात्र में मिलाकर चूर्ण बनाकर कुएँ में डालने से जल शुद्ध होता है। जिस कुएँ का पानी दूषित, कड़ुआ, नमकीन अथवा विचित्र स्वाद वाला हो, दुर्गन्धयुक्त हो अथवा हानिकारक गैस की गन्ध कुएँ से आए, तो उस कुएँ में 15-20 किलो उपर्युक्त चूर्ण डाल देने से पानी साफ तथा निर्मल स्वाद वाला मीठा हो जाएगा।

वृक्षायुर्वेद – यह अध्याय तो पूर्णतया पर्यावरण बोध एवं संरक्षण से सम्बन्धित है। आचार्य जलाशयों के निकट वृक्षारोपण की आवश्यकता बताते हैं –

प्रान्तच्छायाविनिर्मुक्ता न मनोज्ञा जलाशयाः।
यस्मादतो जलप्रान्तेष्वारामान् विनिवेशयेत्।। – 55/9

इस अध्याय में वृक्ष योग्य भूमि का लक्षण, वाटिका में लगाने योग्य वृक्षों का वर्णन, कलम लगाने का प्रकार, वृक्षारोपण काल, वृक्षारोपण के नियम, सिंचन के प्रकार, वृक्षों के रोग, चिकित्सा, संवृद्धि के उपाय, बीजवपन, उपयुक्त नक्षत्र आदि का सुविस्तृत वर्णन आचार्य वराहमिहिर की बृहत्संहिता में पर्यावरण बोध का सुन्दर निदर्शन है।

देवालय वास्तु में पर्यावरण बोध

आचार्य ने प्रासादलक्षणविचार में स्पष्ट किया है कि बहुत जल से युक्त जलाशय का निर्माण कर तथा वृक्षवाटिका लगाकर अपने यश एवं धर्म की अभिवृद्धि के लिए देव मन्दिर बनाना चाहिए –

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान् विनिवेश्य च।
देवतायतनं कुर्याद् यशोधर्माभिवृद्धये।। – 56/9

देवालय कहाँ बने, इस विषय में आचार्य ने स्पष्ट किया कि प्राकृतिक या कृत्रिम जलाशय एवं उपवन के समीप देवता रहते हैं –

सलिलोद्यानयुक्तेषु कृतेष्वकृतकेषु च।
स्थानेष्वेतेषु सान्निध्यमुपगच्छन्ति देवताः।। – 56/3

वन, नदी, पर्वत, झरनों के निकटवर्ती स्थानों तथा वाटिकाओं से सुसम्पन्न नगरों में देवता निवास करते हैं –

वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च।। – 56/8

इस प्रकार सहज ही प्रतिपादित होता है कि आचार्य वराहमिहिर बृहत्संहिता में विवेचित अपने वास्तुशास्त्रविषयक

ज्ञान में पर्यावरण बोध एवं संरक्षण को विशिष्ट महत्त्व दिया है। आधुनिक काल का मानव नूतन वास्तुशास्त्र (Architecture) पढ़ने के साथ यदि प्राचीन भारतीय वास्तुविद्या के सिद्धांतों का सम्यक् ज्ञान ग्रहण किया जाए तो वर्तमान विश्व में पर्यावरण बोध के साथ नूतन निर्माण होंगे। प्राचीन भारतीय वास्तुविद्या की भव्यता एवं प्राकृतिक संतुलन की योग्यता निस्संदेह मार्गदर्शक है और बृहत्संहिता इसी परंपरा का एक उत्तम ग्रंथ है जिस पर शोध कार्यों की अधिक अपेक्षा है।

सह आचार्या, संस्कृत विभाग,
कमला नेहरू महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email - sarsha2@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. Dr. V. Gauri Suresh- "https://esamskriti-com/essays/pdf/Water:20conservation:20by:20V-:20Gouri:20Suresh-pdf-" 15 January 2021- www-esamskriti-com, Bhavan's Journal- English- 28 December 2021- https://esamskriti-com/essays/pdf/Water%20conservation%20by%20V-%20Gouri%20Suresh-pdf
2. JSR Prasad. "Concepts of Environment and Nature in Ancient India-" September 2015- www-researchgate.net. English. 28 12 2021- https%//www-researchgate-net/publication/316552338_Concepts_of_Environment_and_Nature_in_Ancient_India
3. सुरकांत झा, *बृहत्संहिता, भाग -1,* वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2008
4. सुरकांत झा, *बृहत्संहिता, भाग -2,* वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2008
5. प्रो रामचन्द्र पाण्डेय, संस्कृत वाङ्मय का बृहद इतिहास, ज्योतिष शस्त्र, षोडश खंड, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

डॉ. जितेन्द्र कुमार

शब्दानुशासन (मुष्टिव्याकरण) में तात्कालिक समाज का चित्रण

किसी भी व्याकरण में तात्कालिक प्रयोज्यमान शब्दों का संकलन होता है। इन शब्दों के अध्ययन द्वारा तात्कालीन विभिन्न परिस्थितियों अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आर्थिक दशाओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मलयगिरिशब्दानुशासन में उदाहरण एवं प्रत्युदाहरणों के रूप में प्राप्त शब्दों का विश्लेषण तात्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। शब्दानुशासन के तद्धित प्रकरण में 5 पाद खण्डित हैं अर्थात् अनुपलब्ध हैं। तद्धितान्त शब्द किसी भी समाज के चित्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं अतः प्राप्त व्याकरण के आधार पर तात्कालिक परिस्थितियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

राजनैतिक दशा

आचार्य मलयगिरि ने अपने सूत्र और उदाहरणों में अनेक जनपदों, देशों, नगरों का उदाहरणों द्वारा उल्लेख किया है; जिससे तात्कालिक राजनैतिक स्थिति का ज्ञान होता है।

जनपदः-

अङ्ग- शिवराम आप्टे के अनुसार यह अङ्गदेश गङ्गा के दक्षिणी तट पर स्थित था इसकी राजधानी चम्पा थी। वर्तमान में भागलपुर (बिहार) से इसकी समानता बतायी गई है। (स.हि.को. पृ.9) अङ्ग देश में होने वाला आङ्गकः (अङ्गेषु भवः आङ्गकः वुञ् प्रत्यय त. 10.29)

बङ्ग- इसी प्रकार बङ्गेषु भवः बाङ्गकः (त. 10.29) प्रसिद्ध प्राचीन जनपदों में से एक बङ्गाल का पश्चिमी भाग बङ्ग देश था।

कलिङ्ग- यह जनपद पूर्वी समुद्रतट पर था । **न अहं कलिङ्गान् जगाम, कः कलिङ्गान् जगाम? कः कलिङ्गान् ददर्श ? न अहं कलिङ्गेषु अतिष्ठम् (कृ.3.26)**

कम्बोज-हिन्दुकुश पर्वत के उत्तर पूर्व में कम्बोज देश स्थित था। आधुनिक पामीर और वदख्शाँ का सम्मिलित प्राचीन नाम कम्बोज था (पा.का.भा. पृ.60)। यहाँ मुण्डन की परम्परा मुख्यरूप से प्रचलित थी। **कम्बोज मुण्डः** (ना.8.49)

मगध -गङ्गा नदी के दक्षिण में तथा काशी जनपद के पूर्व में यह जनपद स्थित था। (ना.7.38)। इसकी राजधानी पाटलीपुत्र थी। पाटलीपुत्र में वर्षा के विषय में वर्णन प्राप्त होता है **अप पाटलीपुत्रात् वृष्टो देवः** (ना.7.32)

कोशल- कोशल जनपद का राजा प्रसेनजित बुद्ध काल का ख्यातिप्राप्त नृपति था। उसने काशी और कौशल को एक ही शासन सूत्र में मिला दिया। **दक्षिणाः कौशलाः दक्षिणकौशलाः** अर्थात् कौशल देश के दक्षिण में रहनेवाले (ना. 8.120)।

पञ्चाल - (ना.8.47)- गङ्गा और रामगङ्गा के बीच का प्रदेश पाञ्चाल जनपद कहलाता था। यह जनपद चारों दिशाओं के आधार पर पूर्व, अपर, दक्षिण और उत्तर चार भागों में विभक्त था। **दक्षिणाः पाञ्चालाः दक्षिणपाञ्चालः।**

कुरु- कौरवकः, कौरवः कुरूदेशे भवः (त. 10.32)।

त्रिगर्त्त- वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वर्तमान

पञ्जाब का उत्तरपूर्वी भाग, जो चम्बा से कांगडा तक फैला हुआ है वहीं प्राचीन त्रिगर्त्त देश था। सतलुज, व्यास और रावी इन तीन नदियों की घाटियों के कारण इसका त्रिगर्त्त नाम पडा (पा.का.भा. पृ. 40)। **त्रिगर्त्ते भवः त्रैगर्त्तकः** (त.10.29)

मद्र- मदी हर्षे धातु से रक् प्रत्यय होकर मद्र शब्द सिद्ध होता है यह तक्षशिला के दक्षिणपूर्व में स्थित था। इसे प्राचीन वाहिक का उत्तरी भाग माना जाता है इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान में स्यालकोट) थी।[1] मद्र देश की समृद्धि प्रसिद्ध थी। मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् (ना. 8. 50)

साल्व - साल्व जनपद के निर्देश में यहाँ के बैल को साल्वकः और मनुष्य को साल्वक कहा जाता था। यहाँ यवागू- जौ की उत्पत्ति होती थी, और वह सल्विका कहलाती थी। (साल्वकः गौ, साल्विका यवागू, साल्वकः मनुष्यः, साल्वा वृहयः, साल्वः पत्तिः त.10.36)

उशीनर - मद्र के दक्षिण में स्थित वाहिक का यह एक भाग था। यहाँ आयुधजीवी संघ का शासन था।[2] महाभारत के अनुसार इसके राजा शिवी थे। यहाँ का प्रमुख पेय पदार्थ क्षीर था **क्षीरपायिणः उशीनराः** (कृ. 2.4)।

गान्धार - यह काश्कर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। रामानुज भरत ने इस देश पर विजय प्राप्त की थी। भरत के दो पुत्र थे तक्ष तथा पुष्कल। इन्हीं के नाम पर तक्षशिला तथा पुष्कलावती दो राजधानी नगरी थीं।[3] यहाँ के लोग कसैला पेय पीना पसन्द करते थे। **कषायपायिणः गान्धाराः** (कृ. 2.4)।

कौशाम्बी - यह वत्स देश की राजधानी थी जो यमुना के किनारे पर बसी थी। इसके राजा उदयन का उल्लेख संस्कृत साहित्य में प्राप्त होता है। वहाँ रहनेवालों को कौशाम्बेय कहा जाता था (त. 10.13)।

काकन्दी - उत्तर भारत की यह प्रसिद्ध प्राचीन नगरी है। भगवान महावीर के समय में जितशत्रु राजा का राज्य वर्तमान था।[4] इस देश में रहनेवालों को काकन्दकः कहा जाता था (त. 10.26)।

माकन्दी - दक्षिण पाञ्चाल के मुख्य नगरों में इसकी गणना थी। दुर्योधन से पाण्डवों के लिए कृष्ण द्वारा जिन पाँच नगरों की माँग की गई थी उनमें माकन्दी भी था।[5] वहाँ रहने वालों को माकन्दकः कहते थे (त. 10.26)।

पावा - प्राचीन समय में पावा नामक की तीन नगरीयाँ थीं, एक पावा मंगीदेश की राजधानी थी। बौद्ध साहित्य में पावा को मल्ल देश की राजधानी बताया है। दूसरी कुशिनारा की राजधानी थी। तीसरी पावा नगरी मगध जनपद में थी।[6] (त. 10.13)

इस प्रकार वाराणसी, मावा, दार्वा, सेतकी, काशी, मथुरा, किष्किन्ध आदि नगरियों के नाम भी प्राप्त होते हैं।

सामजिक स्थिति -आचार्य मलयगिरि ने अपने व्याकरण में जिस समाज का निरूपण किया है। व्याकरण में उद्धृत उदाहरणों से भी वर्ण एवं जाति व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है साथ ही खान-पान, वस्त्राभूषण, रहन-सहन, मनोरञ्जन, आचार-विचार, संस्कार, वर्ण, जाति, विवाह, गोत्र, कुल आदि सामाजिक तत्वों का ज्ञान प्राप्त होता है।

भौगोलिक परिस्थिति

*** नदी**

भारत अनेक छोटी बड़ी नदियों का देश है जिसके जल का प्रयोग पीने के लिए, सिंचाई एवं अन्य आवश्यक कार्यो के लिए किया जाता है। कुछ नदियों को धार्मिक रूप से सम्मान दिया जाता है। जिनका दर्शन, स्पर्श, स्नानादि पुण्य जनक होता है। व्याकरण में अनेक नदियों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनका विवरण इस प्रकार है-

• **दशार्णा नदी** (स. 3.16) - दश ऋणानि यस्यां सा ऋण शब्द से अभिप्राय है चारों तरफ पानी से घिरा हुआ (ऋणं तूद्धारः पर्य्युदञ्चनम् अ.चि.को. 881)। अर्थात् ऐसी भूमि जो चारों तरफ जल से घिरी हो। दशार्णा नदी से तात्पर्य हुआ दश द्वीपों वाली नदी।

• **उन्मत्तगङ्गम्** (ना.4.10)-यह गङ्गा की एक अवस्था है जब वह वर्षा ऋतु में जलाधिक्य से पूरे उफान पर होती है।

• **लोहितगङ्गम्** (ना.4.10)-वह अवस्था जब गंगा की जलधारा रक्त वर्ण जैसी प्रतीत होती हुई सुशोभित होती है।

• **तूष्णींगङ्गं देशः** (ना.8.56) - वह देश जहाँ गंगा नदी की जलधारा बिल्कुल शान्त रहती है।

• **शीघ्रगङ्गं देशः** (ना.8.56) - वह देश जहाँ गंगा नदी की जलधारा तीव्र वेगवाली होती है।

• **गंगाशोणम्** (ना.9.15)-गंगा नदी व शोण नद का

परस्पर मिलन होता है शोण नद गोंडवाना से निकल कर पटना के निकट गङ्गा में गिरती है। (सं.हि.को. पृ.1031)

• गंगायमुने (ना.9.15)-गङ्गा एवं यमुना दोनों नदी जो कि प्रयाग में मिल जाती हैं।

अनुगङ्गं वाराणसी (ना .8.52)-गङ्गा नदी के साथ साथ वाराणसी नगर बसा हुआ है।

खान-पान-

मलयगिरि के शब्दानुशासन के उदाहरणों का विश्लेषण करने पर प्रचलित भोज्यपदार्थों का भी ज्ञान होता है। मुख्य भोजन के रूप में ओदन का प्रयोग किया जाता था। ओदन पाचन की क्रिया के सरल होने के कारण यह भोजन हेतु सुलभता से प्राप्त होता है।

* **ओदन**- ओदन खाले वाले को **ओदनिकः, औदनिकः** कहा जाता था (त.9.64)। **भक्त** भी नामान्तर से ओदन का ही रूप है। भक्त खाने वाले को - **भाक्तः, भाक्तिकः** (त. 9.64)। ओदन के साथ मांस का भी भक्षण स्त्री एवं पुरुष दोनों में प्रचलित था-**मांसौदनिकः, मांसौदनिका** (त. 9.65)। ओदन भक्षण का प्राचुर्य इस उदाहरण से स्पष्ट होता है-**सर्वपात्रीणः ओदनः, सर्वशरावीणः ओदनः** (त.7.4)।

* **यवागू** - **यवागू** (दलिया) भी भोजन का मुख्य अङ्ग था। यवागू के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं- **श्राणा/श्रपिता यवागू** अर्थात् **उबला हुआ दलिया** (आ. 4.56), **मौद्गी यवागू- मुद्ग (मूँग) से बना हुआ दलिया** (त.9.3)। यवागू का संस्कार करके उसे स्वादिष्ट बना कर भी खाया जाता था-**स्वाद्वीं कृत्वा यवागूं भुङ्क्ते** (कृ. 6.27)। कुछ लोग यवागू अत्यन्त अल्प मात्रा में ग्रहण करते थे- **नखम्पचा यवागूः** (कृ.2.50)।

* **सूप- सूप** (पकी हुई दाल) भी भोजन की अङ्ग हुआ करती थी। जिसमें मूँग की दाल व्यवहार में लाई जाती थी- **पचेलिमा माषाः** (कृ.1.9)। सूप का एक प्रकार- **लवणः सूपः** (त.9.4)। सूप से उपसिक्त व्यञ्जन खाने की परम्परा थी- **सूपेन उपसिक्तः सौपिकः व्यञ्जनः** (त.9.25)।

* **अपूप- अपूप** जिसको लोकभाषा में **पूआ** कहते हैं, भी उन दिनों प्रचलन में था। ये अपूप चूर्ण (आटा) के बनाए जाते थे- **चूर्णिनः अपूपाः** (त. 9.3), अपूप खाने के स्वभाव वाले को **आपूपिकः** कहते थे (त. 9.47)। अपूप भक्षण जिसके लिए हितकारी हो, वह भी आपूपिकः कहलाता था (त.9.62)। **दधि** तो भारतीय भोजन परम्परा का अभिन्न अङ्ग सदा ही रहा है तथा मलयगिरि के समय में भी इसका प्रयोग बहुलता से किया जाता था। किसी न किसी रूप में भोजन का हिस्सा बनता है या तो विभिन्न व्यञ्जनों के साथ मिला कर खाया जाता था-**दाधिकम्** (त.9.2), अथवा दधि से व्यञ्जनों का संस्कार किया जाता था- **दाधिकम्** (त. 9.15)।

* **सर्पिः - सर्पिः** अर्थात् घृत का प्रयोग भी प्राप्त होता है। सम्भवतः नवनीत से घृतनिर्माण की प्रक्रिया के लिये **सर्पिष्करोति** (स. 5.33) शब्द का प्रयोग होता होगा। घृतपान के उदाहरण भी मिलते हैं- **सर्पिः पिबति, तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकम्** (स. 5.33)। घृत की गुणवत्ता में भी वैविध्य दृष्टिगोचर होता है- **सर्पिः, परमसर्पिः।** इन प्रकारों को रखने के लिये अलग-अलग बर्त्तन होते थे-**परमसर्पिष्कुण्डम्, बहुसर्पिष्कुण्डम्, सर्पिष्कुण्डिका।**

* **मधु - मधु** ओषधि एवं भोजन के रूप में सदा से ही प्रचलित रहा है। दो प्रकार के मधुओं का विवरण प्राप्त होता है, मक्खी द्वारा बनाया गया-**माक्षिकं मधु,** भ्रमर अर्थात् बड़ी मक्खी द्वारा बनाया गया शहद- **भ्रामरं मधु** (त.11.30)। मधु का भक्षण करने वाले को **मधुलिट्** नाम से जाना जाता था (स. 5.12)।

* **गुड - गुड** जिसे इक्षु (गन्ना) के रस से तैयार किया जाता था, को भी बडे चाव से खाया जाता था, गुड खाने वाले को **गुडलिट्** संज्ञा दी जाती थी (स.5.12)।

* **शष्कुली,** जिसे आजकल पूरी के रूप में जाना जाता है, पर्याप्त मात्रा में भोजन में शामिल की जाती थी, शष्कुली के बहुतायत वाले भोजन को शाष्कुलिकः की संज्ञा दी जाती थी (त.9.55)। **मोदक** मिष्ठानों में सदा से प्रिय रहा है। यह किसी अन्नचूर्ण, शर्करा आदि के योग से बनाया जाता है। मोदक भक्षण जिसके लिए हितकर था, उसको मौदकिकः की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। निस्वपदक देश मोदक के लिये प्रसिद्ध था। वहाँ जाकर मोदक खाने का विवरण प्राप्त होता है- **निस्वपदके वत्स्यामः तत्र मोदकान् भक्ष्यामहे** (कृ. 3.25)। शाकाहार के अतिरिक्त मांस भक्षण भी प्रचलन में था। चावल के साथ मांस का प्रचलन स्त्री व पुरुष दोनों में था। कुछ लोग निकृष्ट मांस भी खाते थे, जैसे- कुत्ते का मांस- शौवनं

मांसम् (ना.3.36)।

रोग व निदान -

मलयगिरि ने शब्दानुशासन में अनेक रोग एवं उसकी चिकित्सा के सम्बन्ध में उदाहरण दिए हैं। शरद ऋतु में होने वाला रोग **शारदः** एवं **शारदिकः** कहलाता था (त. 10.77)। मध्य काल में अनेक रोग बढ़े हुए थे जिनमें से कई ऐसे थे जो पूरे महिने तक पीड़ित करते थे, उनको **मासिकः व्याधिः** कहते थे। वात, पित्त और कफ का असन्तुलन ही शरीर में रोग का कारण बनता है। इनके कुपित हो जाने पर रोग होता है और उपशमन होने पर स्वास्थ्य। वात के निमित्त या प्रकोप से उत्पन्न होने वाला रोग **वातिकम्,** पित्त के निमित्त या प्रकोप से उत्पन्न होने वाले रोग **पैत्तिकम्,** और श्लेष्म के निमित्त या प्रकोप से उत्पन्न होने वाले रोग **श्लैष्मिकम्** कहलाते हैं। जब वात, पित्त और कफ ये तीनों प्रकोपित होते हैं तब **सान्निपातिकम्** रोग उत्पन्न होते हैं और इनके उपशमन को क्रमशः **वातिकम्, पैत्तिकम्, श्लैष्मिकम्** एवं **सान्निपातिकम्** कहते थे **(वात-पित्त-श्लेष्म-सन्निपातात् शमन-कोपने)।**[7] उत्कन्दकः अर्थात् कन्धें में होने वाला रोग (स. 5.6)।

गोत्र-

मलयगिरि ने अपने शब्दानुशासन में अनेक उदाहरणों में प्राचीन गोत्र सम्बन्धी नामों का उल्लेख किया है। शकल का अपत्य शाकल्यः, दक्ष का दाक्षी, सुतङ्गम का सौतङ्गमी, उपगव का औपगव, शलङ्क का शालङ्कायन (त. 10.57)। प्राग्वाची में चैकीयाः, पौष्पीयाः, भरतवाची में काशीयाः (त. 10.58)। वैदः, गार्गः, दाक्षः (त. 10.54)

कुल

कुल परम्परा की प्राचीन समय में अत्यन्त प्रतिष्ठा थी। प्रतिष्ठित एवं यशस्वी कुल महाकुल कहलाते थे। समाज में इस प्रकार के कुलों का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। कुलप्रतिष्ठा का मानदण्ड सदाचार, ज्ञान और सम्पत्ति के अतिरिक्त परम्परागत कार्य होते थे। यथा- जिस कुल ने वृद्धावस्था का अतिक्रमण कर दिया है- **अतिजरसं कुलम्** (ना. 1.13) जिस कुल को तीन प्रिय हों **प्रियत्रिकुलम्** (ना. 1.14), ग्राम में रहनेवालों का कुल **ग्रामणिनी कुले** (ना. 1.15), जिस कुल में चितकबरी गाएँ हों वह **चित्रगवे कुलाय** (ना. 1.15), **प्रिय सखिओं वाला कुल प्रियसखीनि कुलानि** (ना. 3.12), महान् लोग है जिस कुल में महान्ति कुलानि, श्रेष्ठ लोग हैं किस कुल में **श्रेयांसि कुलानि** (ना. 3.16), उत्तर दिशा में स्थित कुल **उदञ्ची कुलानि** (ना. 3.35), जिस कुल को कुत्ते प्रिय हैं **प्रियशुनीकुले,** युवावस्था को अतिक्रान्त कर दिया है जिस कुल ने **अतियूनीकुले** (ना. 3.36), काष्ठ का तक्षण करनेवाले हैं जिस कुल में **काष्ठतक्षिकुलानि**, बहुत उर्जावाले हैं जिस कुल में **बहूर्जि कुलानि** (ना. 1.19)।

वर्ण-

मलयगिरि ने अनेक स्थलों पर वर्ण व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला है। चार प्रकार के वर्णों का उल्लेख प्राप्त होता है-ब्राह्मण, क्षत्रिय, विट् (वैश्य) एवं शूद्र (ना. 9. 16)। ब्राह्मण को ब्रह्मभाव से युक्त माना जाता था - **ब्राह्मण पर्याये ब्रह्मत्वं, ब्रह्मता** (त. 2.39)। जो क्षत्रिय धनुर्विद्या में पारंगत होते थे एवं भलि भाँति वाण छोड़ना जानते थे उन्हें **वाणज** कहते थे (ना. 4.17)। उस समय वर्णव्यवस्था में इतनी कठोरता नहीं थी। ब्राह्मण भी क्षत्रियोचित युद्धविद्या शिखते थे एवं क्षत्रियों के समान युद्ध लड़ते (क्षत्रियाः इव क्षत्रियवत् युध्यन्ते विप्राः त.8.51) थे। कुछ ब्राह्मण उग्र स्वभाव के होते थे जो अपनी पत्नी तक को मार देते थे (कृ. 2.35)। कुछ ब्राह्मण आजीविका हेतु तेल विक्रय भी करते थे- **तैलं विक्रितवान् तैलविक्रयी ब्राह्मणः** (कृ.3.11) क्षत्रियों में युद्ध को विशेष नाम दिया जाता था **क्षत्रियजं युद्धम्** (कृ.3.8)। तात्कालिक समाज में **वणिक** बहुत ही चतुर व्यवसायी होते थे, वे वञ्चकों को भी ठग लेते थे (अ. 8.28)। **शूद्रों** का खान पान निकृष्ट होता था, वे मूषक को मारते थे- **आखुघातः शद्रः** (कृ. 2.34)। अतः उनके द्वारा प्रयोग किये गये पात्र अशुद्ध माने जाते थे। ये पात्र शुद्ध करने पर प्रयोग योग्य हो जाते थे।[8]

विवाह -

प्राचीन काल से ही विवाह एक प्रमुख संस्था है। मलयगिरि ने पत्नी अर्थ में **पाणिगृहीती, करगृहीती, पाण्याती, करात्ती** आदि शब्दों का निपातन किया है। पाणिग्रहण द्वारा पुरुष स्त्री का ग्रहण करता है और विवाह होने पर पत्नी को **पाणिगृहीती** कहा जाता था। **पाणिगृहीता** शब्द संस्कार की विधि से परिणीता स्त्री के लिए व्यवहार में आता था।[9] बहुविवाह की परम्परा प्राप्त होती है जहाँ एक पुरुष अनेक स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता था

और इसी प्रकार एक स्त्री भी अनेक पुरुषों के साथ विवाह करती थी **बहुपति, बहुपत्नी** (ना. 5.55)। जो पति अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकार से दृढ़ होते थे वे **दृढ़पति** कहलाते थे एवं इसी प्रकार **दृढ़पत्नी** भी होती थीं (ना. 5.55)। मातुल की पत्नी को **मातुलानी**, मातुली; आचार्य की पत्नी को **आचार्यानी** या **आचार्यी;** उपाध्याय की पत्नी को **उपाध्यायानी** और **उपाध्यायी** कहते थे, इसी प्रकार वरूण, इन्द्र, मृड़, भव, शर्व एवं रूद्र इन देवताओं की पत्नी **वरूणाणी, मृडानी, भवानी, शर्वाणी और रूद्राणी** नाम से प्रसिद्ध थी। जो कन्या अपनी पति के मृत्यु का कारण बनती थी उसे **पतिघ्नी** कहते थे (कृ. 2.35)। जिस पुरुष की पत्नी युवति होती थी उसे **युवजानिः** कहते थे और जिसको स्त्री प्रिय होती थी उसे **प्रियजानिः** और जिसकी पत्नी वृद्ध होती थी उसे **वृद्धजानिः** कहते हैं। वैवाहिक सम्बन्ध में निकृष्ट व्यवहार के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं **परदारान् गच्छति पारदारिकः** और गुरू की पत्नी के पास जाने वाले को **गौरूदारिकः** (त. 9.29)।

आर्थिक जीवन-

आचार्य मलयगिरि ने अनेक ऐसे उदाहरण दिए हैं, जिनसे तात्कालिक आर्थिक जीवन का पता चलता है। आर्थिक जीवन के अन्तर्गत निम्न तीन बातों को सम्मिलित किया है-कृषिव्यवस्था, पशुपालन, व्यापार और अन्य पेशा।

कृषि- पाणिनि एवं आचार्य हेमचन्द्र के समान मलयगिरि ने कृषि की उन्नति पर पूर्ण प्रकाश डाला है। मलयगिरिकालीन भारतवर्ष कृषि प्रधान देश रहा है। उनके ग्रन्थ में कृषि एवं उसके अङ्ग सम्बन्धी अनेक नाम आए हैं। मलयगिरि ने **धान्यादीनाम् उत्पत्त्याधारभूः क्षेत्रम्** (त.2.8)। अर्थात् जिसमें धान्य या फसलें उत्पन्न हों, उसे क्षेत्र/खेत कहा है। कृषि योग्य भूमि अलग-अलग खेतों में बँटी रहती थी। यथा- मूंग, इक्षु, व्रीहि, कोद्दो आदि के खेत अलग-अलग नामों से अभिहित किए जाते थे। कृषि में गन्ने की खेती भी होती थी। इक्षु सम्बन्धी निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं- **इक्षूणां क्षेत्रम्, इक्षुशाकटम्, इक्षुशाकिनम्** (त. 2.8)। धान की खेती भी होती थी। धान के क्षेत्र को व्रैहेयम्, शालेयम् (त. 2.10) कहा जाता था। चावल के एक प्रकार विशेष को **षष्टि** एवं एतत्सम्बन्धी खेत को **षष्टिक्यम्** (त.2.11)कहा जाता था। जौं के खेत को **यव्यम्, यवक्यम्** (त.2.11) कहा जाता था। उडद के खेत को **माष्यम्, माषीणम्** (त. 2.12) कहा जाता था। तिलों के खेत को **तैल्यम्, तैलीनम्** (त.2.13) कहा जाता था। हल्दी के खेत के लिये **भङ्ग्यम्, भाङ्ग्यम्, उम्यम्, औमीनम्** (त.2.13) शब्द प्रयोग किये जाते थे। इसी प्रकार **कौद्रवीणम्, मौद्गीनम्** (त.2.9), **अणूनां क्षेत्रम् अणव्यम्, आणव्यम्** (त.2.12)। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि धान्य के नाम पर खेतों का नामकरण किया जाता था।

किसान के लिये **कृषिवलः, कृषिमान्** (त.7.23) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। हल में जोते जाने वाले बैलों को हालिक एवं सैरिक कहा जाता था-**हालिकः, सैरिकः** (त.8.14)। खेत नाप-जोख के आधार पर एक-दूसरे से बँटे हुए थे। **द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः** (ना.5.35) इत्यादि उदाहरण खेत के क्षेत्रफल को सूचित करते हैं। जोती हुई भूमि को नापने की इकाई के एक प्रकार को **सीत्यम्, द्विसीत्यम्** (त. 8.28) कहा जाता था।

आचार्य मलयगिरि हल शब्द का प्रयोग कई सूत्रों में किया है- **हलस्य कर्षः हल्यः, द्वयोः हलयोः कर्षः द्विहल्यः** (त. 8.27)। डा. नेमिचन्द शास्त्री का मानना है कि एक हल की जोत के लिये पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी, इसका प्रमाण 1.5 एकड़ भूमि है। द्विहल्य का 2.5 एकड भूमि है।[10]

पशुपालन- मलयगिरि के शब्दानुशासन में उदाहरणों के रूप में अनेक पशुओं का उल्लेख हुआ है, जिनमें कुछ पालतू होते थे। पालतू पशु व्यक्ति के आर्थिक जीवन की दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। एतत्सम्बन्धी निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है- **अश्वेन सञ्चरते** (आ.2.11), **पैतृकम् अश्वा अनुहरन्ते** (आ.2.14), **साधु विक्रमते अश्वः** (आ. 2.35), **धुर्यः, धौरेयः** (त.8.10), **अश्ववडवम्** (ना.9.21), **आरोहयते हस्ती हस्तिपकान्** (आ.2.61), **गोमहिषम्, हस्त्यश्वम्** (ना.9.20), **गवाश्वम्** (ना.9.24), **हास्तिकम्** (ना.9.81), **अजथ्यम्** (ना.9.80), **उष्ट्राः, गोबलीवर्दाः, बर्कराः, छागाः,** (ना.9.11), **हालिकः, सैरिकः** (त.8.14), **शकटं वहति शाकटः गौः** (त.8.13)। इन उदाहरणों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि ये पशु व्यक्ति के आर्थिक जीवन के प्रमुख अङ्ग थे।

सहायक-आचार्य
उच्चतर शिक्षा विभाग, हरियाणा

संदर्भ सूची

1. कातन्त्र व्याकरण की विजययात्रा. पृ.1128
2. कातन्त्र व्याकरण की विजययात्रा। पृ.1126
3. वही, पृ. 1126
4. आ.हे.श.अ. पृ.13
5. वही, पृ. 15
6. वही, पृ. 14
7. म.श.त. 9.154
8. येषां भुक्तं पात्रं संस्कारेण शुध्यति ते शूद्राः। म.श.ना. 9.15
9. पाणिगृहीती इति पत्नी। (ना. 5.23)
10. नेमिचन्द्र शास्त्री, आ.हे.श.अ., पृ. 68

अन्य ग्रन्थ

* म.श.ना. मलयगिरिशब्दानुशासन नाम प्रकरण
* म.श.त. मलयगिरिशब्दानुशासन तद्धित प्रकरण
* आ.हे.श.अ. आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन एक अध्ययन
* आ. मलयगिरिशब्दानुशासन आख्यात प्रकरण
* ना. मलयगिरिशब्दानुशासन नाम प्रकरण
* त. मलयगिरिशब्दानुशासन तद्धित प्रकरण

शोध-पत्र

वैश्वीकरण : सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष

शिवपूजन प्रसाद पाठक

परिचय :

वैश्वीकरण का शाब्दिक अर्थ वैश्विक स्तर पर हो रहे परिवर्तन से है। यह एक प्रवाह द्योतक है। वैश्वीकरण एक समायोजन की प्रक्रिया है जिसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक व सांस्कृतिक पक्ष शामिल है। यह एक अवस्था भी है जिसमें किसी भी वस्तु या घटना का पूरे विश्व के अन्य वस्तुओं या घटनाओं से अन्त:क्रिया करके एक दूसरे पर प्रभाव डाल रहीं है। यह विश्व के विभिन्न भागों के लोगों को भौतिक व मनोवैज्ञानिक स्तर पर एकीकृत करने का सफल प्रयास करती है।

वैश्वीकरण

जगदीश भगवती मानते हैं कि वैश्वीकरण 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण की प्रक्रिया है। यह एकीकरण व्यापार, निवेश व श्रमिकों के प्रवाह के माध्यम से होता है'।[1] फेडरिक जेम्सन वैश्वीकरण को सांस्कृतिक बदलाव के संदर्भ में देखने का प्रयास करते हैं। जेम्सन के मत में यह एक संचारात्मक धारणा है, जो सांस्कृतिक और आर्थिक अर्थों को बदल रही है।[2] रोनाल्ड राबर्टसन का मानना है कि वैश्वीकरण एक दोहरी प्रक्रिया है जिसमें सार्वभौमिकता के साथ विशेषीकरण शामिल है। यह प्रतिरोधी धाराओं का संचालन है।[3]

केनेंची ओहमें ने वैश्वीकरण को एक 'सीमाहीन विश्व' की कल्पना की है जिसमें भौगोलिक बाधाएं अप्रासांगिक होती जा रही हैं तथा लोगों के मध्य देश काल की भिन्नता भी समाप्त हो रही है। बारबारा वार्ड ने वैश्वीकरण को एक विश्व कहा है। मैकलूहान ने वैश्वीकरण को 'वैश्विक गाँव' की संज्ञा दी। वैश्वीकरण के द्वारा एक पार-विश्व और पार-सीमा का विकास हो रहा है। जिससे लोगों के मध्य संबंध भौगोलिक क्षेत्रों के बाहर भी निर्मित हो रहे हैं। मार्टिन खोर के अनुसार वैश्वीकरण तृतीय विश्व के लिये वही है जो हम कई सदियों से उपनिवेशवाद को सुनते आ रहे हैं। वैश्वीकरण में हार-जीत की धारणा निहित है। मार्टिन अल्ब्रों का मानना है कि वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से वैश्विक समाज का निर्माण हो रहा है।

"Globalisation is the intensification of world wide social relations which link distant localities in such a way that local happening are shaped by events occurring many miles away and vice versa."[4]

वैश्वीकरण की सबसे उपयुक्त परिभाषा डेविड हेल्ड और एंथोनी मैक्ग्रिउ की लगती है। हेल्ड और मक्ग्रिउ ने वैश्वीकरण को उसके तीव्रता, विस्तार, आवेग और प्रभाव के आधार पर मापते हैं। उनके लिए वैश्वीकरण है- "a process (or set of processes) which embodies a transformation in the spatial organisation of social relations and interactions-assessed in terms of their extensity, intensity, velocity and impact- generating transcontinental or interregional flows and networks of activity, interaction and the exercise of power."[5]

इस प्रकार हम वैश्वीकरण को सामान्य शब्दों में कह सकते हैं कि 'वह प्रक्रिया है जिसमें वस्तुओं, सेवाओं, पूंजी और तकनीक का मुक्त प्रवाह होता है और एक

समाज अन्य दूसरे समाज के निकट आ रहें हैं।'

वैश्वीकरण के साथ-साथ, हमें निजीकरण और उदारीकरण को समझना होगा ताकि वैश्वीकरण के वैचारिक आधार को जाना जा सकें। वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण में अंतसंबंध है और एक ही प्रक्रिया के हिस्सा है। वैश्वीकरण अधिक व्यापक है, वहीं उदारीकरण और निजीकरण केवल उसके आर्थिक पक्ष है। वैश्वीकरण इन दोनों को वैचारिक आधार प्रदान करता है। यद्यपि वैश्वीकरण किसी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण के रूप में जाना जाता है। जो एक परिघटना है। यह उन सभी नीतियों का परिणाम है जिनका उद्देश्य है विश्व को परस्पर निर्भर और अधिक एकीकृत करना। उसके अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक सीमाओं के अतिक्रमण की गतिविधियों और नेटवर्क का सृजन होता है। वैश्वीकरण ऐसे संपर्क सूत्रों की रचना का प्रयास है जिससे मीलों दूर हो रही घटनाओं के प्रभाव भारत के घटना क्रम पर भी स्पष्ट दिखाई देता है।

एल. पी. जी. की अवधारणा को परिभाषित करने से पहले विश्व में प्रचलित आर्थिक प्रतिमानों और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के रूपों को समझना पड़ेगा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में तीन प्रकार की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था थीं जिन्हें 'समाजवादी अर्थव्यवस्था', 'पूंजीवादी अर्थव्यवस्था' व 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' के नाम से जाना जाता था। समाजवादी विचारों पर आधारित अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की बात की जाती है। राज्य अर्थव्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। निजी क्षेत्र और निजी संपत्ति न के बराबर होती है। इसकी विपरीत, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व होता है। यह अहस्तक्षेप सिद्धांत पर कार्य करती है। व्यक्तिगत उद्यमशीलता इसकी विशेषता है। इन दोनों के अतिरिक्त मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों को समान स्थान होता है। अर्थात् उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व सरकार भी रखती है और निजी उद्योगपति। शीतयुद्ध के समाप्ति के बाद, केवल पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को श्रेष्ठ मान लिया गया और पूरा विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को अपनाने लगे। इसी को नव उदारवाद के नाम से जाना जाता है। इस नव उदारवाद के मूल में एल. पी. जी. की नीति है।

उदारीकरण -

समाजवादी सिद्धांतों पर आधारित अर्थव्यवस्थाएं जब पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विशेषताओं का अपनाने लगी और सरकार का आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण कम होने लगा, तो यह प्रकिया उदारीकरण के नाम से जानी गयी। इसका विकास 'वाशिंगटन सहमति' से मान सकते है। यह संरचनात्मक समायोजन का हिस्सा है। उदारीकरण में आर्थिक गतिविधियों के प्रतिबंधों को दूर कर अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को मुक्त करने की नीति है। आर्थिक उदारीकरण आर्थिक नीति के रूप में राज्य की बाजार में न्यूनतम भूमिका चाहती है। अर्थात् राज्य का आर्थिक गतिविधियों पर न्यूनतम नियंत्रण है। भारत में औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली, आयात निर्यात नीति, तकनीक उक्षयन, राजकोषीय और विदेशी निवेश नीतियों में उदारीकरण 1980 के दशक में ही आरम्भ की गई। किन्तु 1991 में आरम्भ की गई सुधारवादी नीतियों कहीं व्यापक थी।

निजीकरण

उदारीकरण के तहत निजीकरण भी आता है। इसका तात्पर्य है कि किसी सार्वजनिक उपक्रम के स्वामित्व या प्रबंधन का सरकार द्वारा त्याग करना। सरकारी क्षेत्र की कम्पनियों को निजी क्षेत्र की कंपनियों में दो प्रकार से परिवर्तित किया जा सकता है।

क- सरकार का सार्वजनिक कंपनी के स्वामित्व और प्रबंधन से बाहर होना।

ख- सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों को सीधे निजी स्वामित्व में दे दिया जाये।

किसी सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों द्वारा जनसामान्य को इक्विटी बिक्री के माध्यम से निजीकरण को विनिवेश कहा जाता है। सरकार के अनुसार इस प्रकार की बिक्री का मुख्य ध्येय वित्तीय अनुशासन बढ़ाना और आधुनिकीकरण में सहायता देना है। निजीकरण इस सिद्धान्त पर आधारित है कि निजी पूंजी और प्रबंधन क्षमताओं का उपयोग इन सार्वजनिक उद्यमों के निष्पादन को सुधारने में प्रभावोत्पादक सिद्ध होंगे। ऐसा अर्थशास्त्र में माना जाता है कि निजीकरण से प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के अंतर्वाह को बढ़ावा मिलता है। इसके माध्यम से सार्वजनिक उपक्रमों को प्रबंधकीय निर्णयों में स्वायत्तता प्रदान कर उनकी कार्यकुशलता को सुधारने का प्रयास किया जा रहा है। उदारीकरण और निजीकरण के बाद, वैश्वीकरण की धारणा को और व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास करते हैं।

वैश्वीकरण की विशेषताएं :

प्रसार/विस्तार

वर्तमान समय में, मानव के संबंधों का विस्तार हुआ है। व्यक्ति राज्यों के बाहर अपने विस्तारित किया है। इसका प्रमुख कारण सूचना और संचार की क्रांति है। वैश्वीकरण का प्रसार व्यापक हुआ है। विश्व के प्रत्येक भाग में वैश्विक विचारों का प्रभाव है। विश्व की एक घटना विश्व के दूसरे कोने के जीवन को प्रभावित कर रही हैं। उदाहरण के लिए गृह युद्ध ईराक में चल रहा है। शिया-सुन्नी संप्रदायों के बीच लड़ाई है। लेकिन भारत की विदेश नीति और घरेलू दोनों पक्षों प्रभावित हो रही है। ईराक में कार्य करने वाले भारतीय नागरिक वहां फंसे हुए हैं और शिया-सुन्नी के विवाद को लेकर लखनऊ में प्रदर्शन हो रहा है।

तीव्रता

सूचना तथा यातायात के तकनीक विकास ने आवागमन को सहज और सरल बनाया है। जिसके कारण व्यक्ति असानी से विदेशों में आवागमन कर रहा है। आज के संदर्भ में व्यक्ति की रुचि केवल अपने देश के विषयों में ही नहीं है, बल्कि संसार के अन्य देशों के संस्कृतियों, इतिहासों व राजनीतिक व आर्थिक परिस्थितियों को निकट से देखना चाहता है। इसके लिए वह आवागमन करता है। इससे संबंधों में निकटता के साथ तीव्रता भी आयी है।

अन्तःनिर्भरता

वर्तमान समय में एक देश दूसरे देश पर निर्भर है। कोई अपने आप में पूर्ण आत्म निर्भर नहीं है। अपनी राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए अन्य राष्ट्रों का सहयोग आवश्यक है। वैश्विक अर्थव्यवस्था में एक व्यापार नियम, एक निवेश नियम व प्रतिस्पर्धा के बात की जा रही है। इसके कारण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था वैश्विक अर्थव्यवस्था के अभिशासन से जुड़ी है। दूसरों शब्दों में, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएं स्वयं में स्वतंत्र नहीं है। इसी प्रकार, समाजों की संस्कृतियां, मूल्य व विचार भी एक-दूसरे प्रभावित है।

अन्तःसंयोजकता

सूचना और संचार के तकनीक के विकास के कारण व्यक्ति तथा समूह अंतःसंयोजित है। राज्य की सीमाएं इसे नियंत्रित नहीं कर सकती हैं। इस संयोजन में राज्य की भूमिका सीमित है। वैश्विक विषय जैसे आतंकवाद, वैश्विक तापन, विश्वबैंक के मुद्दे और विश्वव्यापार से जनित समास्याएं पर दुनिया के लोग स्वतः जुड़े रहे हैं। इससे एक वैश्विक नागरिक समाज को आधार मिल रहा है। इनके जुड़ाव में निर्णय कारक अंतःसंयोजकता ही है।

वैश्वीकरण धारणा से उत्पन्न विवाद

वैश्वीकरण के लेकर कई विवाद हैं।

अद्यतन या पुरातन

एक विवाद यह है कि वैश्वीकरण कोई अद्यतन प्रक्रिया है या पुरातन है। अधिकतर विद्वान इसे एक अद्यतन मानते हैं।[6] इन लोगों का कहना है कि वैश्वीकरण की 1980-90 के दशक में शुरुआत हुई। इसके विपरीत विद्वानों का यह भी कहना है कि वैश्वीकरण एक प्राचीन प्रक्रिया है। मानव समुदाय अपने उत्पत्ति के साथ अपने विचारों, संस्कृतियों और व्यापार के माध्यम से एक दूसरे से संपर्क में रहा है। उदाहरण के लिये बौद्ध धर्म का प्रचार पूर्वी और दक्षिणी पूर्वी एसिया में होता रहा है। सिल्क मार्ग से व्यापार भी इस बात को सिद्ध करता है कि वस्तुओं का प्रवाह सदियों से होता रहा है। ऐसा कहा जाता है कि सूचना और क्रांति ने इस प्रक्रिया में तीव्रता ला दिया है।

पश्चिमीकरण या वैश्विक सहभागिता

दूसरा विवाद है कि क्या वैश्वीकरण पश्चिमीकरण की प्रक्रिया है या इसमें वैश्विक सहभागिता है।[7] वैश्वीकरण को पश्चिमीकरण या अमेरिकीकरण मानने वाले विद्वान मूलतः वैश्वीकरण के आलोचक है। इनका मानना है कि वैश्वीकरण से उन देशों का अधिक लाभ मिल रहा है जो पूंजी से संपन्न और तकनीक रूप से विकसित है। अर्थात् विकसित देश इससे अधिक लाभान्वित हो रहे हैं। इसके परिणाम में विकसित देशों की संस्कृतियों और मूल्यों का भी प्रभाव बढ़ रहा है। इसके विपरीत मत हैं कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया में पूरा विश्व शामिल है। स्थानीय संस्कृतियों और मूल्यों को भी बढ़ावा मिल रहा है।

बहुआयामी या एकआयामी

तीसरा विवाद है क्या वैश्वीकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है या एकआयामी। लोगों का मत है कि वैश्वीकरण अपने वास्तविक स्वभाव में एक आर्थिक प्रक्रिया है। सभी देशों में वैश्वीकरण आर्थिक गतिविधियों के माध्यम से ही पहुंचा है। इसके अलग, वैश्वीकरण को बहुआयामी प्रक्रिया माना जाता है। इसमें आर्थिक पक्ष के अतिरिक्त राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीक पक्ष भी है।

भूमंडलीकरण के आयाम

वैश्वीकरण के आयाम को हम उसके परिभाषा से ही भाप सकते हैं क्योंकि कुछ परिभाषायें आर्थिक पक्ष पर बल देती हैं, तो कुछ उसके सामाजिक सांस्कृतिक पहलुओं की चर्चा करती है। इसी के आधार पर हम वैश्वीकरण के आयामों की रूपरेखा खींच सकते हैं।

आर्थिक आयाम

वैश्वीकरण का सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव आर्थिक रूप में ही दिखता है। इसलिए कभी-कभी आर्थिक वैश्वीकरण को ही वास्तविक भूमण्डलीकरण मान लिया जाता है। आर्थिक वैश्वीकरण से आशय उस प्रक्रिया से है जिसमें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था विश्व अर्थव्यवस्था से एकीकृत हो रही है। यह एकीकरण व्यापार, निवेश, श्रमिकों के माध्यम से हो रहा है। आर्थिक दृष्टि से दुनिया की कोई भी अर्थव्यवस्था आज पूर्णत: विश्व अर्थव्यवस्था से अलग थलग नहीं रह सकती। वस्तुओं का मुक्त आदान-प्रदान हो रहा है। प्रत्येक देश का दूसरे देश के साथ जटिल आर्थिक संबंध निर्मित हुए हैं।

आर्थिक वैश्वीकरण इस मान्यता पर टिकी है कि पूरा विश्व एक बाजार है। 'तुलनात्मक लागत' सिद्धान्त के आधार पर कार्य करता है। व्यापार और निवेश के निर्बाध प्रवाह से पूरे विश्व में आर्थिक संवृद्धि होती है। विदेशी व्यापार के सुगम करने के लिए एक विनिमय दर स्थापित किया जा रहा है। आयात शुल्क, वस्तुओं के आयात पर मात्रात्मक प्रतिबंध व आद्यौगिक नीतियों में व्यापक बदलाव किया गया है। इसे ही विकासशील देश में संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के नाम से जाना जाता है।

सांस्कृतिक आयाम

भूमण्डलीकरण का सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्ष भी है। वर्तमान समय में, एक देश की सभ्यता, संस्कृति तथा मूल्य, वेशभूषा सिनेमा, खान-पान दूसरे देश को व्यापक रूप से प्रभावित कर रहे हैं। लोग एक दूसरे के संस्कृतियों को अपना रहे हैं। निश्चित रूप से, इसमें पश्चिमी सभ्यता का प्रभुत्व अधिक है। विकासशील देशों में पश्चिमी देशों की सांस्कृतियॉ के प्रति एक आर्कषण है। विश्व में इस संस्कृति के द्वारा वैश्विक उपभोक्ता वस्तु का निर्माण हो रहा है। सांस्कृतिक रूप में इसे मैक्डोनाल्डाइजेशन भी कहते हैं। इन सांस्कृतियों के आपसी मिलन में टकाराहट भी है जिसे सैम्युल हंटगिंटन ने 'सभ्यता का संघर्ष' को नाम दिया है। विभिन्न देशों के सांस्कृतियों के वैश्वीकरण से स्थानीय और क्षेत्रिय विविधता समाप्त हो रही है। इससे एक सपाट दुनिया का निर्माण हो रहा है। वैश्विक ब्रॉड बाजारों में उपलब्ध है।

राजनीतिक आयाम

राजनीतिक दृष्टिकोण से वैश्वीकरण को राज्य के अधिकार, नागरिकता व संप्रभुता में हुए परिवर्तन से समझ सकते हैं। सबसे पहले राज्य की संप्रभुता की अवधारणा में बदलाव आया है। आज राज्य को उतना संप्रभु नहीं मानते क्योंकि बहुत सारी गतिविधियां राज्य के नियंत्रण से बाहर हैं। राज्य के शक्तिशाली संस्था होने का कारण था उसका सूचना पर एकाधिकार था। उदाहरण के लिए, पहले हमें कोई संदेश विदेश भेजना होता था, तो राज्य ही एक मात्र साधन था। आज सूचना और संचार के साधनों के माध्यम से व्यक्ति निजी स्तर पर भी विदेशों में रह रहे व्यक्ति अपने सूचना का अदान-प्रदान कर ले रहा है। इसी प्रकार नागरिकता की अवधारणा भी है। परंपरागत रूप में कोई व्यक्ति एक समय एक ही देश का नागरिक हो सकता था। आज तमाम देशों में दोहरी नागरिकता प्रदान की जा रही है। व्यक्ति सेवाओं या पूंजी निवेश के कारण विदेशों में आवागमन व प्रवास करता है। ऐसी स्थिति में, यदि राज्य नागरिक के हैसियत से कुछ अधिकार या सुविधा नहीं प्राप्त होगी तो निवेश नहीं करना चाहेगा। भारत ने भी गैर-नागरिक भारतीय और प्रवासी भारतीयों को नागरिकों जैसी अधिकार प्रदान करने की कोशिश की है।

ऐसा भी कहा जाता है कि वैश्वीकरण से प्रजातंत्र, मानवाधिकार, सुशासन जैसे राजनीतिक आदर्शों का व्यापक प्रसार हुआ है। साथ ही साथ, लोगों के आपस में जुड़ने से एक वैश्विक नागरिक समाज का निर्माण हो रहा है। विश्व नागरिकता की संकल्पना डेविड हेल्ड ने प्रस्तुत की है। और उनके अनुसार विश्व में एक अंतर्राष्ट्रीय नागरिक समाज का निर्माण हो रहा है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्य का केन्द्रीय महत्व कम हो रहा है। क्योंकि व्यापार और वाणिज्यिक गतिविधियों राज्यों के मध्य बजाय परस्पर बहुराष्ट्रीय वाणिज्यिक कम्पनियों के मध्य हो रही है। इसलिए सम्प्रभुता के परम्परागत संकल्पना में भी परिवर्तन हो रहा है। बहुस्तरीय शासन का उदय है।

माना जाता है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया नें राष्ट्र राज्य के सामने चुनौती प्रस्तुत कर दी। ऐसा कहा जाता है

कि गैर-राज्य के कर्ताओं ने राज्य की भूमिका और शक्तियों को कम कर दिया है। गैर-राज्य कर्ता में विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन व आतंकवादी संगठन जैसे संगठन शामिल हैं। बाजारीय व्यवस्था अपनाने के कारण इन अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय और आर्थिक संस्थाओं का व्यापक हस्तक्षेप बढ़ गया। इसके अतिरिक्त चरमपंथी संगठन जैसे तालिबान, अलकायदा भी राज्य के संप्रभुता को चुनौती प्रस्तुत कर रहे हैं। वैश्वीकरण के प्रभाव से क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण हो रहा है। यूरोपीय संगठन, एशियान, ब्रिक्स जैसे संगठनों को उभारने में वैश्वीकरण का बहुत बड़ा सहयोग रहा है।

तकनीकी आयाम

वैश्वीकरण का तकनीकी आयाम कोई वास्तव में उस तरह का आयाम नहीं है जिस प्रकार अन्य आयामों की चर्चा की गयी है। लेकिन वैश्वीकरण के विचारों का मुख्य वाहक तकनीक ही है। वैश्वीकरण की गतिशीलता को तीव्र करने में तकनीक विशेषकर सूचना, संचार और यातायात के साधन ही हैं। यहां यह ध्यान देना आवश्यक है कि वैश्वीकरण का प्रसार और तकनीक का विकास दोनों एक स्वतंत्र प्रक्रिया है। दोनों का अपना अलग-अलग अस्तित्व और अलग-अलग अवस्थाओं से होकर गुजरी है। इनमें कोई आपसी अंत:निर्भरता नहीं है। लेकिन वर्तमान समय में दोनों एक दूसरे के पूरक बने हुए हैं। इसलिए तकनीक आयाम भी वैश्वीकरण का एक पक्ष बनकर उभरता है।

यदि वर्तमान समय को एक वैश्विक गांव कहा जाता है तो तकनीक की मुख्य भूमिका है। परिवहन के सस्ते तथा तीव्रगामी साधन उपलब्ध हो जाने से वैश्विक प्रवाह तेज हुआ है। संचार क्रान्ति के सहयोग से विनिर्मित उत्पादों के विषय में जानकारी आसानी से उपभोक्ताओं के पास तक पहुंच रही है। इलेकट्रानिक और प्रिंट मीडिया ने की पहुंच विश्व के कोने-कोने में है। इसका लाभ यह है कि राज्य पर निर्भरता कम करते हुए व्यक्ति स्वयं अन्य देश के नागरिकों से जुड़ रहा है।

परिभाषा, विशेषता, आयाम और वैचारिक विवाद के समझने के बाद हम सामान्य शब्दों में वैश्वीकरण की निम्नलिखित विशेषताएं हो सकती हैं:-

• यह एक बहुआयामी प्रक्रिया है जो मानव गतिविधियों के सभी रूपों में व्यक्त होती है। चाहे उसका रूप राजनीतिक हो, आर्थिक हो या फिर सांस्कृतिक।

• वैश्वीकरण परिवर्तन की प्रक्रिया है। यह परिवर्तन राज्य के नागरिकता, उसके संप्रभुता और सामाजिक संबंधों में प्रदर्शित हो रहा है; व्यापार और पूंजी प्रवाह के गतियों में हो रहा है।

• वैश्वीकरण को तीव्रतर करने में सूचना और संचार तकनीक का अभूतपूर्व योगदान है। दूसरों शब्दों में, सूचना और संचार की क्रांति ही वास्तव में वैश्वीकरण का वाहक है। सूचना और यातायात साधानों के कम लागत से व्यापार का बढ़ावा, लोगों के बीच आवागमन और सूचनाओं का प्रसार तीव्र हुआ है।

• वैश्वीकरण की प्रक्रिया मानव समाज के लिए नया नहीं है। सदियों से मानव अच्छा जीवन की खोज में प्रवासन करता रहा है। इसके अतिरिक्त, वह अपना वाणिज्य और व्यापार, धर्म और विचार का प्रसार करता रहा है। उदाहरण के लिए इसाई, मुस्लिम और बौद्धधर्म व हिन्दू धर्म को प्रसार भी वैश्वीकरण ही है।

• लेकिन वर्तमान वैश्वीकरण मानव इतिहास के लिए अभूतपूर्व है क्योंकि विश्व के लोग इतना अधिक परस्पर निकट कभी नहीं आये थे और न ही व्यापार या विचार का इतना व्यापक प्रसार हुआ था। इस अद्यतन वैश्वीकरण की विशेषता है-तीव्रता, व्यापक विस्तार, अतंसंयोजकता और अंत:निर्भरता।

• वैश्वीकरण की दिशा एकपक्षीय और सीधी गतिशीलता में नहीं है। इसमें वैश्वीकरण के साथ स्थानीयकरण, एकीकरण के साथ विखंडन, समरूपता के साथ विभेदीकरण, विलय के साथ अधिग्रहण शामिल है।

• समय के दृष्टिकोण से वैश्वीकरण आधुनिकता के युग में है। इसे आधुनिकता का परिणाम माना जाता है।

वैश्वीकरण के व्यावहारिक पक्ष को जानने के लिए हमें इसके प्रभावों को समझना होगा। विश्व के सभी देश अपने सामर्थ्य के अनुसार किसी न किसी देश से अपने संबंध बनाने का प्रयत्न करते हैं। इन संबंधों में अपने पड़ोसी देशों और महाशक्तियों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। संबंधों के बनने या टूटने का आधार देशों के अपने राष्ट्रीय हित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को स्थापित करने के लिएं राज्य को कई साधन अपनाने पड़ते है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थव्यवस्था के विषय इन्हीं अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर आधारित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर वैश्वीकरण के प्रक्रिया से क्या प्रभाव हो रहा है? विकसित और विकासशील देश वैश्वीकरण को कैसे देखते हैं? इसी के आधार पर व्यवहारिक पक्ष को जाना जा सकता है।

वैश्वीकरण के प्रभाव संबंध तीन मत

किसी भी वस्तु, तकनीकि, विचार, या फैशन के आगमन से कभी भी समाज व व्यक्ति पर समान प्रभाव नहीं पड़ता है। असमान प्रभाव के कारण विचारों में मतभेद उत्पन्न होते हैं। वैश्वीकरण के प्रभाव भी इसी के उदाहरण हैं। राजनीतिक वैश्वीकरण के प्रभाव के लेकर विद्वानों के मतों में अन्तर है।

वैश्विकवाद

वैश्विकवाद के प्रमुख समर्थकों में हेन्ड्रिक स्प्रट, केंनेची ओहेम, बॉब जोसप व सुजान स्ट्रेंज आती हैं।[8] इस वाद का सार है कि राज्य अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य कर्ता नहीं है। उसका स्थान क्षेत्रीय संगठन और बाजार ने लिया है। वस्तुओं, पूंजी, सेवाओं के प्रभाव पर अब राज्य का पूर्ण नियंत्रण नहीं है। वैश्वीकरण एक नवीन धारणा है जिसने राज्य की सीमाओं का अंत कर दिया है। इसके कारण राज्य की क्षमता यानी सरकारों की कार्यक्षमता व उसकी भूमिका को प्रभावित हुई है। कल्याणकारी राज्य की धारणा के कमजोर पड़ने तथा न्यूनतम राज्य की सोच से अहस्तक्षेप नीति को बढ़ावा मिला जिससें राज्य की भूमिका सीमित हो गयी। इसे बाजारीकरण के युग में आर्थिक और सामाजिक प्राथमिकताओं को बाजार निर्धारित कर रहा है।

संशयवादी

यदि विचारधारा के दृष्टिकोण से देखें तो संशयवादी लोग यथार्थवादी कहलाते हैं। इनका कहना है कि राज्य के भूमिका और शक्तियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। राज्य का मुख्य कार्य सुरक्षा प्रदान करना व विधि व्यवस्था बनाये रखना था। यह कार्य राज्य आज भी कर रहा है। यह भी माना जाता है कि सूचना और तकनीक के विकास ने राज्य के स्थिति को मजबूत किया है। आज राज्य के पास यह सूचना हो सकती है कि किस व्यक्ति के पास कितना धन है, उसकी भौगोलिक स्थिति कहां हैं? वह किस क्या बात करता है? उसके पत्र राज्य को द्वारा पठनीय है। इस वाद के प्रमुख समर्थक पॉल हिस्ट, ग्राहम थाम्पसन, राबर्ट गिलपिन, स्टीफन क्रेजनर लिंडा वेस है।[9] इनका कहना है कि वैश्वीकरण कोई नया नहीं है। आज भी अधिकतर सामाजिक और आर्थिक गतिविधियां क्षेत्रीय है, न कि वैश्विक।

रूपान्तरणवादी

वैश्वीकरण के समर्थक और विरोधी अतिवादी तर्क प्रस्तुत करते हैं। अतः रूपान्तरणवादी/परिवर्तनकारियों ने एक मध्यम मार्ग व संतुलित दृष्टिकोण का विकास किया जिसके अनुसार वैश्वीकरण के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पक्ष हैं। वैश्वीकरण के इस युग में अन्तर्निर्भरता में वृद्धि हुई है। वस्तुएं एवं उत्पाद व वित्त का पूरे विश्व में आदान-प्रदान हो रहा है। राष्ट्र-राज्यों की केन्द्रीय स्थिति वास्तव में प्रभावित हुई है। विश्व में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के द्वारा विश्व का 30 प्रतिशत व्यापारिक आदान-प्रदान हो रहा है। इसलिए यह सत्य है कि पार-बहुराष्ट्रीय संबंधों में वृद्धि हुई है। भूमण्डलीकरण का एक पक्ष आय भी है। आंकड़ें बताते हैं कि इसके लाभ सभी देशों को समान रूप में प्राप्त नही हो रहे हैं।

इस वाद के प्रमुख समर्थक ससकिया सासेन है। इस मत के अनुसार वैश्वीकरण निश्चित रूप से वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों का एक प्रमुख कारण है। यह मानव इतिहास के लिए अद्वितीय है। सासेन के अनुसार वैश्वीकरण राज्य के भूमिका को बदल रहा है, न कि उसकी पुनर्स्थापित कर रहा है।[10] वैश्वीकरण आज भी राज्य के सीमाओं की भीतर ही संचालित हो रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय (वैश्विक) राजनीति

वर्तमान समय को हम वैश्वीकृत गांव मान रहे हैं। इस गांव में कुछ विचारों के स्तर पर बदलाव है। इस परिवर्तन का वैचारिक आधार वैश्वीकरण है। वैश्वीकरण के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव का मूल्यांकन करते समय सबसे बड़ा परिवर्तन राज्य और व्यक्ति के संबंधों में आया है। उदाहरण के लिये, परंपरागत ठंग से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्य की सुरक्षा, राज्य के अधिकार, राज्य के विकास की चर्चा रहती थी। जिसे कठोर राजनीति (Hard Politics) कहा जाता है। वर्तमान संदर्भ में देखें तो आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में मानव के अधिकार, मानव की सुरक्षा व मानव विकास की अवधारणाएं विमर्श के केन्द्र में है। आज विकास का मापक राज्य का आर्थिक संवृद्धि दर की धारणा पीछे रखते हुए, विकास का सूचकांक मानव के

शिक्षा व स्वास्थ्य का आधार बनाया जा रहा है। यह कहना का अर्थ यह नहीं है कि राज्य के स्तर पर विश्लेषण नहीं हो रहा है, लेकिन आज व्यक्ति पुनः अध्ययन का केन्द्र बनकर उभरा है।

दूसरा, आज का युग आर्थिक युग है। इस समय विदेश नीति में भू-सामरिक (Geo-Politics's) से अधिक महत्व भू-अर्थशास्त्र (Geo-Economics) का है। देश वित्तीय पूंजी, बाजार व नयी तकनीक की खोज में है। आज देश भूसामरिक नियंत्रण के स्थान पर प्राकृतिक संसाधनों की खोज में अधिक सक्रिय है।

तीसरा, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र में संयुक्त राष्ट्र संघ था। वैश्वीकरण के युग में राजनीति के केन्द्र विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष है। महत्वपूर्ण विषयों का निपटारा व निवारण इन्हीं संगठनों के माध्यम से होता है।

चौथा, वैश्वीकरण युग अधिक समस्याएं राज्य के मध्य न होकर राज्यों के भीतर है। शीतयुद्ध के समाप्ति के बाद राज्य हिंसा का सामना किसी बाहर राज्य से न करके अपने गृह क्षेत्र में किया है। आन्तरिक हिंसा के प्रमुख कारणों में राज्य का अपने कल्याणकारी योजनाओं से पीछे हटना भी है। नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के कारण विकासशील देशों हिंसाएं बढ़ी है।

यहां यह कह देना आवश्यक है कि इन परिवर्तनों का अर्थ यह नही है कि परंपरागत राजनीति के विषय और समाधान के साधन समाप्त हो गये हैं। यदि कोई वैश्विक संकट आता है, तो राज्यों के मध्य संघर्ष का वही स्वभाव सामने आयेगा जो शीतयुद्ध के दौरान या उसके पहले था।

अन्तर्राष्ट्रीय (वैश्विक) अर्थव्यवस्था

आर्थिक आयाम में वैश्वीकरण को प्रभाषित ही वैश्विक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में किया गया है। ऐसा कहा गया है कि वैश्वीकरण का अर्थ है 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं का वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण'। वैश्वीकरण के कारण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएं अपने आर्थिक नीतियों में व्यापक फेरबदल कर रही हैं और सीधा वैश्विक अर्थव्यवस्था से जुड़ रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय या वैश्विक अर्थव्यवस्था का अर्थ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति स्तर पर प्रचलित आर्थिक व्यवस्था के स्वरूप से है। इसमें वैश्विक वित्तीय पूंजी, विदेश-व्यापार, भुगतान-संतुलन अंतर्राष्ट्रीय ऋण तथा सहायता शामिल है। यह मुक्त व्यापार, स्वतंत्र विनिमय दर तथा खुला पूंजी निवेश व सेवाओं के सिद्धांत पर कार्य करता है।

वर्तमान अर्थव्यवस्था मुक्त व्यापार पर आधारित है। प्रतिस्पर्धी अर्थव्यवस्था है। कुछ साम्यवादी देश उत्तरी कोरिया और क्यूबा को छोड़कर लगभग सभी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मुक्त व्यापार के सिद्धांत पर ही कार्य कर रही है। इससे विश्व अर्थव्यवस्था में वैश्वीकरण हो रहा है। अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन के लिये कुछ अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय तथा आर्थिक संगठन स्थापित किये गये हैं जिसमें 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष', 'विश्व बैंक' व 'विश्व व्यापार संगठन' का नाम सामने आता है। यही संगठन विश्व अर्थव्यवस्था का संचालन व इसकी नीतियों का प्रसार कर रहे हैं।

वैश्वीकरण के प्रभाव को और स्पष्ट करने के लिए अब हम देखते हैं कि विकसित व विकासशील देश वैश्वीकरण के प्रति क्या सोच रखते हैं? लेकिन, इसको जानने से पहले वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था को नियमन करने में विश्व व्यापार संगठन को समझना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यह वह मंच है जहां पर विकसित और विकासशील देश अपने विषयों को रखते हैं, व्यापार के नियम बनाये जाते हैं जलवायु और कृषि संबंधी समझौते होते हैं आदि।

विश्व व्यापार संगठन

विश्व व्यापार संगठन एक बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली को व्यवस्थितित करने का उपकरण है जो वस्तुओं, सेवाओं, पूंजी तथा बौद्धिक संपदा का नियमन और संचालन करता है।[11] GATT का उत्तराधिकारी के रूप में 1 जनवरी 1995 से अस्तित्व में है। वर्तमान में 160 सदस्य है। कार्यालय जनेवा है। भारत इसका सदस्य है। इसका उद्देश्य में जीवन स्तर में वृद्धि करना, पूर्ण रोजगार एवं प्रभावपूर्ण मांग में बृहतस्तरीय परन्तु ठोस वृद्धि करना, वस्तुओं के उत्पादन एवं व्यापार का प्रसार करना, विश्व के संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग करना, सतत् विकास की अवधारणा को स्वीकार करना, पर्यावरण संरक्षण और उसकी सुरक्षा करना, विषय शामिल है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति करने के लिए विश्व व्यापार संगठन को बड़ी जिम्मेदारी दी गयी है। इसका प्रमुख कार्य है:

- विश्व व्यापार समझौता के बहुपक्षीय तथा बहुवचनीय समझौता का कार्यान्वयन, प्रशासन एवं परिचालन हेतु सुविधाएं प्रदान करना।

• व्यापार और प्रशुल्क से संबंधित किसी भी भावी विषय पर सदस्यों के बीच विचार विमर्श हेतु एक मंच के रूप में कार्य करना।

• विवादों के निपटारे से संबंधित नियमों और प्रक्रियाओं को प्रशसित करना।

• वैश्विक आर्थिक नीति निर्माण में अधिक सामंजस्य भाव लाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक में सहयोग करना।

• विश्व के संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करना

विश्व व्यापार संगठन में मुख्यतया 7 प्रकार के समझौते हैं।

• कृषि संबंधी समझौता (Agreement on Agriculture)

• सेवाओं से संबंधित समझौता (General Agreement on Trade Services)

• व्यापार से संबंधित प्रबंधन का समझौता (Trade Related Intellectual Managements)

• व्यापार से संबंधित बौद्धिक संपदा का समझौता (Trade Related Intellectual Property)

• वस्त्रों और रेशे पर समझौता

• गैर-कृषि उत्पाद का बाजार में पहुंचने का समझौता (Non-Agriculture Market Access)

• विवाद निवारण समिति (Dispute Settlement Body)

व्यापार से संबंधित बौद्धिक संपदा का समझौता

इसमें व्यापार चिन्ह, भौगोलिक संकेत, कापीराइट, आद्यौगिक डिजाइन, पेटेंट, लेआउट डिजाइन या इंटेग्रेटड व्यापार सरकिट आता है।

सेवाओं से संबंधित समझौता

इसमें सेवा क्षेत्र के विभिन्न रूपों को दर्शाया जाता है। जिसे मोड कहा जाता है :

Mode-1	Mode-2	Mode-3	Mode-4
भारत में रहकर विदेश में सेवा देना जैसे BPO/KPO	पर्यटन आदि जरिये जो सेवा होती है।	निवेश करना तथा लाभ कमाना	शारीरिक रूप से गमनकर विदेश में सेवा देना

कृषि संबंधी समझौता :

कृषि संबंधी विवाद में सब्सिडी आती है।

सहायता राशि (Subsidy)

ब्लु	ग्रीन	रेड	अम्बर
प्रत्यक्ष रूप से किसानों को देना	पर्यावरण संरक्षण से जुड़ी तकनीक का अनुसंधान करना	निर्यात पर देना	सिंचाई उर्वरक आदि पर देना

जैसा हमने पहले भाग में देखा कि उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण और विचारधारा के आधार पर अर्थव्यवस्थाओं का वर्गीकरण किया गया था, उसी प्रकार विकास के आधार पर भी अर्थव्यवस्थाओं का वर्गीकरण किया जाता है। ऐसी स्थिति में विश्व अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं की दो श्रेणी हैं, विकसित और विकासशील। विकसित देश आर्थिक रूप से संपन्न, तकनीकी रूप से श्रेष्ठ, राजनीतिक दृष्टिकोण से स्थिर तथा मानवीय सूचकांक के उच्च स्तर पर है। विकासशील देश आर्थिक विपन्नता, तकनीक पिछड़ापन, राजनीतिक अस्थिरता और निम्न-मानवीय सूचकांक के स्थिति में है। इन दोनों अर्थव्यवस्था पर वैश्वीकरण का प्रभाव असमान है। कुछ के लिए यह लाभदायक है और कुछ के लिए हानिकारक। वैश्वीकरण एक आधुनिक समाज की देन है। आधुनिक समाज ज्ञान पर आधारित समाज है। इस ज्ञान पर ही लोग की असमान पहुंच है। इस प्रकार, जो ज्ञान से वंचित है, वे वैश्वीकरण के लाभों से वंचित है।

विकसित राष्ट्रों की अनुक्रियाएं

विकसित राष्ट्र वैश्वीकरण को एक अवसर के रूप में देख रहे हैं। इसे आर्थिक संवृद्धि का साधन मानते हैं। मुक्त व्यापार तथा स्वतंत्र बाजार के समर्थक है। राज्य को सीमित भूमिका प्रदान करते हैं। राज्य का कार्य प्रतियोगी बाजार को बचाने में सहायता करना है। विकसित देश तकनीकी रूप से सम्पन्न राष्ट्र है। उनके पास पूंजी है। अत: निवेश के लिए नई जगह की आवश्यकता है तथा वस्तुओं की बिक्री के लिए बाजार चाहिए। कच्चे उत्पादन के साधनों का इनके पास अभाव है। बाजारीकरण के माध्यम से नये कच्चे पदार्थ प्राप्त करना चाहते हैं।

भूमण्डलीकरण का समर्थन तुलनात्मक लागत के आधार किया जा रहा है। इसके तहत उनका मानना है लागत में कमी की जा सकती है। पूंजीवाद का आधार ही

यही है कि कम लागत के माध्यम से अधिक लाभ प्राप्त करना। वैश्वीकरण के संबंध में ऐसा माना जाता है कि भूमण्डलीकरण पाश्चात्य देशों की देन है। ये विकसित राष्ट्र है। उन्हीं के विचारों का प्रचार-प्रसार है। इनके बावजूद विकसील देशो में भी भूमण्डलीकरण का विरोध हो रहा है।

विकासशील देशों की अनुक्रियाएं

विकासशील देश नवोदित राष्ट्र है। अधिकतर औपनिवेशिक शासन से पीड़ित थे। आर्थिक दृष्टि से निर्धन और तकनीक दृष्टि से पिछड़े थे। विकासशील राष्ट्रों के द्वारा भूमण्डलीकरण को आशंका की दृष्टि से देखते हैं तथा इनके स्वागत को लेकर अनिच्छुक दिखते हैं। इसके पीछे कई कारण हैं-

विकासशील देशों के पास पूंजी तकनीक कुशलश्रम का अभाव है। इसके माध्यम से वैश्विक प्रतिस्पर्धा में कायम रहना कठिन है। दूसरा विकासशील देशों के राजनीति प्रशासन नीति-निर्माण पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है। इनके अनुसार सरकार बनती और गिरती है। विकासशील देशों और विकसित देशों के बीच सांस्कृतिक टकराव उत्पन्न होता है। इससें विकासशील देशों के संस्कृति की समाप्ति का भय इनके बीच विद्यमान है। विकसित देशों के द्वारा विकासशील देशो के आन्तरिक मामले में लोकतंत्र मानवाधिकार इत्यादि के आधार हस्तक्षेप किया जा रहा है। इसके माध्यम से शासन सत्ता में परिवर्तन करने की कोशीश की जा रही है।

आर्थिक वैश्वीकरण में आर्थिक प्रवाह तो तीव्र गति से हो रहा है, लेकिन कोई आवश्यक नहीं कि यह स्वेच्छा से ही हो। विकसित देश और उनकी बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियां और निगम इसे विकासशील देशों पर थोप भी रहे हैं।

विश्व अर्थव्यवस्था में विकसित और विकासशील देशों में मध्य भेद :

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था कभी समान नहीं रही है। विकसित और विकासशील देशों के मध्य यह असमानता सदैव दिखती है। आज भी अर्थव्यवस्था असमानता पर ही आधारित है। इस असमानता को दूर करने के लिए विकासशील राष्ट्र लगातार अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के पुनः संरचना की मांग करते आए हैं। शीतयुद्ध के दौरान इसे नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (NIEO) के नाम से जाना जाता था। वह मांग वैश्वीकरण के युग में और प्रासंगिक हो गई है। विकासशील देशों का यह प्रयत्न रहा है कि अंतर्राष्ट्रीय, आर्थिक व्यवस्था, तकनीक का ज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं व संगठनों पर विकसित देशों का एकाधिकार न हो। विकासशील देशों की मांग करते हैं कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का पुनःसंरचना हो ताकि इनके अधिकारों सुरक्षित किया जा सकें। पूंजी व तकनीकी का हस्तान्तरण कृषि तथा उद्योगों के विकास के लिए अधिक सहायता मिलें।

भारत के संदर्भ में वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण

भारत में उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया आर्थिक सुधारों के माध्यम से शुरू होती है। भारतीय अर्थव्यवस्था नियोजित अर्थव्यवस्था थी। आर्थिक गतिविधियां राज्य के माध्यम से अधिक निर्धारित होती थीं। लगभग पांच दशक के बाद यह महसूस किया गया कि अर्थव्यवस्था को जिस तेज गति से विकास करना चाहिये, वैसा नहीं हो पाया। अपेक्षित लाभ नहीं हो पाया। व्यापक आर्थिक नियंत्रण रहा जिससे अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता में गिरावट बना रहा। उत्पादन का निम्न स्तर रहा। तकनीक का सही चयन और उसका उचित उपयोग नहीं हो पाया। अन्तरमुखी आर्थिक नीति ने वित्तीय तथा मौद्रिक संकट उत्पन्न कर दिया। भारतीय नेतृत्व को यह बात समझ आयी कि बिना व्यापक आर्थिक नीतियों में परिवर्तन के अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ नहीं किया जा सकता। 1991 में भारत ने एल.पी.जी. नीति को अपनाया। वर्तमान आर्थिक नीतियां बाजारोन्मुखी है।

भारत का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थव्यवस्था में भूमिका

भारत एक उभरती हुई महाशक्ति है। यह केवल किताबों में विमर्श की बात नहीं है। यह बात शक्ति के किसी भी मापदण्ड के आधार पर कहा जा सकता है। एक छोटा सा प्रमाण यह है कि 2010 में पहली बार विश्व के सभी परमाणु देशों ने भारत की यात्रा की थी। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ कि सभी परमाणु शक्ति संपन्न किसी एक देश की यात्रा की हो। यह एक संकेत है कि उभरते भारत की स्थिति को लेकर अंतर्राष्ट्रीय मंच पर एक स्वीकारोक्ति है। अब हमें देखना यह है कि क्या भारत अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर अपनी बात कह पाता है या किसी निर्णय को अपने पक्ष में कर पाता है या कोई ऐसी बात मानने के लिए

विकसित देशों और महाशक्तियों के आगे विवश तो नहीं हो जाता। महाशक्ति के यही विशेषताएं होती हैं। कोई महाशक्ति अपनी राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए किसी दूसरे देश के दबाव में आकर नहीं झुकता है। आज के स्थिति में, भारत किसी भी अंतर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी पक्ष को दृढ़ता से रखने में सक्षम है और इसकी बातों की उपेक्षा नहीं की जाती है। अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय में निर्णय-निर्माण शक्ति रखता है।

आलोचना :

वैश्वीकरण प्रक्रिया का जितना समर्थन है, उतना ही इसका विरोध और आलोचना भी है। सबसे पहले इसे पूंजीवाद का ही नया रूप माना जाता है। सैद्धांतिक रूप से पूंजीवाद पूरे विश्व को एक बाजार में परिवर्तित करना चाहता है। इसीलिए आलोचक भूमण्डलीकरण को 'भूमण्डलीकरण' कहा है। वर्तमान वैश्विक अर्थव्यवस्था विश्वव्यापी पूंजीवादी के कुछ मुख्य लक्षण हैं-विशाल तथा तीव्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाहों के कारण राष्ट्रीय मुद्राओं की डावांडोल स्थिति, कल कारखानों का घटते तुलनात्मक मुनाफे के अवसरों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय स्थानान्तरण, पूंजी के प्रसार तथा उसकी अस्थिरता के कारण श्रमिक वर्ग तथा सरकारों के बढ़ता निर्बलीकरण, कम्पनियों के अधिग्रहण तथा विलयन की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण आर्थिक शक्ति का बेहिसाब केन्द्रीकरण, राष्ट्रों के आन्तरिक तथा बाहरी हिस्सों का बढ़ता आपसी बिलगाव तथा असंतुलन आदि।[12] इसके कारण ही इस प्रक्रिया में विकासशील देश पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है और विकास का समुचित लाभ नही उठा पा रहे हैं।

भूमण्डलीकरण जिस सिद्धांत के आधार पर प्रसारित किया जा रहा है, वह भी एक मुखौटे लगता है। व्यक्तिवाद, उदारवाद, निजी स्वतंत्रता, मुक्त व्यापार, निर्बाध लेन-देन, आवागमन, अनेक प्रकार की नागरिक स्वतंत्रताओं, लोकतंत्र आदि को अपनी सैद्धान्तिक भावभूमि, ढाल, कवच और हथियार बनाकर सोच-विचारणा-मूल्यों और जीवन दृष्टि हावी हो गयी है। वास्तव में, ऐसी अवधारणाएं विकसित देशों के हितों के पूर्ति के लिए ही जान पड़ती हैं।

विकास के नाम पर पूंजीवादी-ओद्यौगिककरण को विश्वव्यापी बनाने का सपना इसके जरिये सभी देशों और लोगों का क्रमशः सादृश्यता, एकरूपता और समकक्षता, विलयन की ओर बढ़ सकना, भूमण्डीकरण का बहुत आधार बनाया गया है। नवोदित देशों को पुनः अपने वर्चस्व, श्रेष्ठता स्थापित किया जा रहा है।[13]

तकनीक का विकास सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर नहीं हो रहा है। तकनीकी ज्ञान के अनुसंधान तथा विकास में निरंतर बहु अथवा पराराष्ट्रीय कम्पनियों की प्रसारकामी रणनीति के तहत मुनाफा बढ़ाने के लिए हो रहा है। बाजारीकरण, विज्ञापन तथा संचार साधनों पर नियंत्रण होकर इन कम्पनियों द्वारा के लोगों की सोच, पसन्द, जीवन शैली और मूल्यों का निर्धारण हो रहा है। व्यक्तिवादी मूल्यों के बीच व्यक्ति की असहाय, दीन-हीन, कटी-बटी मानसिकता बढ़ रही है जो मानसिक तनाव, हताशा और रूग्णता के रूप में विस्फोटित हो रही है। उपभोक्तावाद आदमी के निजी, सामूहिक, सामुदायिक तथा सांस्कृतिक अस्मिता पर कहर ढा रहा है।[14]

सारांश

हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय वैश्वीकरण का युग है। वैश्वीकरण के प्रभाव के लेकर एक मत नहीं है। एक मत न होने के कारण भी है क्योंकि इसका प्रभाव असमान है। विकसित देशों द्वारा प्रचारित विचारों व नीतियों को विकासशील देश सहजता से नहीं अपना पा रहे हैं। विकसित देश आर्थिक और वित्तीय संगठनों के माध्यम से विकासशील देशों के आर्थिक नीतियों को निर्देशित करतें हैं। परिणामस्वरूप, राजनीतिक और सांस्कृतिक बदलाव भी हो रहा है। मूल्यों के दृष्टि से आज का समाज पश्चिमीकरण के प्रभाव में है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
आर्यभट्ट कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. Jagdish Bhagvati, In Defence of Globalisation, New York: Oxford Press, 2004, p.3
2. Frederic Jameson, 'Notes on "Globalisation as a Philosophical Issues" in Frederic Jameson and Massao Miyoshi, (ed) The Cultures of Globalisation, Durham and London: Duke University Press, 1998, p. 55

3. Ronald Robertson, Globalisation: Social Theory and Global Culture, London: Sage, p.102
4. John Baylis and Steve Smith (ed) The Globalisation of World Politics New York: Oxford University Press, 2008, p.15
5. David Held and Anthony McGrew, The Global Transformation Reader: An Introduction to the Globalisation Debate, Cambridge: Polity Press, 2000, p.5
6. C.A. Bally "Archaic and Modern Globalisation in the Eurasian and African Arena" in A.G. Hopkins, Globalisation in World Hisotry, Pamilico, 2002
7. Enrique Dussel, "Beyond Eurocentrism: The World System and the Limits of Modernity" in Fredric Jameson and Masao Miyoshi (ed.) The Culture of Globalisation, London: Duke Univeristy Press, 1998
8. Susan Strange, The Retreat of the State, Cambridge: Cambridge University Press, 1996. Bob Jossep, State Theory: Putting the Capitalist State in its Place, Cambridge: Polity Press, 1990. Hendrick Sprut, The Sovereign State and its Competitors, Princeton: University Press, 1994. Kenichi Ohame, The Borderless World, New York: HarperCollins, 1990, The End of the Nation State, New York: The Free Press, 1995. J.A. Camilleri, and Jim Falk, The End of Sovereignty, Aldershot: Edward Elgar, 1992.
9. Linda Weiss, The Myth of the Powerless State, Cambridge: Polity Press, 1998. P. Hirst, and G. Thompson, Globalization In Question, Cambridge: Polity Press, 1999. Robert Gilpin, Global Political Economy, New Delhi: Orient Longman, 2003. Gordon Smith, Altered States: Globalization Sovereignty and Governance, Ottawa: International Development Research Center, 2000. George Sorenson, The Transformation of the State: Beyond the Myth of Retreat, New York: Palgrave Macmillan, 2004.
10. Saskia Sassen, "Globalisation and State" in Hamesworth, M and Kogan. M. (ed) Encyclopedia of Government and Politics, London:Routledge Press, 2004, p. 1089
11. The purpose and function of WTO is available at www.wto.org.com
12. कमल नयन काबरा, भूमण्डलीकरण: विचार, नीतियॉ और विकल्प, नयी दिल्ली: प्रकाशक संस्थान 2005, पृ. सं. 48
13. कमल नयन काबरा, भूमण्डलीकरण: विचार, नीतियां और विकल्प, नयी दिल्ली: प्रकाशक संस्थान 2005, पृ. सं
14. कमल नयन काबरा, भूमण्डलीकरण: विचार, नीतियां और विकल्प, नयी दिल्ली: प्रकाशक संस्थान 2005, पृ. सं

शोध-पत्र

दशरहस्यवाद के आलोक में वैदिक, पौराणिक तथा पाश्चात्य सृष्टिप्रक्रिया विमर्श का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. श्रुतिकान्त पाण्डेय

शोधसार

भारत और विश्वस्तर पर विहित अध्ययनों द्वारा सुनिश्चित है कि सृष्टि के सभी प्राणी अपनी शारीरिक और मनोबौद्धिक शक्तियाँ जीवसूत्रों के माध्यम से प्राप्त करते हैं और अपने पूरे जीवन में उन्हीं के माध्यम से भोगप्राप्ति तथा कर्मसम्पादन में रत होते हैं। सम्बद्ध विषय में इस तथ्य की परिणति है कि मनुष्य स्वभावत: जिज्ञासु प्राणी है और शारीरिक आवश्यकताओं के साथ उसकी मनोबौद्धिक आवश्यकताएँ भी आजीवन संचालित रहती हैं। इस परम्परा में भारतीय मनीषा की चिन्तन परम्परा अत्यन्त गहन और विस्तीर्ण है। वेद से आरम्भ अन्यान्य ग्रन्थावलियों में मानवजीवन से सम्बद्ध सभी ज्ञान-विज्ञान विषयों का आमूल विश्लेषण उपलब्ध है। यह साहित्य इतना विस्तृत और जटिल है कि सामान्यजन के लिए उनका उपयोग और लाभ लेना कठिनप्राय है। हमारा सौभाग्य है कि मानवसमाज के मनीषियों ने अपनी अद्‌भुत बोध और विश्लेषण क्षमता से गहन विषयों का विश्लेषण प्रस्तुत करके जनसामान्य का मार्गदर्शन किया है। माननीय पण्डित मधुसूदन ओझा उन महान विभूतियों में अनन्य हैं जिन्होंने पुरातन सृष्टिपरम्परा के विविध आयामों का संश्लेषण प्रस्तुत किया है।

सृष्टि प्रक्रिया के विषय में भारतीय वैदिक मत नि:सन्देह विचारोत्तेजक है। वेदों के अतिरिक्त उपनिषदों विशेषत: छान्दोग्योपनिषद में सृष्टिरचना सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख पाया जाता है। परवर्तीकाल में पुराणों में सृष्टिप्रक्रिया का स्वतन्त्र चिन्तन प्राप्त होता है। यह वैदिक मत से भिन्न होते हुए भी उसी की उपजीव्यता धारण किए हुए है। इसी विषय में अन्य दृष्टि पाश्चात्य चिन्तकों की है जिसके आधार भिन्न हैं लेकिन उनकी भारतीय मान्यताओं से सम्बद्धता स्पष्टत: अनुभव की जा सकती है। प्रस्तुत पत्र में इन तीनों सृष्टिक्रम सिद्धान्तों का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

बीजशब्द - सृष्टि प्रक्रिया, मैथुनी सृष्टि, अमैथुनी सृष्टि, ब्रह्माण्ड और कार्यब्रह्म।

परिचय

पण्डित मधुसूदन ओझा भारतीय विद्वत्परम्परा के भास्वर नक्षत्र हैं। वे न्याय, मीमांसा, व्याकरण, वेदान्त, साहित्य और संहिताओं के उद्‌भट मर्मज्ञ थे। इसकी बानगी इसी तथ्य से प्रकट होती है कि उन्होंने अपने अध्ययन, चिन्तन और शोध से परिणामस्वरूप लगभग 175 पुस्तकों की रचना की, जिनमें से 40 प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके द्वारा प्रणीत 120 अप्रकाशित पुस्तकें अभी उपलब्ध हैं, जबकि अनेक अप्राप्त हैं। इन पुस्तकों में अधिकांश वैज्ञानिक विषयों और ऐतिहासिक विवरणों के तथ्यात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। इनमें जगद्‌गुरु वैभवम्, व्योमवाद, अपरवाद, आवरणवाद, अम्भोवाद, दशवादरहस्य आरम्भ से ही विद्वत्वृन्द के लिए स्तुत्य रही हैं। उनके ग्रन्थों में भारतीय मनीषा के वैज्ञानिक और तथ्यात्मक विश्लेषण को सर्वजनसुलभ बनाने के उद्देश्य से जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर में पण्डित मधुसूदन ओझा के ग्रन्थों पर शोध के लिए शोधप्रकोष्ठ की स्थापना की गई है।

पण्डित मधुसूदन ओझा के ग्रन्थों में पारंपरिक भारतीय और आधुनिक वैज्ञानिक मतों के समन्वय की अद्‌भुत

प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। किसी एक ही विषय पर व्याप्त मतों के समन्वय पर उनका कार्य अन्वेषकों के लिए विशेषत: ध्यातव्य रहा है। सृष्टिरचना के सन्दर्भ अनादिकाल से ही मानव की जिज्ञासा के केन्द्र में रहे है। इस क्षेत्र में मधुसूदन ओझा जी का कार्य विशेषत: उल्लेखनीय है। ऋग्वेद, दशम मण्डल के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त संख्या 129 के मन्थन द्वारा पंडित ओझा ने प्रतिपादित किया कि पूर्व-वैदिक युग में ब्रह्मांड की उत्पत्ति के बारे में दस भिन्न सिद्धांत प्रचलन में रहे थे। इन मतों के नाम असद्वाद, सद्वाद, रजोवाद, व्योमवाद, आवरणवाद, अम्भोवाद, अमृतमृत्युवाद, अहोरात्रवाद, संशयतदुच्छेदवाद और ब्रह्मवाद हैं। इन सभी का क्रमिक और तार्किक वर्णन डॉ. ओझा की पुस्तक दशवादरहस्य में प्राप्त होता है। इनमें से अनेक का वर्णन हम अन्य वैदिक ग्रन्थों में पाते हैं, जबकि कुछ विलक्षण और अल्पचर्चित रहे हैं।

कतिपय सिद्धान्तों की अनुध्वनि भारत से बाहर यूनान, मिस्र, रोम आदि की पारंपरिक सृष्टिउत्पत्ति धारणाओं में सुनाई देती है। उदाहरण के लिए यूनानी खगोलज्ञों विशेषत: थेल्स, हेराक्लाइटस, जुफेंस, एम्पेडोक्लस आदि ने अन्यान्य कारणों से अग्नि, पृथिवी, जन और हवा को सृष्टि का मूलतत्त्व स्वीकार किया है। यहाँ तक कि परवर्ती पश्चिमी विचारकों न्यूटन, आइंस्टीन आदि ने भी पारंपरिक मतों को स्वीकार करते हुए ही अपने सिद्धान्तों का विस्तार किया है।

सृष्टि उत्पत्ति के विशुद्ध भारतीय मतों में पुरुष और प्रकृति का परस्पर अनुपूरक सम्बन्ध पाया जाता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। यही नहीं, इस प्रक्रिया में प्रकृति की अन्यान्य शक्तियाँ भी विविध देवों के रूप में अपनी सुनिश्चित भूमिका का निर्वाह करती हैं जिनमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, मरुत, अश्विनौ, उषस्, मातरिश्वा जैसे देवगण हैं जिनकी प्राकृतिक ही नहीं मानवीय स्वरूप, गुण, कर्म, स्वभावादि भी निश्चितप्राय हैं। उदाहरण के लिए मुख्यत: ऊर्जा के प्रतीक इन्द्र के चौदह गुणात्मक और भौतिक स्वरूप पाए जाते हैं जिनमें जीवनशक्ति, बुद्धिमत्ता, शक्ति, आंदोलन, बिजली, गतिविधि, प्रकाश, सर्वव्यापकता, वीरता, विविधवर्णिता, पदार्थ, सूर्य, चंद्रमा, और रूपधारण क्षमता सम्मिलित हैं।

तार्किकता और तारमम्यता भारतीय ब्रह्मांड उत्पत्ति सिद्धांतों की सर्वप्रमुख विशेषताएँ रही हैं। उदाहरणत: जब भारतीय ऋषि अंतरिक्ष से ब्रह्मांड की उत्पत्ति की बात करते हैं तो उनका इशारा रहता है कि सृष्टि मूलत: ऊर्जा है और इसका स्वरूप अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक और शाश्वत है। आज आइंस्टीन के जिस थर्मोडायनेमिक्स के प्रथम सिद्धान्त को 'एनर्जी कैन नीदर बी क्रिएटिड, नॉर बी डिस्ट्रॉएड के तौर पर जानते हैं, भारतीय मनीषा ने उसी का प्रयोग करते हुए अंतरिक्ष को सृष्टि रचना का आदिस्रोत घोषित किया था। इसके पीछे उनके तर्क वैज्ञानिक और तथ्याधारित थे। उनका विश्वास था कि अन्तरिक्ष पंचतत्त्वों की सूक्ष्मसत्ता को धारण करने में सक्षम है। सूक्ष्मता और शक्ति के अन्तर्सम्बन्ध के आधार पर ही सृष्टिक्रम की भी व्याख्या की गई है। तदनुसार अन्तरिक्ष से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। इसका स्पष्ट संकेत यह भी है कि पृथिवी स्थूलतक तत्त्व है जबकि उससे स्थूलतर जल, जल से स्थूलतर अग्नि, अग्नि से स्थूलतर वायु और वायु से स्थूलतर अन्तरिक्ष है।

वैदिक सृष्टिप्रक्रिया

वैदिक सृष्टिप्रक्रिया का मूल वह अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान सत्ता है जो सृष्टि और प्रलय से अतीत और कर्मफलादि से वियुक्त है। ऋग्वेद (10/29/03) के अनुसार जगत् की रचना से पूर्व जब दिन-रात, प्रकाश-अन्धकार और जल-स्थलात्मक कोई अस्तित्व नहीं था तब भी सृष्टि का अधिष्ठाता परब्रह्म एकाकी और पूर्णरूप में मौजूद था। उसने अपनी इच्छाशक्ति के अनन्त सामर्थ्य से इस कार्यकारणात्मक जगत की सृष्टि की। इस क्रम में निमित्त कारण परमात्मा के साथ मूलप्रकृति भी उपादान कारण के रूप में सहायक थी। सांख्यमत में प्रकृति को सत्वरजस्तमसात्मक संघात बताया गया है, जिसका तात्पर्य है कि उसमें सृष्टि, सातत्य और स्थैर्य की शक्तियाँ सहजगुण के रूप में मौजूद रहती हैं लेकिन जब तक ये तीनों साम्यावस्था में रहती हैं, सृष्टिरचना नहीं हो सकती।

इस प्रकरण का उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद की ब्रह्मानन्दवल्ली में किया गया है। ''सो कामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति'' इत्यादि से इंगित किया गया है कि परमात्मा जब अपनी मनस्शक्ति से त्रिगुणात्मक प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न करता है। परमात्मा का मनस्तप उग्र होकर सृष्टिरचना में परिणत होता है और वह स्वयं इसी सृष्टि में समाहित हो जाता है। सृष्टिरचनाक्रम में प्रकृति से सर्वप्रथम महत्तत्व उत्पन्न होता है जो बुद्धि का प्रतिनिधि है। मैथुनी सृष्टि में प्रकृति से महत्तत्व का यही समावेश अण्डाणु और वीर्याणु

के संलयन से जीवसृष्टि के उद्भव को इंगित करता है। वैदिक सृष्टिक्रम में महत्तत्व अर्थात् बुद्धि से अहंकार, पंचतन्मात्राओं, स्थूलभूतों, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय और मन का आविर्भाव होता है। पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष या चेतन सत्ता इस सृष्टि का उपभोक्ता है। ईश्वर के साथ भोग और कर्म के लिए पुरुष भी सृष्टि का निमित्त कारण है।

मत्स्यपुराण की सृष्टिप्रक्रिया

पुरातन भारतीय साहित्य में पुराणों का विशिष्ट स्थान है। इनमें से मत्स्य पुराण को सर्वाधिक प्राचीन, प्रामाणिक और पुराभारतीय विज्ञान का विश्वकोश माना जाता है। इसमें पुराणों के पंचविध विषयों अर्थात् सृष्टिसर्ग में जगत की रचना, प्रतिसर्ग सृष्टि में प्रलय के उपरान्त जगत की पुनर्रचना, वंश में ऋषियों व देववंशों की उत्पत्ति, मन्वंतर में मनु से आगे देवों, सप्तर्षियों, अवतारों आदि का उल्लेख और वंशानुचरित में राजाओं और महापुरुषों की वंशावलियों का वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ का माहात्म्य न केवल ब्रह्माण्डीय अपितु ऐतिहासिक विवेचनों की दृष्टि से भी अपरिमित है। सृष्टि रचना के सन्दर्भ में मत्स्यपुराण में ब्रह्मा द्वारा आदिसृष्टि, प्रलयदशा में नौका निर्माण, मनु से मानवोत्पत्ति और राजाओं की वंशवृद्धि के प्रसंग विशेषत: उल्लेखनीय हैं। विशेषज्ञों का मानना है कि इस पुराण में जगत और प्रकृति की रचना से सम्बन्धित सभी दार्शनिक मतों का संग्रह पाया जाता है।

मत्स्य महापुराण के अनुसार सृष्टिरचना क्रम में सर्वप्रथम आदिकारणस्वरूप ब्रह्मा प्रकट हुए। उनका प्राकट्य उन्हीं परिस्थितियों से हुआ जिनका वर्णन नासदीयसूक्त (ऋग्वेद 10/120) और पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10/90) में पाया जाता है। अनन्तर उनके मन में सृष्टिरचना की इच्छा उत्पन्न हुई जिसकी परिणति एक विराट स्वर्ण-रजतमय अण्डे के रूप में हुई। इस आदिब्रह्माण्ड का तेज हजारों सूर्यों के समान था। आदिब्रह्माण्ड में व्याप्त ब्रह्मा ही अपने गुणों से विष्णुभाव को प्राप्त हो गए। ऋग्वेद (10/121), कठ, मुण्डक व श्वेताश्वतर उपनिषदों और विष्णुपुराण में इसी रूप को हिरण्यगर्भ कहा गया है। इसी का उल्लेख आदि शंकराचार्य ने कार्यब्रह्म के रूप में किया है।

मानवीय सृष्टिरचना क्रम में सर्वप्रथम ब्रह्मा ने अपने शरीरार्ध से मनु की माता गायत्री को उत्पन्न किया। इन्हीं मनुमाता को अन्यत्र शतरूपा या शतेन्द्रिया भी कहा गया है। रजोगुण के प्रकर्ष से ब्रह्मा ने देवता, असुर और मानवजीवों की उत्पत्ति की। इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए वामदेव शिव ने अपने मुख से ब्राह्मणों, बाहुओं से क्षत्रियों, उरुओं से वैश्यों और चरणों से शूद्रों को उत्पन्न किया। पुराण का यह वर्णन निश्चित रूप से ऋग्वैदिक पुरुषसूत्र की पुनरुक्ति है। सृष्टिरचनाक्रम को आगे बढ़ाते हुए वामदेव शिव ने ही विद्युत, वज्र, मेघ और इन्द्रधनुष की रचना की। इन प्राकृतिक आधारों के अस्तित्व में आ जाने के बाद उन्होंने अपने गणों की सृष्टि की जो मानवों से भिन्न त्रिनेत्रधारी और जन्ममरणादि से मुक्त थे। मत्स्यपुराण में मैथुनीसृष्टि की उत्पत्ति मनु और उनकी पत्नी अनन्ती के सान्निध्य से हुई। इसका उद्देश्य सुयोग्य सन्तानों से समाज का उत्कर्ष और विकास कहा गया है। मनु और अनन्ती के पुत्रों प्रियव्रत और उत्तानपाद ने बाद में गृहस्थ के माध्यम से सृष्टिक्रम को विस्तृत किया। इस क्रम से उत्पन्न अनेक वंशों और उनके प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन मत्स्यपुराण में कालक्रमानुसार किया गया है।

पाश्चात्य सृष्टिप्रक्रिया

पाश्चात्य जगत में सृष्टिरचना सम्बन्धी चिन्तन का सूत्र सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिकों की चर्चाओं में प्राप्त होता है। उनके अनुसार यह भिन्नरूपात्मक संसार किसी एक ही तत्त्व से उद्भूत और संधारित है। येलिज के अनुसार सृष्टि का आदिकरण जल है क्योंकि वह ठोस, जल और गैसीय तीनों रूपों को धारण करने में सक्षम है। अन्य यूनानी चिन्तक एनेक्सी जेनिज ने वायु को सृष्टि का आदितत्त्व स्वीकार किया है। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि वायु जल की अपेक्षा असीमित है और उसमें सीमित यानि जल को उत्पन्न करने की क्षमता है। बाद के वर्षों में यूरोप में वैज्ञानिक खोजों के माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त खोजे गए, जिनमें 1927 में जॉर्ज लेमैत्रे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार अतीत में ब्रह्माण्ड सूक्ष्म, गोलाकार और अत्यूष्ण था। कुछ ठण्डा होने पर इसमें इलैक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन और प्रॉटोन से मिलकर बने अनुपारमाण्विक कणों की रचना आरम्भ हुई। जो बाद में हाइड्रॉजन, हीलियम, लीथियम आदि में बदले और ठण्डे होते हुए अपनी रासायनिक संरचना के अनुसार विविध पदार्थों में बदलते गए। इसी सिद्धान्त को आगे बढ़ाते हुए एडविन हब्बल ने 1929 में तारों के वर्णक्रम का अध्ययन करके सिद्ध किया कि ब्रह्माण्ड में मौजूद पिण्ड लगातार एक दूसरे के पास आ रहे हैं। इसका अर्थ है कि

ब्रह्माण्ड अन्त:स्फोट की प्रक्रिया से गुजर रहा है और लगातार सीमित तथा एकीकृत हो रहा है। यह सिद्धान्त पूर्ववर्ती स्थिरावस्था सिद्धान्त या स्टडीस्टेट के विपरीत था और बिगबैंग या महाविस्फोट के नाम से जाना जाता है।

सारांश

पण्डित मधुसूदन ओझा ने अपने विख्यात ग्रन्थ पुस्तक दशवादरहस्य में सृष्टिरचना के सम्बन्ध में भारतीय परम्परा के जिन दस सिद्धान्तों नामत: असद्वाद, सद्वाद, रजोवाद, व्योमवाद, आवरणवाद, अम्भोवाद, अमृतमृत्युवाद, अहोरात्रवाद, संशयतदुच्छेदवाद और ब्रह्मवाद का उल्लेख किया है उनका अन्तर्सम्बन्ध परवर्ती सृष्टिरचना सिद्धान्तों और पाश्चात्य मतों से भी प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए येलिज ने जल को सृष्टि का आदितत्त्व स्वीकार किया है जो माननीय ओझा जी के अम्भोवाद में व्याख्यायित है। साथ ही बृहदारण्यक में भी स्वीकृत है। इसी प्रकार अन्य यूनानी दार्शनिक एनेक्सी द्वारा वायु को सृष्टि का आदिकारण माने जाने का मूलसिद्धान्त भी मधुसूदन ओझा जी के ग्रन्थों और छान्दोग्य उपनिषद के रैक्व प्रकरण में उपलब्ध होता है। परवर्तीकाल में लेमैत्रे, एडविन हबल और आइंस्टीन के सिद्धान्तों में जिस एकतत्त्ववाद और ऊर्जा के सातत्य की चर्चाएँ हैं, उनका उल्लेख दशरहस्यवाद में सरलता से खोजा जा सकता है।

सारत: कहा जा सकता है कि पण्डित मधुसूदन ओझा का दशरहस्यवाद सृष्टिरचना विषयक भारतीय सिद्धान्तों का विश्वकोश है। इसमें न केवल वैदिक अपितु उत्तरवैदिक और पौराणिक सृष्टिप्रक्रियाओं का समन्वित संश्लेषण किया गया है अपितु पाश्चात्य और परवर्ती सिद्धान्तों को समझने का आधार भी तैयार किया गया है।

विभागाध्यक्ष,
एमिटी संस्कृत अध्ययन एवं शोध संस्थान,
एमिटी विश्वविद्यालय, नोएडा, उत्तर प्रदेश
अणुसंकेत – spandey2@amity.edu

संदर्भ सूची

- उपाध्याय रमेश कुमार, वैष्णव पुराणों में सृष्टिप्रक्रिया, केन्द्रीय ग्रन्थागाार, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, 1976
- उपाध्याय बलदेव, पुराण विमर्श, शारदा संस्थान, बनारस, 1976
- ओझा मधुसूदन, दशरहस्यवाद, पण्डित मधुसूदन ओझा शोधप्रकोष्ठ, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर, 1993
- गोयन्दका हरिकृष्णदास, ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रैस गोरखपुर, 2016
- द्विवेदी कपिलदेव, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, 2018.
- द्विवेदी पारसनाथ, वैदिक साहित्य का इतिहास, चौखम्बा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, 2017.
- पण्डित रघुनन्दन शर्मा, वैदिक सम्पत्ति, सेठ शूरजी वल्लभदास ट्रस्ट, मुम्बई, 1956.
- प्रभुपाद ए.सी. अद्वैतकृष्ण, श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, इस्कॉन प्रकाशन, बनारस, 2015
- महर्षि दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1988
- महाभारत, सम्पादन और प्रकाशनय गीताप्रेस गोरखपुर, 2014
- लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय', भारतीय संस्कृति कोश, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1996.
- ऋग्वेद संहिता, सम्पादन और प्रकाशनय दयानन्द संस्थान नई दिल्ली, 1996.

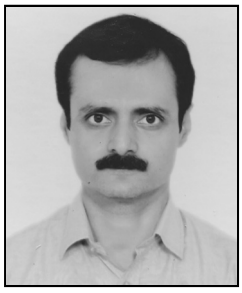

डॉ॰ रतीश चन्द्र झा

पाणिनीय व्याकरण में ज्ञापक-विमर्श

महर्षि पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' संस्कृत व्याकरणशास्त्र की अनमोल एवं अनूठी कृति है। सम्प्रति नानाविध व्याकरण-परम्परा के होते हुए भी पाणिनीयाष्टक ही संस्कृत व्याकरणशास्त्र की सर्वमान्य धरोहर है, जिसे महामुनि पाणिनि ने सूत्र-शैली में उपनिबद्ध किया है। व्याकरण की इस अमूल्य निधि पर अधुना अनेक वृत्ति, वार्तिक और भाष्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें आचार्य कात्यायन कृत वार्तिक और आचार्य पतञ्जलि कृत महाभाष्य ही पाणिनीयाष्टक का सर्वमान्य पूरक एवं व्याख्यान ग्रन्थ है।

यशस्वी मुनि भाष्यकार पतञ्जलि कृत महाभाष्य पाणिनीयाष्टक का व्याख्यान बड़े ही सरल कथोपकथन की शैली में करता है। भाष्यकार अपनी स्वोपज्ञ-प्रज्ञा के विज्ञान से और नूतन, अद्‌भुत तथा चित्र-विचित्र प्रतिभा के बल से जहाँ शब्दप्रयोगों के साधन में सूत्रकार-निर्दिष्ट पद्धति का आश्रयण करते हैं, वहाँ नवनवोन्मेषशालिनी, नानाविध तर्कसमन्वित महती सूक्ष्मेक्षिका से अनुस्यूत तथा प्रतिभानुभूतिसम्भूत अनोखी सूझ-बूझ से शब्दसिद्धि का सुगम मार्ग बताते हुए शास्त्रीय सिद्धान्तों का यथोचित प्रतिपादन भी करते हैं। इस सिद्धान्त प्रतिपादन-प्रक्रिया में भाष्यकार के परिष्कृत मस्तिष्क से निकली हुई चिररुचिर अनल्प-कल्पनाएँ भी समाहित होती हैं। इन कल्पनाओं का बहुत गहराई से पर्यालोचन करने पर भी इनके गूढाशय को समझने में प्रायः असमर्थता ही हाथ लगती है।

महाभाष्यकार अपने प्रत्याख्यान की शैली में विविध प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। इन्हीं कल्पनाओं के द्वारा वे पाणिनि-व्याकरण के सूत्रों का प्रत्याख्यान करते हैं। प्रत्याख्यान के द्वारा वे पाणिनीय सूत्रों की पूर्ण व्याख्या करते हैं। इनका मत है कि आचार्य पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' का एक भी वर्ण अनर्थक नहीं, फिर सूत्र तो अनर्थक हो ही नहीं सकते -

'प्रमाणभूत आचार्यः ----सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम् किम्पुनरयिता सूत्रेण।'[1]

शास्त्र के प्रत्याख्यान के क्रम में आचार्य पतञ्जलि पाणिनीय सूत्रों को ही आधार बनाते हैं और इसी के अन्वाख्यान-प्रत्याख्यान द्वारा शास्त्र की सार्थकता सिद्ध करते हैं। उनके प्रत्याख्यान की शैली को डॉ॰ भीमसिंह वेदालङ्कार ने अपनी पुस्तक 'पातञ्जल महाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्र'[2] में निम्नलिखित दृष्टियों से प्रस्तुत किया है -

(i) ज्ञापक मूलक प्रत्याख्यान
(ii) परिभाषा मूलक प्रत्याख्यान
(iii) लाघव मूलक प्रत्याख्यान
(iv) योगविभाग मूलक प्रत्याख्यान
(v) विवक्षा मूलक प्रत्याख्यान
(vi) अनुवृत्ति मूलक प्रत्याख्यान आदि-आदि।

इस प्रकार महाभाष्य के परिशीलन से हमें ज्ञात होता है कि पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या के क्रम में महर्षि पतञ्जलि ने अनेक अनल्प-कल्पनाएँ की हैं। इस शोधपत्र का विवेच्य विषय 'ज्ञापक' है, अतः यहाँ ज्ञापक पर ही चर्चा अपेक्षित है।

ज्ञापक -

'ज्ञापयतीति ज्ञापकम्', अर्थात् जो ज्ञान करवाता है, उसे 'ज्ञापक' कहते हैं। वामन शिवराम आप्टे महोदय ने अपने कोश में इस शब्द की व्युत्पत्ति - 'ज्ञा + णिच् + ण्वुल्' - प्रस्तुत करते हुए, इसका अर्थ किया है -

'जतलाने वाला, सिखाने वाला, सूचना देने वाला, सङ्केतक' और इनके अनुसार दर्शनशास्त्र में 'ज्ञापक' का अर्थ है - 'सार्थक उक्ति, व्यञ्जनात्मक नियम', यहाँ उन शब्दों से अभिप्राय है जो अपने शाब्दिक अर्थ की अपेक्षा भी नियमों के सम्बन्ध में कुछ अधिक व्यक्त करते हैं।[3] 'ज्ञापक' को English में 'Implication' कहते हैं, जिसका अर्थ यह माना जा सकता है - ध्वनित, इङ्गित या कल्पित अर्थ। महामहोपाध्याय काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर ने अपने कोश में 'ज्ञापक' के विषय में कहा है - 'indirect or implicit revealer; a word very commonly used in the sense of an indicatory statement. The Sūtras, especially those of Pā?ini, are very laconic and it is believed that not a single word in the Sūtras is devoid of purpose. If it is claimed that a particular word is without any purpose, the object of it being achieved in some other way, the commentators always try to assign some purpose or the other for the use of the word in the Sūtra. Such a word or words or sometimes even the whole Sūtra is called ज्ञापक or indicator of a particular thing.'[4]

महाभाष्य में शेषावतार आचार्य पतञ्जलि ने अनेकधा कहा है - 'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति'[5] अर्थात् आचार्य पाणिनि अपने सूत्रों द्वारा शास्त्र की प्रवृत्ति का ज्ञापन करते हैं। यहाँ जिज्ञासा होती है कि 'ज्ञापन' क्या है? इसके उपशमनार्थ कहा जा सकता है कि पाणिनीय सूत्रों में पढ़े गए कुछ पद निरर्थक प्रतीत होते हैं; परन्तु इनकी निरर्थकता को दूर करने के लिए कुछ ऐसी कल्पनाएँ की जाती हैं जो इनकी सार्थकता सिद्ध कर सके, यही 'ज्ञापन' है और इनको बताने वाले सिद्धवचन ही वैयाकरण-सम्प्रदाय में 'ज्ञापक' इस संज्ञा से अभिहित हुए हैं। पणिनीयाष्टक का एक भी वर्ण निरर्थक नहीं है, जो कि पतञ्जलि की 'तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम् किम्पुनरयिता सूत्रेण' - इस उक्ति से सिद्ध है। अतः उन निरर्थक से लगने वाले वर्णों या पदों की सार्थकता को स्पष्ट करने के लिए कुछ कल्पनाएँ की जाती हैं, जो हमारे इष्ट फलों की सिद्धि में सहायक होती है और यही कार्य ज्ञापकों के माध्यम से सिद्ध होता है।

यथा - 'सुप्तिङन्तं पदम्'[6] - इस सूत्र के अनुसार पाणिनि का कथन है कि 'सुबन्तं तिङदतं च पदसञ्ज्ञं स्यात्'[7] अर्थात् सुप् और तिङ् प्रत्ययान्त शब्दों की 'पद' संज्ञा होती है। यहीं पर पाणिनि की यह परिभाषा भी ध्यातव्य है - 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्'[8] अर्थात् प्रत्यय ग्रहण करने पर जिससे प्रत्यय विहित है तथा तदन्त का भी ग्रहण किया जाता है। इसे श्री वासुदेव दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी की 'बालमनोरमा' टीका में समझाते हुए कहा है - 'यस्मात् प्रकृतिभूतात् शब्दात् यः प्रत्ययो विहितः तदादेः सः प्रकृतिभूतः शब्दः आदिर्यस्य तस्य तदन्तस्य स प्रत्ययः अन्तो यस्य समुदायस्य तस्य च ग्रहणम्।'[9]

इस प्रकार इस परिभाषा में 'तदन्त' का ग्रहण होने से 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र में पढ़ा गया 'अन्त' पद व्यर्थ ही प्रतीत होता है, क्योंकि उपर्युक्त परिभाषा से सुप्, तिङ् प्रत्ययों से युक्त अर्थात् तदन्त शब्दों की ही पद संज्ञा होगी, ऐसा प्राप्त होता है। अतः 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र में गृहीत 'अन्त' पद व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापन करता है कि उपर्युक्त परिभाषा संज्ञा प्रकरण में प्रवृत्त नहीं होगी। सुबन्त और तिङन्त की पद-संज्ञा हो रही है, अतः सूत्र में गृहीत 'अन्त' पद सार्थक ही है। पाणिनि द्वारा पठित यह 'अन्त' पद ही इस बात का ज्ञापक है। जैसा कि आचार्य नागेश भट्ट ने भी ज्ञापकसङ्ग्रह में कहा है - 'सुप्तिङन्तं पदम् इदमन्तग्रहणं संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं न इत्यस्या ज्ञापकम्'।[10] इत्थं शास्त्र की सार्थकता के ज्ञान के लिए कृत कल्पनाएँ ही 'ज्ञापक' कहलाती है।

भाष्यकार की इसी शैली का आश्रयण करके जयादित्य, जिनेन्द्रबुद्धि, हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित आदि वैयाकरणों ने प्रायः व्यर्थ प्रतीत होने वाले पाणिनीय सूत्रों या सूत्रांशों से साङ्केतिक तथ्य अथवा ज्ञापक निकालने के प्रयत्न किए हैं, जो शास्त्र की असंदिग्ध व्याख्या के लिए उपयुक्त प्रतीत होते हैं और इसके उदाहरण हमें काशिका, पदमञ्जरी, सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी आदि में अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं।

संसार की सभी वस्तु गुण-दोषमय है; अतः 'ज्ञापक' भी इस नियम का अपवाद नहीं है। चन्द्रगोमी के 'ज्ञापकेऽर्थमनित्यम् (वदन्ति)'[11] तथा 'ज्ञापकज्ञापिता विधयोऽनित्याः'[12] आदि कथनों के द्वारा 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र'[13] यह परिभाषा पुष्ट होती है। इससे सिद्ध है कि अनिष्ट प्रसक्ति के लिए नहीं, अपि तु इष्ट सिद्धि के लिए 'ज्ञापक' का आश्रय लिया जाता है। इस विषय में पुरुषोत्तमदेव का कथन है कि ज्ञापक, वाचक नहीं; अपि तु वह इङ्गित

के द्वारा किसी अर्थ का सूचक होता है। इष्टसिद्धि के लिए ही उस अनुमित वस्तु का आश्रयण हो, यह उचित ही है। इसलिए ज्ञापक सिद्ध का सार्वत्रिक न होना युक्तियुक्त है। अतः 'ज्ञापकसिद्ध अनुदात्तेत् लक्षणम् आत्मनेपदमनित्यम्' इसका प्रयोग सब जगह नहीं करना चाहिए, किन्तु विशिष्ट प्रयोग देखकर ही करें।[14] सीरदेव ने भी अपने पूर्ववर्ती पुरुषोत्तमदेव के विचारों को दुहराते हुए कहा है कि ज्ञापक साक्षात् अर्थबोधक नहीं होता है, किन्तु निमित्त के द्वारा सूचक होता है।[15] इसलिए इष्टसिद्धि के लिए ही ज्ञापक का उपयोग किया जाता है।

इस प्रकार पाणिनि का सूत्र अथवा सूत्रांश जहाँ व्यर्थ प्रतीत होने लगता है, वहीं पर अभीष्ट प्रययोजन की सिद्धि के लिए 'ज्ञापक' का सहारा लिया जाता है। सन्देह की उत्पत्ति होने पर ही ज्ञापकसिद्ध वचनों के द्वारा शास्त्र की असंदिग्ध व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। इन ज्ञापकसिद्ध वचनों के दो भेद हैं[16] –

(1) निर्देशानुपपत्तिज्ञापकज्ञापिता और

(2) अर्थानुपपत्तिज्ञापकज्ञापिता।

'स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते'[17] के 'शयितरि' इस निर्देश के द्वारा ज्ञापित 'कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते'[18], 'प्राग्दीव्यतोऽण्'[19] के 'दीव्यतः' निर्देश से ज्ञापित 'एकदेशविकृतमनन्यवत्'[20] आदि ज्ञापक प्रथम कोटि के अन्तर्गत आते हैं तथा 'कुमारः श्रमणादिभिः'[21] सूत्र समानाधिकरणाधिकार में पठित हैं। इसलिए इसके द्वारा समानाधिकरण 'कुमार' शब्द और 'श्रमणा' शब्द में जिस समास का विधान किया गया है, वह तब तक अट-पटा सा दिखेगा; जब तक कि सूत्र 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्ट-स्यापि ग्रहणम्'[22] इस परिभाषा का ज्ञापन नहीं कर लेगा। 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति'[23], इस परिभाषा के बिना 'सुप्तिङन्तं पदम्' में प्रतिपादित 'अन्त' अर्थ व्यर्थ-सा लगता है। अतः ये ज्ञापक द्वितीय कोटि के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार सूत्र या सूत्रांश में प्रतिपादित जो अर्थ जिस अर्थ को माने बिना असंगत लगता है, उसे इसका ज्ञापक माना जाता है। ज्ञापक ज्ञापित अर्थ के द्वारा अपना अटपटापन दूर करते हैं। कुछ सूत्र किसी परिभाषा की सत्ता के बिना निष्प्रयोजन दिखाई पड़ते हैं; वे भी उस तरह के अर्थ का ज्ञापक बनते हैं, जिसके कारण वे अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकें। इस प्रकार के ज्ञापक अपनी अन्यथासिद्धि को दूर करके अपनी निर्माण की आवश्यकता को स्थापित करते हैं। जैसे 'वाह ऊठ्'[24] सूत्र से 'ऊठ्' का विधान अन्तरङ्ग परिभाषा का अस्तित्व माने बिना व्यर्थ है।

इस प्रकार के॰ वी॰ अभ्यङ्कर ने ज्ञापक के उद्भावक चार तथ्यों को स्वीकार किया है[25]–

1. **वैयर्थ्य** – सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि जिस सूत्र अथवा सूत्रांश से ज्ञापक निकाल जाए, उसका वैयर्थ्य सिद्ध हो अर्थात् वह सूत्र या सूत्रांश सप्रयोजन न हो।

2. **ज्ञापन** – व्यर्थ होकर वह सूत्र अथवा सूत्रांश किसी विशिष्ट तथ्य का ज्ञापन कराता हो।

3. **स्वस्मिञ्चारितार्थ्य** – ज्ञापक की निष्पत्ति के पश्चात् उस ज्ञापक के प्रकाश में ही वह सूत्र या सूत्रांश सार्थक सिद्ध होता हो।

4. **अन्यत्रफल** – सूत्र अथवा सूत्रांश की सार्थकता को सिद्ध करने के साथ ही ज्ञापक अन्य उदाहरणों में भी चरितार्थ होता हो।

उदाहरणार्थ 'खनो घ च'[26] इस सूत्र से विहित 'घ' प्रत्यय के घित्करण को 'खन्' धातु की दृष्टि से व्यर्थ मानने पर उसके आधार पर यह ज्ञापित होता है कि अन्य धातुओं से भी 'घ' प्रत्यय का घित्करण सार्थक सिद्ध होता है, क्योंकि अन्य धातुओं में कुत्व का अवकाश होता है। अतः इन धातुओं में 'चजोः कुः घिण्यतोः'[27] सूत्र से कुत्व करने के लिए 'घ' प्रत्यय का घित्करण सार्थक है। ऐसा ज्ञापक मानने पर ही 'भज्' धातु से 'घ' प्रत्यय होकर 'भगम्' आदि रूपों की सिद्धि हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि महर्षि पाणिनि को शास्त्र की प्रस्तुति में ही ज्ञापन की शैली अभिप्रेत थी। सूत्रकार अपनी इसी शैली के द्वारा अपने मानस के गूढ़तम विचारों को अत्यल्प शब्दों के द्वारा सूत्र शैली में रख देते हैं, जिससे कहीं-कहीं अध्येता सन्देह का अनुभव करने लगते हैं तथा उन्हें सूत्र या सूत्रांश व्यर्थ-सा प्रतीत होने लगता है। परन्तु भाष्यकार पतञ्जलि की सम्मति में पाणिनीयाष्टक का एक भी वर्ण व्यर्थ नहीं है, पुनः सूत्र या सूत्रांश की व्यर्थता की कोई बात ही नहीं है। अतः जहाँ एक भी वर्ण व्यर्थ नहीं वहाँ किसी खास उद्देश्य से ही इस प्रकार की शङ्का उत्पन्न करने वाले पद प्रयुक्त हुए हैं, जो सूत्रकार के विशिष्ट उद्देश्य को बताते हैं। इसी बात को सुस्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों ने ज्ञापन की शैली का आश्रयण किया है, जो कि कल्पनाश्रित है और

इसे पाणिनि सूत्रों से ही ज्ञापित किया जाता है। अत: शास्त्र की निरर्थकता की प्रतीति होने पर पाणिनीय वचन ही उसकी सार्थकता को ज्ञापित करता है और इसे ही 'ज्ञापक' कहते हैं।

इस प्रकार पाणिनीयाष्टक का एक भी वर्ण व्यर्थ नहीं है और जहाँ इनकी व्यर्थता की प्रतीति होती है, वहाँ उनके द्वारा इङ्गित अर्थ को समझ कर की गई कल्पना, जो कि शास्त्र को सार्थक सिद्ध करती है, वैयाकरण निकाय में 'ज्ञापक' के नाम से अभिहित है। शास्त्र की असंदिग्ध व्याख्या तथा अभीष्ट की सिद्धि में ज्ञापकों की बहुमूल्य भूमिका है।

असिस्टेंट प्रोफेसर (संस्कृत)
विवेकानन्द महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. महाभाष्य ('वृद्धिरादैच्' सूत्र के प्रत्याख्यान में)। प्रथम अध्याय प्रथम पाद तृतीय आह्निक, पृ॰ - 160.
2. पातञ्जलमहाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्र (एक समीक्षात्मक अध्ययन)। निर्मलबुक एजेन्सी, कुरुक्षेत्र, 1987.
3. आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ॰-410.
4. A Dictionary of Sanskrit Grammar – K.V.Abhyankar, Oriental Institute Baroda, 1961. Page- 150.
5. महाभाष्य, द्वितीय आह्निक - पृ॰- 89, 113, 144; तृतीय आह्निक-पृ॰- 175, 196.
6. अष्टाध्यायी, सूत्र - 1.4.14
7. सिद्धान्तकौमुदी, पृ॰ - 28
8. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा सख्या - 23, पृ॰ - 102
9. सिद्धान्तकौमुदी 'बालमनोरमा' टीका सहित, भाग-१, पृ॰- 320
10. ज्ञापकसंग्रह:, पृ॰- 46
11. चान्द्र परिभाषा पाठ - 77
12. कातन्त्र परि॰-60, कालाप परि॰-82
13. परिभाषेन्दुशेखर, परि॰-126
14. पुरुषोत्तमदेव, परि॰ पाठ - 118
15. सीरदेव, वृ॰ परि॰ वृत्ति - 126
16. परिभाषेन्दुशेखर, डॉ॰ हर्षनाथ मिश्र, भूमिका, पृ॰- 44
17. अष्टाध्यायी, सूत्र - 4.2.15
18. परिभाषेन्दुशेखर, परि॰-11
19. अष्टाध्यायी, सूत्र - 4.1.83
20. परिभाषेन्दुशेखर, परि॰-38
21. अष्टाध्यायी, सूत्र - 2.1.70
22. परिभाषेन्दुशेखर, परि॰-72
23. परिभाषेन्दुशेखर, परि॰-28
24. अष्टाध्यायी, सूत्र - 6.4.132
25. A Dictionary of Sanskrit Grammar – K.V.Abhyankar, Oriental Institute Baroda, 1961. Page- 151.
26. अष्टाध्यायी, सूत्र - 3.3.125
27. अष्टाध्यायी, सूत्र - 7.3.52

योग का चिकित्सकीय आयाम

डॉ. श्री भगवान

जैसे-जैसे हमारे भौतिक सुख साधन बढ़ रहे हैं और खान-पान, रहन-सहन का स्तर बहुत बिगड़ता जा रहा है। बीमारियाँ कम नहीं हो रही हैं, बल्कि बढ़ रही हैं।

उच्च रक्त चाप (High Blood Pressure), मधुमेह (Diabetes), हृदय रोग (Heart Disease) तथा दमा (Asthma) आदि बीमारियाँ बहुत आम है। क्या हमने सोचा, ऐसा क्यों हो रहा है।

इसका सबसे बड़ा कारण है, हमारा गलत खान-पान व रहन-सहन। हम योगमय जीवन से भटक गए हैं। मुख्यरूप से हम सब पैदायशी योगी है। बच्चा पूर्ण योगी होता है। मगर सांसारिक व भौतिक परिवेश में आकर हम 'योगमय' जीवन से विचलित हो जाते हैं।

बालक में न राग, न द्वेष, न हिंसा, न ईर्ष्या, न भेद-भाव और न चिंता आदि होते हैं। इसलिए बालक को भगवान का रूप कहा जाता है। बालक एक उच्चस्तरीय योगी होता है।

रोग मुख्यतः तीन कारणों से उत्पन्न होते हैं -

1. शारीरिक
2. मानसिक
3. वातावरण

विशुद्ध शारीरिक बीमारियाँ तो अधिकांश जन्मजात अथवा शरीर के बनावट अथवा विकार अथवा आकस्मिक (Accidental) होती है। शारीरिक बीमारियों की संख्या तो कम ही है। दूषित व प्रतिकूल वातावरण के कारण शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है।

मगर आजकल होने वाली अधिकांश बीमारियां जैसे उच्च रक्तचाप, डायबिटिज, हृदय या मस्तिष्क रोग तथा रोग प्रतिरोधक क्षमता की कमी आदि बीमारियों का मूल कारण मानसिक या हमारा दूषित रहन-सहन या दूषित खान-पान होता है।

दैनिक कार्यों में शारीरिक श्रम की मात्र दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। हर कार्य के लिए भौतिक साधन व वाहन आदि तथा भौतिक सुख सुविधाओं के कारण हम शारीरिक श्रम कर ही नहीं पाते। दूसरे स्वादिष्ट व पौष्टिक व्यंजनों के कारण खान-पान अच्छा हो गया है।

शरीर के अंग कमजोर व ढीले होते जाते हैं क्योंकि शरीर का सिद्धान्त है, ''Use it or loss it''

अर्थात् या तो शरीर का सही प्रयोग कर लें अन्यथा प्रयोग नहीं करेंगे तो जल्दी नष्ट होगा। अर्थात् जंग लगकर नष्ट होने की अपेक्षा घिस-घिसकर नष्ट होना ज्यादा बेहतर है।

आजकल के दैनिक जीवन में तनाव, बेचैनी व चिन्ताएँ (stress, tension and anxiety, depression) आदि बहुत बढ़ गए हैं।

अब वैज्ञानिक रूप से सिद्ध हो चुका है कि तनाव, बेचैनी व चिन्ताओं से मस्तिष्क में Limbic system पर बहुत गलत प्रभाव पड़ता है।

मस्तिष्क का लिम्बिक सिस्ट्म (Limbic System) हमारी भावनाओं, मानसिक शान्ति, हॉरमोन व भूख-प्यास का नियंत्रण करता है।

तनाव से शरीर पर प्रभाव (How stress effects the body)

प्रथम

तनाव होने पर सबसे पहले मस्तिष्क में क्रिया शुरू होती है और मस्तिष्क के कुछ विशेष हिस्सों में भिन्न परिवर्तन व रसों का तेजी से स्राव शुरू होता है। जिससे शरीर आक्रमण व सुरक्षा के लिए तैयार हो जाता है।

दूसरा

शरीर में हॉरमोन्स व अन्य बायोकेमिकल्स का तेजी से स्राव होता है।

क्रोध व तनाव की इस स्थिति के हम ऐसे समझ सकते हैं जैसे हम अंगारे को हाथ में लेकर किसी को मारे। उसका नुकसान हो या ना हो मगर हमारा हाथ तो जल ही जाता है।

ऐसे तनाव, गुस्से (क्रोध) की स्थिति में कभी स्वयं की फोटो लेकर देखना तब आपको पता चलेगा कि तनाव कितना हानिकारक होता है।

मधुमेह, उच्च रक्तचाप या हृदय रोग का सबसे मुख्य कारण तनाव ही है।

हमारे मन व मानसिक स्थिति का हमारे शरीर पर, स्वास्थ्य पर, हमारी प्रतिरोधक तथा शरीर की अन्य क्रियाओं पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

उदाहरणार्थ –

हम खाना खाने बैठते हैं और कोई अप्रिय समाचार आ जाए तो तुरन्त भूख खत्म हो जाती है। खाने का रस, खाने का मजा समाप्त हो जाता है, यहाँ तक कि खाना मुश्किल हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में मस्तिष्क शरीर को खतरे से बचाव के लिए तैयार करता है। इमरजेंसी हॉरमोन व अन्य रसायनों का स्राव बहुत बढ़ जाता है। बीपी व हृदय की धड़कन बहुत बढ़ जाती है, माँसपेशियों में खिंचाव हो जाता है। शरीर में glucose का स्तर बढ़ जाता है।

इसका सीधा सा अर्थ यही है कि हमारे मन व मस्तिष्क का स्वास्थ्य पर तथा हमारे शरीर की क्रियाओं पर बहुत असर पड़ता है।

इस प्रकार से अब वैज्ञानिक रूप से पूर्णत: सिद्ध हो चुका है कि अधिकांश आजकल की बीमारियों की उत्पत्ति में तथा उनके निवारण में हमारे मन तथा मानसिकता का सबसे अधिक असर पड़ता है। या यों कहे कि शान्त मन (Peaceful Mind) में ही अच्छा स्वास्थ्य निहित है। एलोपैथिक चिकित्सा (Allopathic) में कोई भी ऐसी दवाई नहीं है जो गुस्से, मन के तनाव को कम करती हो।

योग विशेष रूप से ध्यान, यम, नियम आदि से हमारा मस्तिष्क शान्त होता है। रोग निवारण में शान्त मस्तिष्क सबसे बड़ा रोल अदा करता है। योग व ध्यान तनाव को भी कम करता है।

इस प्रकार उचित योगाभ्यास करने वाले साधक को पहले तो रोग होते ही नहीं और यदि होते हैं तो शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं।

योगाभ्यास विशेष रूप से आसन, यम, नियम, प्राणायाम तथा ध्यान आदि से उच्च रक्तचाप के ठीक होने से बहुत कुछ ठीक हो जाता है, क्योंकि योग द्वारा हमारा मन व मस्तिष्क अशान्त स्थिति (Stress) से शान्त स्थिति में आता है।

साथ ही साथ योगासन व प्राणायाम आदि से शरीर की रक्त वाहिनी (Blood Vessels) से Plaques का अवरोध कम होता है और इनमें लचक बढ़ती है। दूसरे कुछ रसायनों व हॉरमोन्स का स्राव जो नाड़ियों का संकुचन दूर कर नलियों (Blood Vessels) को खोलने में और रक्तचाप को कम करने में सहायक होते हैं।

विभिन्न आसनों तथा प्राणायाम की विशिष्ट अवस्थाओं में शरीर के उन-उन अंगों में रक्तसंचार की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। जिससे उन अंगों का पुनर्वासन होता है। उदाहरणार्थ सर्वांगासन की अवस्था में थायराइड अन्त:स्रावी ग्रन्थि में अधिकाधिक रक्त प्रवाह होने लगता है, परिणामस्वरूप थाइराइड ग्रन्थि की कार्यक्षमता का विकास होता है।

विगत कुछ वर्षों के अनुसन्धानों से यह स्पष्ट हो चुका है कि योग अभ्यास से मानसिक तनाव कम होता है तथा मनुष्य में मनोदैहिक सामंजस्य की वृद्धि होती है। मन तथा शरीर का सन्तुलन बना रहता है, कार्यक्षमता बढ़ जाती है तथा मन की शान्ति से बुद्धि का विकास होता जाता है।

विभिन्न प्रकार के आसनों तथा प्राणायाम, वन्ध, मुद्रा तथा षट्कर्म के अभ्यास से शरीर शुद्ध होकर अधिक जीवनीय शक्ति युक्त हो जाता है और उसमें रोगों के प्रभाव की आशंका कम हो जाती है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि योग द्वारा शरीर

के निरोग होने के साथ-साथ मन भी नियन्त्रित होकर स्वस्थ होता है आधुनिक परिवेश में विद्यार्थी, युवा, प्रौढ़ व वृद्ध भी योग का सैद्धांतिक नियमित अभ्यास करके स्वास्थ्य संरक्षण, संवर्धन व रोगोपचार में भी उचित लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अतः कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य नियमित रूप से योगाभ्यास करता है तो वह विभिन्न प्रकार के रोगों से मुक्त होकर, सुखमय जीवन का आनन्द प्राप्त करता है।

सहायक प्रोफेसर
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

डॉ. पंकजेन्द्र किशोर

महाकवि निराला के काव्य की भाव-भूमि

युगान्तरकारी कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' प्रगतिशील चेतना के महाकवि हुए हैं। वे जितने समर्थ गद्यकार थे उतनी ही उनकी लेखनी काव्य-सृजन में चली है। उनके काव्य में विषयगत विविधता रही है। यहाँ हम महान छायावादी कवि निराला के काव्य का संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

कवि नैसर्गिक रूप से भावुक प्रवृत्ति का होता है। इस दृष्टि से कवि महाप्राण निराला की भावुकता उनकी मानवीय संवेदना को विराट बनाती है। यह उनके जीवन की परिस्थितियाँ, आत्मानुभव एवं चिंतन का परिणाम रहा है। वे जब दीन-हीन भिक्षुक को देखते हैं तो चुप नहीं रह पाते -

''पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दानो को - भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता -
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।''[1]

इसी प्रकार श्रमरत नारी का हृदयविदारक वर्णन वे अपनी कविता 'वह तोड़ती पत्थर' में करते हैं। उनकी कविता 'विधवा' में भी हमें मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है। उन्होंने निम्न वर्ग के लोगों और श्रमिकों का वर्णन 'आराधना' और 'अणिमा' की रचनाओं में किया है। उनका स्वर कभी-कभी क्रांति का उद्घोष करने लगता है -

''जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ।
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अंधेरे का ताला,
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।''[2]

उनकी कविताएँ प्रगतिवादी स्वर से युक्त हैं जो समतामूलक समाज की कल्पना करती हैं।

अन्य कवियों की ही भाँति निराला का भी अंतर्मन सौंदर्य के प्रति आकर्षित रहा है। उनकी कई रचनाएँ नारी सौन्दर्य एवं प्रकृति सौन्दर्य से युक्त हैं। उनकी कविता 'जूही की कली' नारी के रूप-चित्रण का साक्षात् उदाहरण है -

''निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झाड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिए गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती-''[3]

इसी प्रकार का मानवीकरण हमें उनकी अन्य कविता 'संध्या सुन्दरी' में दृष्टिगत होता है। उन्होंने 'प्रिय यामिनी जागी' में एक अलसायी नायिका का ऐसा ही रूप वर्णन किया है। प्रेम-निरूपण में निराला रूपकों की झड़ी लगा देते हैं। श्रृंगार रस पूर्ण इन पंक्तियों को देखें -

''मधु-ऋतु-रात, मधुर अधरों की पी
मधु पी सुध-बुध खो ली,
खुले अलक मुँद गए पलक दल,
श्रम-सुख की हद होली
बनी रति की छवि भोली।''[4]

उनकी कविताएँ 'सोचती अपलक आप खड़ी', 'स्पर्श से लाज लगी', 'प्राण धन को स्मरण करते', 'भावना रंग

दी तुमने', 'भ्रमर गीत', 'नयनों का नयनों से बन्धन' आदि संयोग श्रृंगार से परिपूर्ण रचनाएँ हैं। इसी प्रकार उन्होंने वियोग श्रृंगार का भी वर्णन किया है। 'प्रिया के प्रति', 'रंग गयी पग-पग धन्य-धरा', 'मरण दृश्य', 'सरोज स्मृति' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। एक मार्मिक वर्णन देख सकते हैं -

''मैं न कभी कुछ कहता,
बस, तुम्हें देखता रहता!
चकित, थकी, चितवन मेरी रह जाती
दग्ध हृदय के अगणित व्याकुल भाव
मौन दृष्टि की ही भाषा कह जाती।''[5]

महान आलोचक दूधनाथ सिंह लिखते हैं, ''उनकी कविता का केन्द्रीय भाव सुख, पावनता, आत्म तोष, आशीष और अंततः निष्कामता की चरम अनुभूति है।''[6]

इस युग के कवियों ने अपने अनुभवों को साझा करने के लिए प्रत्यक्ष या प्रतीकार्थ रूप में अभिव्यक्ति का सहारा लिया है। कवि अपनी निर्धनता आरै अभावों का वर्णन करते हुए लिखता है -

''किरण बालिका जहाँ विजन-उपवन-कुसुमों को जाँच रही थी,
जहाँ वसन्ती-कोमल-किसलय-वलयं-सुशोभित कर बढ़ते थे,
आज उसी जीवन-वन में घन अन्धकार छाया रहता है,
दमन-दाह से आज, हाय! वह उपवन मुरझाया रहता है!''[7]

वे जिस प्रकार कठोर श्रम करते थे उसका ्फल उन्हें नहीं मिलता था। 'सच है' कविता उनकी आत्माभिव्यक्ति को ही बयान करती है। इसमें उनकी असफलता और हताशा ही झलकती है। इसी प्रकार 'सरोज स्मृति' कविता में वह उन परिस्थितियों को स्वीकार करते हैं जिसमें वे अपनी पुत्री के प्रति कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं कर पाए थे। 'राम की शक्तिपूजा' में भी कहीं-न-कहीं उनकी आत्माभिव्यक्ति ही हुई है।

महाकवि निराला की कुछ कविताओं में हमें अतीत के प्रति आग्रह भी दिखलाई पड़ता है। उन्होंने बार-बार भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को शब्दबद्ध किया है, ''इस विकल्प की खोज में भारत के गौरवमय अतीत में बैठना और वहाँ से छान कर सांस्कृतिक पुनरुत्थान के किसी विकल्प को निकालना उन्हें अधिक सुविधाजनक लगता है।''[8]

उनकी कविता 'खंडहर के प्रति' ऐसी ही रचना है। इसमें राम-कृष्ण, भीम-अर्जुन एवं जैमिनि-पतंजलि-व्यास को कवि ने याद किया है। इसी प्रकार 'यमुना के प्रति' कविता में निराला कृष्णानंद को स्मरण करते हैं -

''किस दुर्गम गिरि के कन्दर में
डूब गया जग का निःश्वास?
उतर रहा अब किस अरण्य पर
दिनमणि-हीन अस्त आकाश?''[9]

'विश्व की ही वाणी प्राचीन', 'भगवान बुद्ध के प्रति' आदि कविताओं में कवि ने अतीत का गौरव-गान किया है।

महाकवि निराला ने अपने समकालीन विद्वानों का भी यश-गान किया है। 'आदरणीय प्रसाद जी के प्रति' कविता में न केवल उन्होंने जयशंकर प्रसाद बल्कि अन्य कवियों को भी स्मरण किया है। इसी प्रकार 'श्रद्धांजलि' में उन्होंने रामचंद्र शुक्ल के परिश्रम को याद किया है। 'देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के प्रति' कविता में वे देश के प्रथम राष्ट्रपति के सम्मुख नतमस्तक हैं। इसी प्रकार उन्होंने भक्तिकालीन कवि रविदास को भी अपनी भावांजलि अर्पित की है -

''छुआ पारस भी नहीं तुमने, रहे
कर्म के अभ्यास में, अविरत बहे
ज्ञान गंगा में, समुज्ज्वल चर्मकार
चरण छूकर रहा मैं नमस्कार।''[10]

निराला ने राजनेत्री विजयलक्ष्मी पंडित और अपनी सहयोगी साहित्यकार महादेवी वर्मा पर भी लेखनी चलाई है।

कोई भी लेखक या कवि अपने समय की परिस्थितियों या समस्याओं से निरपेक्ष नहीं रह सकता है। भगीरथ मिश्र लिखते हैं, ''निराला एक ऐसे कवि थे जिनकी आत्मा रात-दिन राष्ट्र के उत्थान की चिंता करने में, उसे सजाने-संवारने की पुरातन रूढ़ियों को झकझोर कर नवनिर्माण करने में संलग्न थी।''[11] निराला ने सुषुप्त जनता को अपने उद्‌बोधनात्मक कविताओं के द्वारा जागृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने अतीत का गौरव-गान किया तथा जड़ सामाजिक-धार्मिक प्रथाओं की आलोचना की। 'उद्‌बोधन' कविता में वे आह्‌वान करते हैं -

''छोड़, छोड़ दे शंकाएँ रे निर्झर-गर्जित वीर!
देख सामने, बना अचल उपलों को उत्पल,
प्राप्त कर फिर नीरव संतोष।''[12]

उनकी कविता 'बादल राग' हो चाहे 'वेदना' कथ्य उद्‌बोधनात्मक ही है। उनकी कविता 'मुक्ति' की इन पंक्तियों को देखें -

''तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की, निकलो फिर,
गङ्गा-जल-धारा!
गृह-गृह की पार्वती!
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती!''13

इसी प्रकार अपनी कविता 'जागो फिर एक बार' में उन्होंने देश की सुषुप्त जनता को अंग्रेजों से लोहा लेने का आह्‌वान किया है। इसमें देशवासियों से अपने वीर महापुरुषों को याद करते हुए अपनी जातीय श्रेष्ठता को याद करने की अपील की गई है -

''पशु नहीं, वीर तुम,
समर-शूर क्रूर नहीं,
काल-चक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँवर!
- समर-सरताज!''14

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की काव्य वाटिका में हर रंग और खुशबू के पुष्प खिले हुए हैं। उनका काव्य जगत मानवीय संवेदनाओं की विस्तृत भावभूमि का अवगाहन कराता है।

सहायक प्राध्यापक,
जाकिर हुसैन दिल्ली महाविद्यालय (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेलः pankajendrakishore@gmail.com

संदर्भ सूची

1. निराला रचनावली-1 (सं.-नन्दकिशोर नवल), पृ. 76-77.
2. निराला रचनावली-2 (सं.-नन्दकिशोर नवल), पृ. 167-168.
3. निराला रचनावली-1 (सं.-नन्दकिशोर नवल), पृ. 42.
4. वही, पृ. 226.
5. वही, पृ. 202-203.
6. निराला आत्महन्ता आस्था (दूधनाथ सिंह), पृ. 28.
7. निराला रचनावली-1 (सं.-नन्दकिशोर नवल), पृ. 92.
8. निराला आत्महन्ता आस्था (दूधनाथ सिंह), पृ. 124.
9. निराला रचनावली-1 (सं.-नन्दकिशोर नवल), पृ. 119.
10. निराला रचनावली-2 (सं.-नन्दकिशोर नवल), पृ. 83.
11. निराला काव्य का अध्ययन (भगीरथ मिश्र), पृ. 65
12. निराला रचनावली-1 (सं.-नन्दकिशोर नवल), पृ. 104.
13. वही, पृ. 360.
14 वही, पृ. 154

डॉ. रवि प्रभात

भ्यसो भ्यम् : एक व्याकरणिक समीक्षा

पाणिनीय व्याकरण अपनी वैज्ञानिक प्रविधि, व्यापक एवं व्यवस्थित चिन्तन के लिए विश्व में प्रख्यात है। मानव मस्तिष्क की सर्वोत्कृष्ट कृति के रूप में सर्वविदित पाणिनीय अष्टाध्यायी पर गहन अनुसन्धान प्राचीन काल से अद्यावधि निरन्तर क्रियमाण है। पाश्चात्य जगत् के अनुसन्धाता भी इस विमर्श का हिस्सा बन स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में पाणिनीय सूत्र 'भ्यसो भ्यम्' की व्याकरणिक दृष्टि से समीक्षा करने का प्रयास किया जा रहा है।

युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तरवर्ती चतुर्थी तथा पञ्चमी विभक्ति के बहुवचन 'भ्यस्' के स्थान पर आचार्य 'भ्यम्' आदेश का विधान करते हैं।[1] प्रकृत आदेश के फलस्वरूप 'युष्मद् + भ्यस्' इस स्थिति में 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र से भ्यम् आदेश तथा 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र से अन्त्य का लोप होकर 'युष्मभ्यम्' तथा इसी प्रकार 'अस्मभ्यम्' शब्द सिद्ध होता है।

आदेश-स्वरूप-विमर्श

भाष्यकार 'भ्यस्' के आदेशभूत 'भ्यम्' के विषय में विशेष विचार करते हैं। जिज्ञासा यह है कि विधेय 'भ्यम्' है अथवा 'अभ्यम्'[2] है, इस जिज्ञासा का मूल यह है कि 'भ्यम्' और 'अभ्यम्' दोनों स्थितियों में सूत्र का उच्चारण समान है। 'अभ्यम्' शब्द होने पर भी 'एङः पदान्तादति' (अष्टा. 6.1.109) से पूर्वरूप एकादेश होकर भ्यसोऽभ्यम् यह उच्चारण होगा तथा 'भ्यम्' आदेश होने पर भी 'भ्यसोऽभ्यम्' यही उच्चारण होगा।

कैयट द्वारा प्रस्तुत चार विधियाँ

इस विधि में भाष्यकार के अभिप्राय के अनुरूप कैयट आदेशभूत 'भ्यम्' के विषय में चार प्रकार की स्थितियों का निरूपण करते हैं।[3]

1. 'भ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र से अन्त्य का लोप स्वीकार करें।[4]

2. 'भ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से टि-भाग का लोप।[5]

3. 'अभ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से अन्त्य भाग का लोप।[6]

4. 'अभ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से टि-भाग का लोप।[7]

इन चारों पक्षों का विस्तृत विश्लेषण आगे किया जायेगा।

'भ्यम्' आदेश पक्ष में उपस्थित आक्षेप

सर्वप्रथम 'भ्यम्' आदेश पक्ष में उपस्थित होने वाले आक्षेपों पर विचार करते हैं, यदि 'भ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से अन्त्य भाग का लोप स्वीकार किया जाता है तो 'युष्मद् + भ्यम्' तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से अन्त्य भाग 'द्' का लोप होने पर 'युष्म+भ्यम्' यह स्थिति उत्पन्न होती है। युष्म+भ्यम् इस स्थिति मं 'बहुवचने झल्येत्' (अष्टा. 7.3.103) सूत्र से अदन्त युष्म से उत्तर झलादि बहुवचन 'भ्यम्' परे होने पर एत्व की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में युष्मेभ्यम्' इस प्रकार अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।[8]

यदि 'भ्यम्' आदेश और 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र से युष्मद् के 'टि' भाग के लोप को स्वीकार करते हैं तो युष्मद्+भ्यम् = 'युष्म्भ्यम्' इष्ट रूप सिद्धि नहीं हो पायेगी। इस पक्ष को प्रदीपकार ने अत्यन्त दुष्ट पक्ष कहा

है, क्योंकि रूप-सिद्धि नहीं हो पायेगी।[9]

'भ्यम्' आदेश पक्ष में प्रस्तुत समाधान

'भ्यम्' आदेश पक्ष में एत्व-सम्बन्धी आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार अङ्गाधिकार-सम्बन्धी एक परिभाषा[10] को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अङ्गाधिकार में कथित एक कार्य के हो जाने पर अन्य अङ्गाधिकारी कार्य नहीं होता।[11] 'युष्मद्+भ्यम्' यहाँ पर अन्त्य-लोप विधायक 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र भी अङ्ग-विधि है तथा एत्व विधायक सूत्र 'बहुवचने झल्येत्' (7.3.103) भी अङ्ग-विधि है अतः एक बार अङ्ग-विधि 'शेषे लोपः' के प्रवृत्त हो जाने के बाद पुनः एत्व-सम्बन्धी अङ्ग-कार्य प्रवृत्त नहीं होगा तथा इष्ट-सिद्धि हो जायेगी। ध्यातव्य है कि नागेशभट्ट उक्त परिभाषा को अनित्य मानते हैं।[12] ज्ञापक के रूप में वे 'किंयत्तदोर्निधारणे द्वयोरेकस्य डतरच्' (अष्टा. 5.3.92) सूत्र में आये हुए 'द्वयोः' इस पद को प्रस्तुत करते हैं। 'द्वयोः' शब्द की सिद्धि में 'द्वि+ओस्' इस स्थिति में अङ्गाधिकारीय 'त्यदादीनामः' (अष्टा. 7.2.102) सूत्र से द्वि को अत्व होने (द्व) पर, अन्य अङ्गाधिकारीय कार्य एत्व विधायक सूत्र 'ओसि च' (अष्टा. 7.3.104) प्रवृत्त होता है तब 'द्वे+ओस् झ द्वयोस् झ द्वयोः' इष्ट रूप सिद्ध होता है। नागेश का कथन है कि यह परिभाषा अनित्य है, परन्तु 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा के अनित्यत्व के बल को जानकर ही भाष्यकार ने इस परिभाषा के साथ 'निष्ठितस्य' शब्द का प्रयोग किया है (अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्य)[13] 'निष्ठितस्य' का अर्थ है 'परिनिष्ठितस्य' अर्थात् जिस अङ्ग-कार्य की प्रवृत्ति के बिना ही परिनिष्ठित (व्यवहार्य) प्रयोग बन जाता है, वहीं अङ्ग-कार्य एक अङ्ग-कार्य करने पर प्रवृत्त नहीं होता। अतः यहाँ पर भी यह परिभाषा नित्य रूप से प्रवृत्त हो जायेगी तथा 'एत्व' आदेश रूप अङ्ग-कार्य प्रवृत्त नहीं होगा।

'अभ्यम्' आदेश पक्ष में उपस्थित आक्षेप

'अभ्यम्' आदेश पक्ष की मीमांसा करते हुए कुछ दोष दृष्टिगोचर होते हैं। यदि 'अभ्यम्' आदेश तथा 'शेषे लोपः' सूत्र से टि-भाग का लोप स्वीकार करते हैं तो 'युष्मद्+अभ्यम्' में 'शेषे लोपः' सूत्र से टि-भाग का लोप होने पर 'युष्म्+अभ्यम्' यह स्थिति बनती है। यहाँ पर 'अभ्यम्' 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (अष्टा. 3.1.4) सूत्र से अनुदात है तथा 'युष्मद्' शब्द प्रातिपदिक स्वर की दृष्टि से 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि.सू. 1) फिट्-सूत्र के द्वारा अन्तोदात्त है। 'अभ्यम्' अनुदात्त के परे होने से जब 'युष्मद्' के अन्तोदात्त 'अद्' भाग का लोप होता है तो ऐसी अवस्था में अन्तोदात्त प्राप्त होगा। प्रदीपकार स्पष्ट करते हैं कि 'कर्षात्वतो घञोऽन्तोदात्तः' (अष्टा. 6.1.159) सूत्र से 'अन्त' पद की अनुवृत्ति 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (अष्टा. 6.1.161) सूत्र में होती है जिससे उसका अर्थ इस प्रकार होता है कि जिस अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप होता है उस अनुदात्त को भी अन्तोदात्त हो जाता है, इससे यहाँ पर 'युष्मभ्यम्' इसमें अन्तोदात्त की प्राप्ति होने लगती है जबकि मध्योदात्त इष्ट है।[14]

'अभ्यम्' आदेश पक्ष में प्रस्तुत समाधान

'अभ्यम्' आदेश और 'टि' लोप में अन्तोदात्त स्वर सम्बन्धी आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' सूत्र में उपरिनिर्दिष्ट सूत्र 'कर्षात्वतो घञोऽन्तोदात्तः' सूत्र से 'अन्त' पद की अनुवृत्ति नहीं आयेगी, अतः 'युष्मद् + अभ्यम्' इस स्थिति में अनुदात्त 'अभ्यम्' के परे रहते उदात्त 'अ' का लोप हो 'अभ्यम्' को आदि उदात्त ही होगा[15] जिससे कि 'युष्मभ्यम्' शब्द मध्योदात्त हो जायेगा तथा इष्ट-सिद्धि हो जायेगी।

ध्यातव्य है कि प्रदीपकार की दृष्टि में तृतीय पक्ष अधिक निर्दोष है जब 'अभ्यम्' आदेश तथा अन्त्य 'द्' का लोप होता है। 'युष्मद्+अभ्यम्' इस स्थिति में अन्त्य 'द्' का लोप होने पर 'युष्म अभ्यम्' होने पर अभ्यम् के अकार के कारण 'झल्' परक एत्व की प्राप्ति नहीं होती तथा अकार-उच्चारण के सामर्थ्य से सवर्णदीर्घत्व की भी प्राप्ति नहीं होती। युष्म+अभ्यम् इस अवस्था में 'अतो गुणे' (अष्टा. 6.1.96) सूत्र से पूर्व अकार को पररूप एकादेश होकर, 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (अष्टा. 8.2.5) सूत्र से उदात्त और अनुदात्त के एकादेश को उदात्त ही होता है इस नियम से 'युष्मभ्यम्' को मध्योदात्त हो जायेगा।[16]

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भ्यम् अथवा 'अभ्यम्' आदेश में किसको स्वीकार करें। काशिकाकार 'भ्यम्' आदेश का सिद्धान्त के रूप में स्थापित करते हैं तथा 'अभ्यम्' आदेश को 'केचित्' पद द्वारा निर्दिष्ट करते हैं।

इस सारी चर्चा में एक विशेष तथ्य ध्यातव्य है कि 'शेषे लोपः' (अष्टा. 7.2.90) सूत्र की दो प्रकार की व्याख्याओं के आधार पर ही यहाँ 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' आदेश की चर्चा होती है। 'शेषे लोपः' सूत्र की एक व्याख्या अन्त्य-लोप विधायक के रूप में होती है तथा

दूसरी टि-भाग के लोप विधायक के रूप में। काशिकाकार की शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें 'भ्यम्' आदेश ही अभीष्ट है। अत एव वे 'अभ्यम्' आदेश की चर्चा 'केचित्' पद के साथ करते हैं। भाष्य में इस तरह का कोई सङ्केत प्राप्त नहीं होता। पदमञ्जरीकार भी 'केचित्' पद की व्याख्या 'येषां मते तु' इस प्रकार करते हैं जिससे अन्य आचार्यों का ही बोध होता है। भट्टोजिदीक्षित 'भ्यम्' और 'अभ्यम्' दोनों ही आदेश वैकल्पिक रूप से स्वीकार करते हैं।

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,
रोहतक

संदर्भ सूची

1. अस्य च न्यासस्य शित्करणमेव ज्ञापकमिति बोध्यम्।
   - म.भा.प्र.उ. 7.1.27, VI. 31
2. भ्यसो भ्यम्। - अष्टा. 7.1.30
3. चत्वारोऽत्र पक्षाः सम्भवन्ति।
   - म.भा.प्र. 7.1.30, VI. 33
4. भ्यमादेशः, शेषे लोपोऽन्त्यलोपः।
   - वही
5. भ्यमादेशः, शेषे लोपष्टिलोपः।
   - वही
6. अभ्यमादेशः शेषे लोपोऽन्त्यलोपः।
   - वही
7. अभ्यमादेशः शेषे लोपष्टिलोपः।
   - वही
8. यदि तावद् भ्यम्शब्दः शेषे लोपश्चान्त्यस्य एत्वं प्राप्नोति।
   - म.भा. 7.1.0, III. 252
9. तदेवं द्वितीयपक्षोऽत्यन्तदुष्टः।
   - म.भा. 7.1.0, VI. 34
10. अङ्गवृत्तेपुनर्वृत्ताविधिः।
    - परि. 93
11. नैष दोषः अङ्गवृत्तेपुनर्वृत्ताविधिर्निष्ठितस्येति न भविष्यति।
    - म.भा. 7.1.30, III. 252
12. (क) इयं चानित्या 'द्वयोः' इतिनिर्देशात्।
    - परि. 93, पृष्ठ 601
    (ख) अनित्यत्वबललभ्यार्थमादायैव 'भ्यसोभ्यम्' सूत्रे भाष्ये निष्ठितस्येति पठितम्।
    - वही
13. म.भा. 7.1.30, III. 252
14. कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्त इत्यतोऽन्तग्रहणमनुदात्तं तस्य च यत्रोदात्तलोप इत्यत्रानुवर्त्तते, ततश्चाऽन्तोदात्तं पदं प्राप्नोति, मध्योदात्तं चेष्यते।
    - म.भा.प्र. 7.1.30, VI. 34
15. नैष दोषः। आदौ सिद्धमिति।
    - म.भा. 7.1.30, III. 252
16. अभ्यमादेशे शेषे लोपेऽन्त्यलोपे च द्वयोरकारयोः पररूपमेकादेश उदात्तेनोदात्त इत्यदात्तत्वं भवति। युष्मदस्मदोः प्रातिपदिकस्वरेण प्रत्ययस्वरेण वाऽन्तोदात्तत्वात्। टिलोपपक्षे चाऽकारोच्चारणमर्थवत् अन्त्यलोपेऽप्येत्वनिवृत्त्यर्थमिति अकारोच्चारण-सामर्थ्यात् सवर्णदीर्घत्वेन भाव्यमिति न चोदनीयम्। तृतीयस्तु निर्दोष इति तत्परिहारेण पक्षद्वयाश्रयो भाष्ये विचारः।
    - म.भा.प्र. 7.1.30, VI. 33

शोध-पत्र

डॉ. भारती

पद्मावत और सार्वभौमिक मानव मूल्य

मध्ययुगीन सामन्तवादी, रूढ़िवादी और धार्मिक संक्रमण के युग में जायसी कृत पद्मावत सार्वभौमिक मानव मूल्यों को स्थापित करने वाला महाकाव्य है। सार्वभौमिक मूल्यों से तात्पर्य उन मूल्यों से है जिसकी प्रासंगिकता प्रत्येक भौगोलिक परिवेश, अतीत वर्तमान एवम् भविष्य के कालखंड में भी है। महान और कालजयी कविता वही होती है जो मनुष्य के अस्मिता के संकट के समक्ष और मानवता के अपमान करने वाले तत्वों के समक्ष प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। यही नहीं महान कविता मानवीय एकता, सामाजिक समरसता और समन्वयता की भावना को विस्तार देती है। लोक जागरण की पक्षधरता के स्वर को मुखर करती है। जायसी कृत पद्मावत मनुष्य-मनुष्य के भेद को मिटाकर प्रेम का पाठ पढ़ाती है। प्रेम मनुष्य की संकीर्णताओं का धुर विरोधी होता है। मानव धर्म में ही सभी धर्मों का समन्वय होता है। इसीलिये जायसी सामान्य मानव मूल्यों को स्थापित करने में विश्वास करते हैं। कवि की दृष्टि में रत्नसेन और अलाउद्दीन का संघर्ष दो जातियों की टक्कर नहीं, बल्कि दो आदर्शों की टक्कर है, जो सामान्य मानव जीवन में सदा रहती हैं। इस दृष्टि से देखने पर जायसी का काव्य ऐतिहासिक पात्रों को शाश्वत मानवीय प्रतीकों के रूप में ग्रहण करता है और उन्हें प्रकाश और अंधकार, सत्य और असत्य के नित्य द्वंद्व से ऊपर उठा कर मानव मूल्य के ऊँचे धरातल पर पहुँचा देता है। जायसी के अनुसार संसार में भौतिक स्वरूप ही नष्ट होता है लेकिन मनुष्य के मूल्य, मानवीय प्रेम सदा-सदा के लिए अमर हो जाते हैं। इसलिए रत्नसेन, पद्मावती, अलाउद्दीन, राघव चेतन सभी को काल ने ग्रस लिया लेकिन हिन्दू मुस्लिम प्रेम की पीड़ा की अनुभूति ऐतिहासिक सामाजिक और मानसिक स्तर पर अमर हो गई। जिसकी अभिव्यक्ति पद्मावत कृति में जायसी करते हैं–

''कोई न रहा जग रही कहानी।''[1]

मानव का मानव के प्रति प्रेम ही बैकुंठ मानने वाले जायसी के लिए प्रेम ही सबसे बड़ा मानव मूल्य है। मानवीयता को महत्व देने के कारण ही जायसी कथा को धर्म की परिधि से निकाल कर लोक की परिधि में लाए। वह ऐसे मानव मूल्यों की स्थापना करते हैं जो न केवल इस्लाम के लिए हैं और न केवल हिन्दुओं के लिए, बल्कि इन सबसे परे मनुष्य के लिए हैं। जिसके लिए केवल भक्ति भाव से काम नहीं चलता अपितु भक्ति में दृष्टि भी आवश्यक है। यह दृष्टि ही सत्य के आलम्बन को खोजने में सहायक है जिसके अनुसार ईश्वर घट-घट में बसता है। यही दृष्टि ही परहित को सबसे बड़ा धर्म और परपीड़ा को सबसे बड़ा अधर्म सिद्ध करती है। इसीलिये जायसी भी वर्ण और धर्म व्यवस्था वाले इस समाज में सभी मनुष्यों को समान बताते हैं और सबमें उस ईश्वर का अंश पाते हैं। मन की इसी उदार स्थिति में पहुंचने के कारण जायसी के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों एक जैसी सम्प्रीति और सहानुभूति के भाजन बन गए थे। मध्य युगीन भक्त कवियों का दृष्टिकोण मानव धर्मी है। आज के धार्मिक असहिष्णुता के माहौल में जायसी,

कबीर, चंडीदास तुलसी का मानव धर्म एक श्रेष्ठ उदाहरण है। इस मानव धर्म का आधार वह मानवीय प्रेम है। जो मनुष्य को मुट्ठी भर धुल से ऊपर उठा कर बैंकुंठी बनाता है। जिस व्यक्ति के हृदय में प्रेम नहीं वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हैं। जायसी के लिए मनुष्य सत्य ही सर्व प्रमुख है जिसका आधार प्रेम है, उनके अनुसार सत्य से कायर भी शूरवीर बन जाते हैं यह मानुष सत्य केवल हठ योग साधने और धार्मिक आडम्बरों से नहीं ज्ञात होता इसके लिए 'अनभे सांचा' अथवा अनुभूत सत्य की आवश्यकता है। आत्म ज्ञान ही वह माध्यम है जिससे सच्चे मानव धर्म की पहचान हो सकती है।

''पाइअ नाहिं जूझि हठी कीन्हे।
जेई पावा तेई आपुहि चीन्हें।''[2]

मध्ययुगीन समाज के कवियों में स्त्रियों के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण देखा गया है। एक तरह से ये कवि भी सामंतवादी मनोवृत्ति को पुरुष वर्ग के लिए तो गलत मानते थे, लेकिन स्त्रियों के लिए इस व्यवस्था को अहितकर न मानते हुए उसी व्यवस्था के मानदंडों को स्थापित करने में नहीं हिचकते थे। वहाँ स्त्रियाँ केवल भोग्या या माया के रूप में ही चित्रित है। वह भी एक मनुष्य है इसीलिये उसे भी अन्य पुरुष वर्ग के समान ही सब अधिकार मिलने चाहिए इस बात पर कबीर तुलसी जैसे कवि भी अपना साकारात्मक दृष्टिकोण नहीं दे पाए। उनके अनुसार तो स्त्री ढोल, पशु, गंवार के समान ताड़न की अधिकारी है अथवा वह माया का प्रतिरूप है। जिसकी छाया से साँप भी अँधा हो जाता है। वहीं हमें जायसी इसके अपवाद लगते हैं, उन्होंने न केवल सामन्ती वर्ग में स्त्रियों की दुर्दशा का वर्णन किया अपितु मनुष्य होने के नाते उसके प्रति गहरी सहानुभूति भी प्रदर्शित की है। यहाँ पद्मावत और नागमती दो स्त्रियाँ हैं। दोनों ही जायसी की समझ में मनुष्य भी हैं। इसलिए दोनों के प्रति जायसी का नजरिया भी मानवीय संवेदना से पूर्ण है। पद्मावती तो यहाँ अध्यात्म सत्ता का प्रतीक है। उसकी प्राप्ति के लिए ही रत्नसेन रूपी आत्मा जोगी का रुप ग्रहण कर अपना राज पाट छोड़कर चल देती है। यह सूफी प्रेमाख्यानों का अलौकिक पक्ष है। इसके व्यापक प्रचार के लिए ही कवि ने पद्मावत की रचना की है। लेकिन इसके साथ ही हम जायसी के मानववादी दृष्टिकोण की झलक भी पाते हैं। पद्मावती ब्रह्म का प्रतीक होकर भी मानव पहले है इसलिए मानवीय गुणों और अवगुणों से रहित नहीं है। जहाँ उसमें परम सत्ता के रूप के दर्शन जायसी जगह-जगह करते हैं–

''नैन जो देखे कँवल भए निरमर नीर सरीर
हँसत जो देखे हंस भए दसन जोति नग हीर।''[3]

वहीं मनुष्य होने के नाते पद्मावती में 'सौतिया दाह' की जलन का नागमती विवाद खंड में कवि ने विस्तार से वर्णन किया है। पद्मावती और नागमती एक दूसरे को न केवल अपशब्दों से बेधती हैं वरन् दोनों गुत्थमगुत्था होकर भी लड़ने लगती हैं। यहाँ यह वर्णन इसीलिए है कि पद्मावती केवल ब्रह्म नहीं मनुष्य भी है और मनुष्य होने के कारण उसमें दुर्बलताएँ भी हैं–

''पद्मावती सुन उतर न सही।
नागमती नागिन जिमि गही।''
''ओइं ओहि कहँ ओइं ओहि कहँ गहा।
गहा गहनि तस जाइ न कहा।''[4]

पद्मावती जब अपने पति रत्नसेन से बिछुड़ जाती है तब वह बिलकुल सामान्य स्त्री के समान ही असहाय और दुखी दिखाई देती है।

''गगन धरति जल पुरि चखु बूडत होई निसासुं''[5]

इसी प्रकार 'पद्मावती नागमती विलाप' खंड में पद्मावती का विलाप कवि ने दिखाया है। जायसी कहते हैं वह अपने स्वामी के बिना ऐसे दुखी हुई जैसे कमल की बेल जल के बिना सूखने लगती है। वह कहती है कि प्रियतम की मुझसे गाढ़ी प्रीति थी, पर दिल्ली जाकर जैसे वह निश्चिन्त होकर बस गए हैं। कोई वहाँ से नहीं लोटता, वह ऐसा निष्ठुर देश है, किससे पूंछु। कौन वहाँ संदेश ले जाएगा। जो जाता है वहीं का हो रहता है। आगे जायसी उसकी करुण स्थिति पर लिखते हैं-

''नैन डोल भरि ढारै हिए न आगि बुझाइ
घरी-घरी जिउ बहुरे घरी-घरी जाइ।''[6]

पद्मावत का सामूहिक 'जोहर' भी सामन्ती समाज में नारी को मनुष्य नहीं मानने का प्रमाण है क्योंकि वह सिर्फ वह सिर्फ भोग का साधन है। इसलिए उसके पास उसके अस्तित्व व स्त्रीत्व की रक्षा के लिए जोहर करने के अलावा और कोई उपाय नहीं। जहाँ एक तरफ जायसी 'पद्मावती नागमती सती खंड' में दोनों रानियों के जोहर को महिमा मंडित करते हैं और उन्हें सती सिद्ध करते हैं-

''नागमती पद्मावती रानी। दुवौ महासत सती बखानी।''[7]

वहीं इससे सामन्ती समाज के अमानवीय आचरण को भी बेनकाब करते हैं। जहाँ स्त्री को मानव होने के नाते समानता का अधिकार नहीं अपितु स्त्री होने के दंड स्वरूप उसे आत्मदाह करना ही होगा। मानव मूल्य के रूप में मनुष्यता की स्थापना करना जायसी का उद्देश्य रहा होगा लेकिन वह स्पष्ट शब्दों में उसकी उद्घोषणा पद्मावत में नहीं कर पाए। पद्मावती का सामूहिक जोहर कहीं हमें हमारे मूल्यों को एक बार फिर से मूल्यांकित करने का संकेत देता है। यहीं जायसी अपने समकालीनों में महत्वपूर्ण बन जाते हैं। जायसी सामन्ती समाज में स्त्री के प्रति पुरुष का उपेक्षात्मक दृष्टिकोण रत्नसेन की अनेक उक्तियों के माध्यम से प्रदर्शित करते हैं यथा–

''तुम्ह तिरिया मति हीन तुम्हारी मुरुख सो जो मते घर नारी।''[8]

अथवा

''काह कहो ओहि पिय कह मोहि पर धरेसि अंगार।
तेहि के खेल भरोसें तुई जीता मोरी हार।''[9]

सामन्ती समाज में स्त्री के प्रति उपेक्षा को ही जायसी नहीं दिखाते, अपितु उसके प्रति उनका मानवीय दृष्टिकोण भी सामने आता है जब वह नागमती से पुरुष की चंचल प्रवृत्ति पर कटाक्ष करवाते हैं। वह स्पष्ट शब्दों में उस सामन्ती पुरुष समाज को सीख देना चाहते हैं कि प्रेम सम्बन्धों में स्थिरता और ईमानदारी का होना अत्यंत आवश्यक है–

''भवे भलेहिं पुरुषंह के डीठी।
जिन्ह जाना तिन्ह दीन्ही न पीठी।''[10]

पद्मावत के प्रतीक तत्व में नागमती (माया) का प्रतीक है। लेकिन नागमती के प्रति पाठक के गहरी सहानुभूति अर्थात् माया के प्रति सहानुभूति जायसी क्यों बटोरना चाहते हैं। स्पष्ट है नागमती केवल एक रूपक नहीं वह मानव भी है साथ ही वह पूरी सामन्ती पुरुष सत्तात्मक समाज की उपेक्षा का शिकार है। वह नागमती जिसे कभी अपने सौन्दर्य पर अभिमान था–

''भलेहि सो और पिआरी नाहाँ।
मोरे रूप कि कोई जग माहाँ।''[11]

वही नागमती पुरुष सत्तात्मक समाज के धोखे और उपेक्षा का शिकार होकर कहती है –

''काह कहौं ओहि पिय कहँ मोहि पर धरेसि अँगार।
तेहि के खेल भरोसें तुई जीता मोरि हार।''[12]

अथवा

''मैं पिय प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिय माँह
तेहि रिसि हौं परहेलिउ निगड रोस किअ नांह।''[13]

'नागमती वियोग खण्ड' जायसी की मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रतिफलन है। जायसी नागमती को केवल माया का रूपक ही नहीं मानते अपितु उसे मनुष्य भी मानते हैं। इसलिए परिस्थिति विशेष में उसे सहानुभूति भी चाहिए। मनुष्य होने के कारण उसने जो सामन्तीय समाज की यातनाएँ सही हैं उसी के कारण जायसी नागमती के प्रति सहानुभूति का चित्रण करते हैं। इससे पद्मावत का रूपक टूटता है। विचारधारा टूटती है। यह सहानुभूति जायसी पद्मावती और नागमती दोनों को प्रदान करते हैं। पद्मावती ब्रह्म का रूपक होकर भी मानव सुलभ दुर्बलताओं से युक्त हैं। जायसी के लिए मानवीयता महत्वपूर्ण है इसीलिये जायसी विचार धारात्मक विसंगति का खतरा उठा कर भी मनुष्य के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। यहीं जायसी अपने समकालीन कवियों में महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

जायसी ने धर्म को उत्तुंग शिखर से उठाकर ठोस जमीन पर लोक जीवन से जोड़ दिया और उसके साथ ही धर्म को मनुष्यता से से जोड़कर उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार उन्होंने जिस नूतन मानव-धर्म की प्रतिष्ठा की वह लोक धर्म ही नहीं अपितु विश्व - धर्म में परिणत हो गया। लोक-धर्म को साधने के लिए ही जायसी पद्मावत की कथा को धर्म की परीधि से बाहर लोक की परीधि में ले आते हैं। जो कथा सभी मनुष्यों के लिए हितकारी हो उसी से अपनी बात जायसी कहते हैं इसीलिए पद्मावत की कथा का उद्देश्य 'प्रेम की पीर' का वर्णन करने के साथ ही मनुष्य की तृष्णा का भी अंत करना है। अलाउद्दीन खिलजी की हार के माध्यम से जायसी प्रमाणित कर देना चाहते हैं कि जब तक मनुष्य के ऊपर धुल नहीं पड़ती तब तक उसकी तृष्णा का अंत नहीं होता उसने एक मुट्ठी राख उठा ली और यह पृथ्वी झूठी है, कहते हुए हवा में उड़ा दी। -

''छार उठाई लीन्हीं एक मूंठी।
दीन्हि उड़ाई पिरिथमी झूठी
जौ लगि ऊपर छार न परई।

तब लगि नाहिं जो तिरना मरई।''[14]

इसी सम्बन्ध में जायसी की धार्मिक सहिष्णुता अविस्मरणीय है। इस्लाम धर्म में दीक्षित होने पर भी वह लोक में प्रचलित कथा को अपने काव्य का आधार बनाते हैं। वह भारतीय लोक मानस के अत्यंत निकट थे। गाँव में रहने वाली जनता के मानसिक धरातल के अनुकूल ही जनता की उक्तियाँ, भावनाएँ, और मान्यताएँ मानों स्वयं छंद में बंधकर उनके काव्य में गूँथ दी गई हैं। तुलसी का रामचरित मानस उस समय तक अस्तित्व में नहीं आया था किन्तु राम कथा भारतीय ग्रामों में लोगों की जिह्वा पर थी। जायसी ने लोक के स्तर से ही राम कथा का संग्रह करके पद्मावत में इतनी बार उल्लेख किया है कि पद्मावत सूफी काव्य न होकर हिन्दू ग्रंथ होने का ही भ्रम देने लगता है। न सिर्फ राम कथा अपितु अनेक भारतीय पौराणिक पात्रों जैसे कर्ण, विक्रम, बली, अर्जुन, द्रोपदी को कवि ने अपना वर्ण्य-विषय बनाया। हनुमान, राजा भृर्तहरि, गोपीचंद, गोरा पार्वती, महादेव आदि वर्ण्य सामग्री को जायसी ने लोक से ही उठाकर पद्मावत में प्रस्तुत किया है। राम कथा के उदाहरण तो जगह-जगह भरे पड़े हैं-

'राधों जो सीता संग लाई।
रावन हरी कवन सिधि पाई'[15]

अथवा

''तहूँ एक बाउर में भेंटा। जैसे राम दशरथ कर बेटा
भाइन्ह मांह होइ जनि फूटी घर के भेद लंक असि टूटी।''[16]

वस्तुतः इस प्रकार की लोक प्रचलित उक्तियों को कवि ने सीधे अपने वर्ण्य विषय का हिस्सा बनाया। इस सम्बन्ध में वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन दृष्टव्य है-

''इन्होंने इस्लाम धर्म को विचारों के एक नए साँचे में ढाल दिया जिसमें भारतीय धर्म-परम्परा के साथ इस्लामी विचारों का उदार समन्वय हो गया। कायासाधन, ध्यान उपवास, व्रत, नामजप, गुरुमहिमा, आत्म की परमात्मा के साथ एकता, पिंड और ब्रह्माण्ड की एकता, हृदय कमल या हृदय गुफा में ईश्वरीय ज्योति का दर्शन, साक्षात्कार द्वारा अनुभव, ईश्वर के प्रति गाढ़ अनुराग, उसकी प्राप्ति के लिए आतुर साधक की साधना, और आत्मा परमात्मा के बीच स्त्री पुरुष की प्रेम पद्धति की सर्वात्मना स्वीकृति - ऐसी कितनी ही युक्तियों, परिभाषाओं और मान्यताओं का जनता में प्रचार करते हुए सूफी संतों और कवियों ने धर्म, दर्शन और काव्य की त्रेधा शक्ति को एक में मिलाकर समाज में ऐसी नवीन प्रेरणा को जन्म दिया जिसकी सरसता, उदारता और प्रत्यक्ष प्रभाव ने जनता पर मोहिनी सी डाल दी। इन धर्म गुरुओं की बड़ी शक्ति इनकी भाषा सम्बन्धी नीति थी। अवधी भाषा को इन्होंने खुलकर अपनाया। उसे इन्होंने 'हिन्दुई' कहा है। वही इनके और जनता के बीच का माध्यम बनी। गाँवों में रहने वाले करोड़ों हिन्दू मुसलमानों के लिए वही सुलभ साधन थी जिसके द्वारा उनकी अक्षर से भेंट हो सकती थी।''[17]

धर्म तथा भक्ति का स्वर प्रधान होने के साथ ही मनुष्य के भौतिक तथा लौकिक जीवन को स्वीकृति प्रदान करने के कारण पद्मावत लोक जीवन का काव्य हो गया है। आचार्य शुक्ल के अनुसार-

''जायसी एकान्तिक प्रेम की गूढ़ता और गम्भीरता के बीच में जीवन के और अंगों के साथ भी उस प्रेम के सम्पर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गए हैं। इससे उनकी प्रेम गाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विछिन्न होने से बच गई है। उसमें भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनों शैलियों का मेल है।''[18]

जायसी जहाँ पद्मावत में मनुष्य जीवन के लिए अध्यात्म को सर्वोपरि मानते हैं वहीं वह मनुष्य के लौकिक जीवन को भी उतना ही महत्व प्रदान करते हैं। जैसे सूफी मान्यता के अनुसार मनुष्य सांत और अनंत का मिश्रित रूप है। उसमें मर्त्य और अमृत दोनों तत्वों का समावेश है। एक ओर वह मानव है दूसरी ओर उसमें देवी अंश का निवास है। प्रेम से पवित्र होकर ही वह अपने स्थूल सीमा भाव से मुक्ति पाता है। प्रेम की साधना से मानवी और देवी स्वरूप के बीच का अंतर मिट जाता है। जायसी ने इसी तत्व को इस प्रकार कहा है-

मानुस पेम भएउ बैकुंठी।
नाहित काह छार एक मूठी[19]

अर्थात् प्रेम की सहायता से मनुष्य अपने दिव्य आत्म भाव के साथ समरस बनता है इस सबके साथ ही मनुष्य के ग्राहिस्थक जीवन को भी कवि ने कम महत्व प्रदान नहीं किया। यथा बच्चे के जन्म पर उसकी छठी पूजन, नामकरण और जन्म पत्री फल वर्णन, राजा रत्नसेन के घर बार छोड़कर चलने पर माता का अनुरोध, रानियों का

करुण विलाप, विवाह का मंगलाचरण और भांवर, बारात के जेवनार, नाना भांति के व्यंजन तथा अंत में नागमती संदेश खंड वास्तव में मनुष्य के जीवन के भौतिक पक्ष को भी पूर्णत महत्व प्रदान करते हैं। स्पष्ट है कि पद्मावत मनुष्य की सहज आकांक्षाओं तथा आत्म विश्वास की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मन्तव्य स्पष्ट है-

''जायसी ने यद्यपि इश्क के दस्तानवाली मसनवियों के प्रेम के स्वरूप को प्रधान रखा है पर बीच-बीच में भारत के लोक व्यवहार संलग्न स्वरूप का भी मेल किया है। इश्क की मसनवियों के समान पद्मावत का लोक पक्ष शून्य नहीं है। राजा जोगी होकर घर से निकलता है, इतना कहकर कवि यह भी कहता है कि चलते समय माता और रानियाँ दोनों उसे रोकर रोकती हैं।''[20]

पद्मावत में जायसी जाति वर्ग सम्प्रदाय में विभक्त होते मानव समाज को प्रेम, क्षमा, करुणा, शील, त्याग, अहिंसा, विनय, नम्रता, साहस, अपकार के बदले उपकार जैसे मूल्य देना चाहते हैं। इसके लिए मनुष्य के नैतिक आदर्शों का भी प्रतिपादन करते हैं। 'राजा सुआ संवाद खण्ड' में भोग और योग में अंतर स्पष्ट करते हुए प्रेम की राह को अत्यंत कठिन बताते हैं–

''कठिन पेम सिर देई तौ छाजा।''[21]

जायसी ने काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदि की निंदा की वहीं सत्य, दया, प्रेम, परोपकार आदि का महत्व भी बताया। कवि दान महिमा, नम्रता, दु:ख की घोरता, साहस आदि का भी बड़ा-चढ़ा कर वर्णन करते हैं। यथा दान और सत्त के सम्बन्ध में जायसी कहते हैं-

''दत्त सत्त एई पाप संघाती।
संची कै मरैआन कै थाती।''[22]

''सत जो कीन्ह साहस सिधि पाए।''[23]

यही नहीं कण-कण में एक ही परम तत्व के विद्यमान होने की अप्रतिम आस्था कवि जागृत करता है। इस ब्रह्मांड में मानव समाज के अतिरिक्त जीव-जन्तुओं वनस्पति जगत का भी अपना संसार है। मनुष्य का इन सबके साथ घनिष्ट सम्बन्ध भी होता है। आज जब प्रकृति के असंतुलन एवं वैषम्य के कारण विश्व मानव समुदाय के अस्तित्व का संकट छाया हुआ है ऐसे समय में प्रकृति के प्रति प्रेम विश्व मानवता के प्रति प्रेम ही है गोरखनाथ ने कहा था–''जोई-जोई पिंडे सोई ब्रह्मांडे'' उसी आधार पर जायसी कहते हैं-

''सब कर मरम गोसाईं जानई जो घट घट मंह निंत।''[24]

देश काल और समय की सीमा से परे जायसी का पद्मावत मानव मात्र के कल्याण, विश्व बन्धुत्व के व्यापक उद्देश्य को पूर्ण करता है। जायसी के अनुसार मनुष्य का भौतिक स्वरूप नश्वर है। सिर्फ मानवीय प्रेम ही है जो चिर स्थायी है। मानवीयता इस प्रेम का बीज है। इसलिए मनुष्य को लालच, अहम्, क्रोध, ईर्ष्या जैसे संकीर्ण विचारों का त्याग कर सत्य एवम् प्रेम के पथ पर चलना चाहिए क्योंकि अंतत: सभी को इस मिट्टी में ही मिल जाना है। जायसी अपनी बात को प्रमाणिक बनाते कहते हैं कि कहाँ गया वह दिल्ली का अहंकारी सुल्तान अलाउद्दीन, कहाँ गया राघव चेतन जिसने पद्मनी का शाह से बखान किया, कहाँ है रत्नसेन, कहाँ है वह सुग्गा, कहाँ है वह सुन्दरी रानी पद्मावती, अर्थात् कोई नहीं बचा काल ने सबको अपना ग्रास बना लिया। केवल जगत में कहानी भर रह गई। इसीलिए वही पुरुष धन्य है जिसका सद्भाव, प्रेम, मानवीयता का यश व कीर्ति संसार में विद्यमान है। फूल मर जाता है उसकी गंध नहीं मरती इस वाक्य को कहकर जायसी समय का सबसे बड़ा मूल्य हमारे सामने रखते हैं कि मनुष्य का शरीर नश्वर है लेकिन उसकी मानवीयता फूल की गंध के समान है जो चिर स्थायी है वह यश ही मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है जिसे मनुष्य अपने कर्मों से अर्जित करता है-

''केई न जगत जस बेंचा, केई न लीन्ह जस मौल
जो यह पढ़ें कहानी हम सँवरे दुइ बोल।''[25]

एसोसिएट प्रोफेसर
कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पद्मावत, लोक भारती प्रकाशन पृष्ठ संख्या -713
2. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 205

3. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 65
4. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 455
5. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 419
6. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 633
7. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 710
8. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 127
9. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 453
10. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 127
11. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 81
12. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 453
13. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 87
14. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 712
15. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 130
16. उपरोक्त पृष्ठ संख्या 418
17. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 36
18. शुक्ल, राम चन्द्र, जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, नमन प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 39
19. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पद्मावत, लोक भारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 159
20. शुक्ल, राम चन्द्र, जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, नमन प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 38
21. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पद्मावत, लोक भारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 95
22. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 392
23. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 151
24. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 8
25. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या 713

शोध-पत्र

पाली जिले का सांस्कृतिक वैभव एवं साहित्य सृजन परम्परा : ऐतिहासिक अध्ययन

आईदान सिंह

संस्कृति आत्मा की वस्तु है तो आत्मिक उत्कर्ष की सीढ़ी और आत्मदर्शन का मार्ग भी है। सभ्यता का उत्थान मानव को भौतिकवाद की ओर ले जाता है, जबकि संस्कृति मानव को अन्तर्मुखी करके उसके साहित्यिक गुणों को प्रकट करती है। संस्कृति की आत्मा के बिना सभ्यता का शरीर शव की भांति निष्प्राण है। मुनिश्री विद्यानन्दजी ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'पिच्छी कमण्डलु' के पृष्ठ 166 पर बताया है कि संस्कृति समाज तथा व्यक्ति को सुधारती है और उज्ज्वलता प्रदान करती है। आत्म-धर्म का जागरण संस्कृति के मंगल-प्रभात में होता है।

प्राचीनकाल से ही भारत देश सभ्यता और संस्कृति का संगम रहा है। यहाँ मानव संस्कृति के विविध प्रतीक विभिन्न कलाकृतियों के रूप में कलाकारों की तुलिकाओं और लेखनियों से सृजित हुए हैं जो अनित्य भौतिक-समृद्धि पर चिरन्तन सौन्दर्य का जयघोष करते हैं। भारत का गौरवशाली राजस्थान प्रदेश भी सांस्कृतिक सम्पदा से सदा समृद्ध रहा है। जैसलमेर, रणकपुर, आबू, चितौड़ आदि के कलात्मक मन्दिर, दुर्ग तथा विभिन्न कलाकृतियाँ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। सुप्रसिद्ध अंग्रेज कला विद् फर्गूसन ने इनको देखकर आश्चर्य विमूढ़ होकर कहा था-ऐसी कलाकृतियों को अलादीन का चिराग भी निर्मित नहीं कर सकता।

राजस्थान का पाली जिला अनुपम सांस्कृतिक वैभव के लिए सुविख्यात है। यहाँ के मंन्दिर मठ, गुफाएँ वित्तिचित्र आदि इस प्रदेश के निवासियों की सांस्कृतिक सुरूचि को उद्भाषित करते हैं।

पाली जिले का सांस्कृतिक वैभव जहाँ एक तरफ कलात्मकता की सर्वश्रेष्ठ उदाहरण वहीं दूसरी तरफ धार्मिकता, आध्यात्मिकता एवं गौरव की अभिव्यक्ति है जो तात्कालिक समय की स्थापत्य, मन्दिर निर्माण, मूर्ति शिल्प व दुर्ग निर्माण कला एवं आस्था एवं श्रद्धा के अनुपम प्रतीक है रणकपुर आदिनाथ जिनालय, वरकाना मूछाला महावीरजी, नारलाई तीर्थ, जैन स्थापत्य व धार्मिक श्रद्धा को संजोये हुये हैं। वहीं सूर्य मन्दिर रणकपुर व भाटून्द, निम्बोरानाथ मन्दिर, परशुराम महोदव सादड़ी, सोमनाथ मन्दिर पाली, आशापुरा मन्दिर नाडोल, कामेश्वर व सुगाली माता मन्दिर आऊवा एवं सरस्वती प्रतिभा निम्बाज, विद्यादेवी पेरवा, सुगाली माता आऊवा ये हिन्दू धर्म के धार्मिक आस्था एवं कलात्मक सृजनता के प्रतीक हैं।

यहाँ कि सांस्कृतिक विरासत धार्मिकता के साथ शौर्य के प्रतीकों के रूप में भी विद्यमान है। जिसके अद्वितीय उदाहरण बाली दुर्ग, सोजत दुर्ग, गिरि सुमेल युद्ध स्थल, पुरातात्विक स्थल जूनाखेड़ा (नाडोल) इत्यादि हैं।

यहां के लोक-गीत, नाटक, मेले एवं लोक-नृत्य यथा तेरहताली नृत्य पादरला, कच्छी घोड़ी नृत्य दल मुण्डारा, डंडिया गैर मादा ग्राम, बूसी का राग-नृत्य, भीलों का घूर नृत्य, गरासियों का गौर नृत्य आदि लोक संस्कृति के विभिन्न स्वरूपों को समेटे हुये हैं।

पाली जिले के सांस्कृतिक वैभव के साथ-साथ शौर्य एव भक्ति के अमर कवियों ने साहित्य सृजन परम्परा को भी समृद्धता प्रदान की है। पाली जिले के कूडकी ग्राम में जन्मी मीराबाई जन्म (1504-1565) ने अपनी भक्तिमय कविता से कृष्ण प्रेम के अक्षय आनन्द से आप्लावित

किया हैं। वहीं शौर्य के अमर गायक दुरसा आड़ा (1535-1655) ने अपनी ओजस्विनी वाणी से न केवल पाली और राजस्थान को गौरवान्वित किया अपितु भारत माता के यश को दिग्दिंगत तक फैलाया है। इनके अतिरिक्त केशवदास गाडण, माधोदास दधवाड़िया, लूणपाल, हेमरतन, जयमल, चौथमल, दिनकर सागर, भद्रराज, सांधू रायसिंह, खुशालसिंह, पुष्पेन्द्र झाला, फूलचन्द बाफना, महीधर शर्मा इत्यादि ने साहित्यिक सृजनता में योगदान दिया।

सांस्कृतिक वैभव के प्रमुख केन्द्र

रणकपुर

सादड़ी कस्बे में 10 कि.मी. दूर दक्षिण-पूर्व दिशा की अरावली पर्वत की उपत्यका में स्थित त्रैलोक्य दीपक, नलिनिगुल्म विमान के विरूद से अलंकृत रणकपुर का चतुर्भुज श्री आदिनाथ जिनालय विश्वविख्यात है। यह मंदिर भारतीय वास्तुकला का अनुपम नमूना है। इसके निर्माता राणा कुम्भा के मंत्रीश्वर धरणाशाह ने नलिनी-गुल्म विमान के समान मंदिर बनवाने का स्वप्न संजोया था, जिसकों मृत रूप दिया मुण्डारा के सोमपुरा देपा ने। इसका शिलान्यास वि.स. 1434 में हुआ तथा विकम सं. 1496 में इसकी प्रतिष्ठा आचार्य श्री सोम-सुन्दर सूरीजी के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुई। इसमें 1444 स्तम्भ 100 कलात्मक तोरण और 24 मण्डप शोभायमान हैं। इसमें कल्पपत्र, नागपाश की अद्भुत कलाकृति, विविध वाद्ययन्त्रों को बजाती हुई अप्सराओं की नृत्यमुद्राएं दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देती हैं। प्रसिद्ध शिल्प मर्मज्ञ फर्गूसन के अनुसार ऐसी सुन्दर कलाकृति विश्व में अन्य नहीं हैं।

रणकपुर प्रकोष्ठ से ही लगा एक विशाल सूर्यमन्दिर राणा कुम्भा ने बनवाया था। सूर्य के रथ के समान बना यह मन्दिर अत्यन्त आकर्षक है। इस रथ को सूर्य के सहस्त्रों अश्व खींच रहे हैं। अश्व चलित सूर्य रथ का नयनाभिराम भी दृश्य मंत्रमुग्ध कर देता है। अत: रणकपुर कलात्मक भव्यता व आस्था की अनुपम सांस्कृतिक धरोहर के साथ जो वर्तमान में देश-विदेश के प्रतिवर्ष लाखों पर्यटकों के पर्यटन का केन्द्र भी है।

मूछाला महावीर

देसूरी पंचायत समिति के अन्तर्गत धाणेराव ग्राम से दक्षिण-पश्चिम अरावली पर्वतमाला में श्री मूछाला महावीर तीथस्थल है। इस मन्दिर का निर्माण विक्रम सं. 1010 में हुआ था। इस मन्दिर का शिल्प अत्यन्त सुन्दर है। यह बड़ा ही रमणीय स्थल है।

नारलाई तीर्थ

नारलाई ग्राम जैन और वैष्णव धर्म का समन्वय स्थल रहा है। यहाँ की आदिनाथ भगवान का प्राचीन मन्दिर विक्रम सं. 664 का हैं जिसे श्री यशोभद्र सूरीजी अपनी मंत्र-शक्ति से वल्लभी नगर (गुजरात) से लाये थे। वल्लभीपुर की आणिया ऋषभदेव प्रासाद, भंवर गुफा आदि दर्शनीय है। कहते हैं सम्राट् अशोक के पौत्र राजा सम्प्रति ने आदिनाथ का मन्दिर बनवाया था। यहाँ स्थित 'गोरखमढ़ी' अनेक सन्तों का साधना स्थल रहा है।

इसी मंत्र-शक्ति द्वारा श्री तपेश्वर ऋषि भी एक भव्य शिव मन्दिर लाये और यहां स्थापित किया। ऊंचे पर्वत शिखर पर विशालकाय हाथी खड़ा है और नीचे गुफा में जैकल महादेव का प्राचीन मन्दिर है।

निम्बोरानाथ तीर्थ

साण्डेराव-फालना की मुख्य सड़क पर श्री निम्बेश्वर महादेव का प्रसिद्ध तीर्थ धाम है। जनश्रुति के अनुसार यह तीर्थ पांडवों ने बनवाया था इसका प्राचीन नाम हीरलिया बैजनाथ था। यहां पर श्री नवदुर्गाजी का चमत्कारी मन्दिर है। युगलनाथ नीम्बेश्वर महादेव के अनेक चमत्कार प्रचलित है। यह मन्दिर कनफटे सम्प्रदाय के साधुओं की प्रधान गद्दी है। मन्दिर के दाहिनी ओर की बावड़ी पाण्डवराज युधिष्ठिर ने बनवाई थी, जो दर्शनीय है। बैसाखी पूर्णिमा को यहां बड़ा मेला लगता है। अभी-अभी यहां अनेक धर्मशालाओं का निर्माण हुआ है।

सूर्यमन्दिर, भाटून्द

बाली तहसील के भाटून्द ग्राम में गंधर्वसेन निर्मित पाण्डव-कालीन सूर्य मन्दिर है, जो तालाब की पाल पर बना है। यहां पाण्डव सम्राट् ने तपस्या की थी।

राता महावीरजी

अरावली पर्वतमाला में स्थित राता महावीरजी (हस्तीकुण्डी तीर्थ) बीजापुर ग्राम के समिप स्थित है। प्रसिद्ध इतिहासकार मुनि ज्ञानसुन्दरजी ने 'श्री पार्श्वनाथ भगवान की परम्परा का इतिहास (पूर्वार्द्ध)' में पृष्ठ 806 पर लिखा है कि वि.सं. 360 में श्री राता महावीरजी तीर्थ का निर्माण हुआ। आचार्य श्री सिद्वसूरि के उपदेश से श्रेष्ठगोत्र के वीरदेव ने श्री महावीर चैत्य बनवाया। चौथी शताब्दी का विशाल नगर हस्तीकुण्डी सं. 1053 विक्रमी में

राठौड़ों की राजधानी थी जो धनाढ्य लोगों की बस्ती थी यहां के महावीर चैत्य के मूलनायक भगवान महावीर की लाल रंग की प्रतिमा अत्यन्त रमणीय है। रंग-मंडल के गुम्बद की कारीगरी अत्यन्त सुन्दर है जिसकी तुलना रणकपुर की कारीगरी से की जा सकती है। यह मन्दिर इस क्षेत्र के आदिवासी भीलों और गिरासियों का श्रद्धा-केन्द्र है। यहां प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला 10 को विशाल मेला लगता है। यहां उपलब्ध अनेक भग्नावशेष पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

गिरि रायपुर का कृष्ण मन्दिर

मरूगंगा भक्त शिरोमणि मीराबाई के विवाह के बाद बारात ने वापस लौटते समय गिरी ग्राम में रात्रि विश्राम किया था। यहां प्रात:काल मीरा ने स्वयं अपने हाथों से कृष्ण की मूर्ति बनाकर पूजा की थी। गिरी का चारभुजा का मन्दिर उस पावन प्रसंग का स्मरण करता है। चारभुजा (मेवाड़) द्वारका और गिरी की कृष्ण प्रतिमाएं एक जैसी है। इस मन्दिर के दर्शन करने पर मीराबाई ने भजन की यह पंक्ति वेगु पर गूंजने लगती है-बसों मीरे नैनण में नन्दलाल।

परशुराम महादेव

सादडी नगर से पूर्व की ओर अरावली पर्वतमाला में परशुराम महादेव का गुफा-मन्दिर स्थित है। प्रकृति की रमणीयता से शोभित इस तीथ का आकर्षण अलौकिक है। यह तीर्थधाम समुद्रतल से 3955 फीट ऊंचा है। पौराणिक मान्यता के अनुसार रामायणकालीन महर्षि परशुरामजी ने अपने फरसे के आघात से पहाड़ को फोड़कर यह गुफा बनायी थी। उन्होंने इसी में प्राकृतिक शिवलिंग की पूजा कर भगवान शिव को प्रसन्न किया था। इस स्थल ने आस-पास का क्षेत्र राज्य सरकार ने वन्य जीव-अभयारण घोषित किया है। यहां प्रति वर्ष श्रावण शुक्ल 06 व 07 को मेला लगता है।

रिखी-भाखरी नाडोल

नाडोल ग्राम के प्राचीनकाल में यह विशाल नगरी थी इसके प्राचीन नाम नन्दकुलवती, नारदपुरी, आदि मिलते है। यहां पर रिखी-भाखरी (ऋषि पर्वत) है, यहां सैंकड़ों मुनियों ने तपस्याएं की है। पहाड़ों से घिरा एक ऋषि तालाब भी है। नाडोल में राजा भोज, विकमादित्य, गुरू गोरखनाथ एव नारदमुनि के आने तथा तपस्या करने के प्रसंग मिलते हैं। यहां प्राचीनकाल में 999 मन्दिर एवं 25 बावड़ियां थीं यह शिव और शक्ति-पीठ का संगम-स्थल रहा है।

महमूद गजनी और कुतुबुद्दीन ऐबक के हमलों से यह सुन्दर नगर खण्डहर बन गया। यहां के दर्शनीय स्थलों में महादेव मन्दिर पद्मप्रभु का मन्दिर, सूरजपोल सोमेश्वर मंदिर, खेत्रपाल का स्थान आदि प्रसिद्ध है। इसको राजा लखनपाल व मेवाड़ के राजाओं ने अपनी राजधानी बनाया था। प्राचीन नगरी, जो अभी 'जूना खेड़ा' के नाम से जानी जाती है, यहां पुरातत्व विभाग खुदाई करवा रहा है। अणछीबाई की समाधि भी अब एक तीर्थ बन गया है। निकट के ग्राम ढ़ालोप में ब्रह्माजी का प्राचीन मन्दिर है।

प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने यहां की बावड़ियों की खूब प्रशंसा की है। यहां स्थित आशापुरी माताजी का मन्दिर दर्शनीय है। ये आशापुरा माताजी पूर्व मध्यकालीन सोनीगरा चौहान शासकों की कुलदेवी का वर्तमान में विभिन्न जातियों की श्रद्धा व धार्मिक आस्था का लोक केन्द्र है। जहां विक्रम सं. 300 के लगभग गुरू देवसूरि जी के शिष्य श्रीमान् देवसूरी ने शाकम्भरी नगरी में फैले भयंकर मिरगी रोग के निवारणार्थ लघु शान्ति स्त्रोत की रचना ही थी। यह भक्तिरस की अद्भुत रचना है।

हिंगलाज माता, गुडालास

लार्ड विलियम बैटिक के समय में धणी ग्राम में हिगलाज माता की गुफा मन्दिर के आस-पास पिडांरियों ने मुंह छिपाया था, जिन्हें कर्नल स्लीमैन ने पराजित किया था। यह मन्दिर गुडालास की भाखरी-धणी पर पिंडारियों द्वारा निर्मित किया गया है। हिंगलाज माता की मूर्ति गुफा के भीतर ऊपरी भाग में एक पाषाण-खण्ड में निर्मित की गई है। हिगलाज का मूल स्थान बिलोचिस्तान (पाकिस्तान) में हिंगोल नदी के पास हैं शिव पुराण में वर्णित 52 शक्ति-पीठों में सर्वप्रथम स्थान हिंगलाज माता का है।

गोरमघाटी

फुलाद के पास गोरमघाट तथा नारलाई-नाडोल आदि में गोरख मढ़ियां एक धूणियां हैं। ये मठ नाथपंथी साधुओं की आध्यात्मिक साधना की कथाएं कहते हैं।

जवालेश्वर महादेव

जवाली ग्राम में जवालीश्वर महादेव का अति प्राचीन मन्दिर शोभायमान है। जनश्रुति के अनुसार जाबाली ऋषि ने जवालीश्वर में वेद-ऋचाओं की रचना की थी इसके पास हवनकुण्ड है। मन्दिर में पड़े एक प्राचीन-नन्दी पर

वि.स. 1102 उत्कीर्ण है। यहां प्रत्येक चैत्र बदी-सप्तमी को बहुत बड़ा मेला भरता है।

कोरटा के जैन मन्दिर

जवाईबांध स्टेशन से 10 कि.मी. दूर कोरटा ग्राम प्राचीन काल में एक विशाल नगर था। श्री रत्नप्रभसूरीजी ने वीर निवारण सं. 70 में श्री महावीर जिनालय की प्रतिष्ठा करवायी थी। श्री ज्ञान विमलसूरि ने इस मन्दिर की प्रशस्ति में लिखा है-कोरट जीवितस्वामी वीर, अर्थात् कोरटा में भगवान महावीर ने जीवन काल में ही मन्दिर की स्थापना हुई विभिन्न इतिहासविदों के प्रमाणों से यह मन्दिर 3500 वर्ष पुराना सिद्ध होता है। यह मन्दिर स्थापत्य-कला की दृष्टि से अत्यन्त भव्य है जो प्राचीन भारत की वास्तुकला की गौरव-गाथा कहता है। निकट के गांव बामनेरा का सूर्य मन्दिर भी दर्शनीय है।

सालेश्वर महादेव

पाली के निकट गुढ़ा प्रतापसिंह ग्राम की पहाड़ी गुफा में स्थित सालेश्वर महादेव तीथधाम पौराणिककाल से सम्बन्धित है। परशुराम के पिता महर्षि जमदम्नि ने इस स्थान पर तपस्या की थी, ऐसी किंवदंती है। यहां स्थित भीमगोड़ा पांडवों के वनवासकाल की याद दिलता है। यहां की प्राकृतिक शोभा रमणीय है।

चोटीलापीर

पाली से जोधपुर की ओर रेल पथ पर स्थित केरला स्टेशन के पास एक मील दूर चोटीला ग्राम में मुस्लिम धर्मावलम्बियों का तीथस्थल चोटीला पीर है। यहां प्रतिवर्ष दीपावली के दूसरे दिन मेला लगता है। हिन्दू दर्शनार्थी भी पर्याप्त संख्या में यहां आते हैं। यह पीर बाबा अफगानिस्तान से पाली व्यापारार्थ आये थे। इस स्थान पर दस्युओं से मुठभेड़ में वे काम आये और इस तीर्थस्थल की स्थापना हुई। धार्मिक सद्भाव व आस्था का अनुपम संगम स्थल हैं।

आसन झूलेलाव का मन्दिर

रायपुर में नाथ संप्रदाय का बहुत बड़ा तीर्थ आसन झूलेलाव (रायपुर) बगडी कलालिया के पास अरावली के आंचल में अवस्थित है। कथा प्रचलित है कि मेवाड़ के महाराजा रायमल के लघु भ्राता थानसिंह ने वैराग्य ले लिया था, वे ही इसके प्रथम मठाधीश थे। विकम सं. 1444 का एक ताम्रपत्र, जो उदयपुर महाराणा के द्वारा दिया गया था, में इसका प्रमाण मिलता है। इस आसन के अधीन 9909 बीघा भूमि के एवं 210 ग्रम थे। आसन झूलेलाव का मन्दिर द्वापर में भद्रावजली ने बनवाया था।

मकरमण्डी माता का मन्दिर

इसे मकरमढ़ी का मठ (आसन) भी कहा जाता है। यह नीमाज के पास अति प्राचीन स्थल है। खुदाई से यहां अनेक प्राचीन दुर्लभ मूर्तियां-गणेशजी, महादेवजी, नारदजी, सरस्वती, कुबेर आदि की प्राप्त हुई हैं।

नाणा का जैन मन्दिर

नाणा ग्राम में भगवान महावीर का 2500 वर्ष प्राचीन जिनालय स्थित है। यह मन्दिर भी जीवित स्वामी के रूप में सुविख्यात है। इस मूर्ति की कलात्मकता देखते ही बनती है। मूर्ति का परिकर तोरण एवं नक्काशीयुक्त है। स्थापत्य-कला की ऐसी भव्यता अन्यत्र दुर्लभ है। अनेक शिलालेखों पर वि.सं. 1107, 1200, 1203 आदि अंकित स्तम्भयुक्त गोखले की आकृतियां इतनी भव्य है कि सजीव मालूम होती है साथ ही नाणा ग्राम में नाथ सम्प्रदाय का आस्था स्थल भी धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र हैं।

आऊवा

यहां पर काम्बेश्वर मन्दिर 9वीं शताब्दी का प्राचीन मन्दिर है और चारण समाज का आराधना स्थल है। कहते हैं यहां 16वीं शताब्दी में जोधपुर के राजा से विद्रोह कर 11000 चारणों ने अपने मुखिया की अक्खाजी ने नेतृत्व में बलिदान किया था। आऊवा ग्राम 1857 प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में यहां के शासक खुशालसिंह की जीवट बलिदान ओर वीरता का प्रतीक है। इनकी कुलदेवी सुगालीमाता की मूर्ति जिन्हें 1857 की क्रान्ति के समय अंग्रेज यहां से ले गये थे। वर्तमान में इसे पुनः स्थापित किया गया। अतः आऊवा स्वतन्त्रता, वीरता एवं सांस्कृतिक धरोहर का प्रतीक है।

चामुण्डा मन्दिर

नीमाज कस्बे के निकट जंगल में मंगल की तरह चामुण्डा माता का प्राचीन मन्दिर राजा भोज द्वारा बनवाया गया था जो पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मन्दिर के भग्नावशेष प्राचीन भारत के शिल्प की मौन कथा कहते हैं। लाल पत्थर पर बारीक कारीगरी व दीवरों पर उत्कीर्ण मूर्तियां तत्कालीन स्थापत्य कला की जीती-जागती तस्वीर प्रस्तुत करती है। चामुण्डा माता के अनेक चमत्कारों की कथाएं भी प्रचलित है।

पाली नगर के मन्दिर

पाली नगर के मध्य में स्थित सोमनाथ मन्दिर शिल्पकला

एवं अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिये विख्यात है। इसका निर्माण गुजरात के राजा कुमारपाल सोलंकी ने विक्रम सं. 1209 में करवाया था। यहां की सौम्यता से मन प्रसन्न हो जाता है। मानपुरा की पहाड़ी पर वैष्णव जैन व मुस्लिम धर्मों के तीर्थस्थल साम्प्रदायिक एकता के अद्‌भुत प्रतीक है। पाली शहर में 'नौलखा' नामक विख्यान जैन मन्दिर है। पाली शहर के मध्य धानमंडी में सोनीगरों की छतरी है।

पेरवा की विद्यादेवी

पेरवा ग्राम में प्राचीन श्री चन्दप्रभु जिनालय शोभित है, जहाँ विद्यादेवी की प्राचीन कलात्मक प्रतिमा विद्यमान है। इस पर विक्रमी सं. 1251 अंकित है। इस वर्ष मंदिर के जीर्णोद्धार के पश्चात् इस प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया गया था। विद्यादेवी की प्रतिमा सुन्दर परिकर में उत्कीर्ण है। परिकर में 16 विद्यादेवियों की लघु प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। सुन्दर हंस पर शोभित विद्यादेवी के करों में पुस्तक, वीणा, पुष्पमाला आदि की जीवन्त आकृतियां नयनाभिराम है। इसका अद्‌भुत शिल्प आबू-देलवाड़ा जैन मन्दिर के समान भव्य है। जनश्रुति के अनुसार यहां पर कविकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने साधना की थी।

पातालेश्वर

आठवीं शताब्दी में निर्मित यह मन्दिर पाली बसने के पूर्व का है। इस मंदिर के बारे में यह किवंदन्ती प्रचलित है कि क्षत्राणियां अपने पति के स्वर्ग सिधारने के बाद इस मंदिर के शिवलिंग से आशीष पाकर सती होती थीं। इस मंदिर के आसपास बनी सतियों की छतरियां आज भी इस तथ्य का प्रमाण दे रही हैं।

श्री शान्तिनाथ जिनायल, सांडेराव

इस जिनालय के निर्माता थे पाण्डवों के वंशधर राजाधिराज गंधर्वसेन। मन्दिर के एक प्राचीन परिकर पर वि.सं. 1115 का लेख उत्कीर्ण है। एक खण्डित काउस्सग्गिया पर वि.सं. 1236 अंकित है। सांडेरक गच्छीय आचार्य श्री यशोभद्रसूरिजी की मूति पर वि.सं. 1197 का लेख है। मन्दिर की प्राचीन शिल्प-कृति में एक नक्काशीयुक्त ध्यानस्थ भगवान की प्रतिमा है। गूढ़-मंडप की रचना भव्य है। भगवान् शान्तिनाथ के तीनों ओर नक्काशीयुक्त तोरण है। जिनकी अद्‌भुत शिल्पकला दर्शनीय है। मन्दिर के चौक में 4-5 छोटे-छोटे गड्‌ढे हैं जिनमें वर्षा का पानी बहकर न जाने कहां जाता है। इसका आज तक पता नही लगा। ऐसी स्थापत्य कला अत्यन्त दुर्लभ है। यह मन्दिर भूमि से छह-फुट नीचे निर्मित है।

वरकाणा तीर्थ

यह गोडवाड की पंचतीर्थी का प्रमुख स्थान है और भगवान पार्श्वनाथ का प्राचीन मन्दिर है। यह मन्दिर में जैन शास्त्रानुसार नंदीश्वर द्वीप, शत्रुजय, गिरनार आदि तीर्थो के भित्तिचित्र है। यहां की शिक्षा संस्थाएं भी दर्शनीय स्थल बन गई है।

सांडेराव के मन्दिर

सांडेरका गच्छ के प्रवर्तक यशोभद्रसूरी की साधना-स्थली होने के कारण प्राचीनकाल में यह नगर प्रसिद्ध हुआ। यहां भगवान महावीर का प्राचीन मन्दिर है साण्डेराव के तालाब के किनारे एक अति प्राचीन चबूतरा है जिसके खंभे प्राचीन शिल्पकला के नमूने हैं।

सेवाडी के मन्दिर

सेवाडी ग्राम भी प्राचीनकाल में बड़ा ही समृद्धिशाली रहा है। यहां भी 10वीं सदी का प्राचीन जैन मन्दिर है। एक पुराना दोहा है

सेवाडी सौबावडी, ऊण्डी जैतल बाव।
खाली पीपर पारणो, हीचे खेतल पार।

हर हर गंगा

रातामहावीरजी (हस्तीकुण्डी) से दो मील दूर अरावली की अपत्यका में स्थित हर हर गंगा तीर्थ का सम्बन्ध पौराणिक काल से है। यहां पर गौमुख से गंगाधारा प्रवाहित होती है। यहां का शिवालय सुप्रसिद्ध है। समीप नदी बहती है जो गंगा के नाम से लोकप्रिय है। यह स्थल हरिद्वार का स्मण दिलाता है।

रामदेवरा, ढालोप

देसूरी तहसील के ग्राम ढालोप में बाबा रामसापीर की विख्यात धूनी है जो राजस्थान गुजरात व मालवा के मेघवालों का पूजनीय स्थान है। प्रतिवर्ष मेला लगता है। यहां ब्रह्माजी का एक प्राचीन मन्दिर भी है।

बेरा ग्राम के निकट ही जूना बेडा नामक स्थान पर एकमात्र विशाल श्री दादा पार्श्वनाथ जैन मन्दिर स्थित है। घने वृक्षों की छाया में सारा दृश्य बड़ा ही मनोहर लगता है।

साण्डेराव व सेवाडी के इस क्षेत्र में जैन संस्कृति के अनेक केन्द्र रह है। यहां के गन्थागार भी अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं।

इस प्रकार पाली की सांस्कृतिक परम्परा अत्यन्त

समृद्ध एवं गौरवाशाली रही है। इसी कड़ी से जुड़े यहां के ऐतिहासिक किले एवं लोक-नृत्य संगीत की परम्पराएं हैं।

बाली दुर्ग

इस दुर्ग ने कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। जनश्रुति के अनुसार इस किले का सम्बन्ध रामायण और महाभारतकाल की घटनाओं से रहा है। इस दुर्ग का जीर्णोद्धार महाराणा चूण्डा के पिता मालदेव के करवाया था। उस समय बाली इतने बड़े क्षेत्र में फैला था कि उसकी चारदीवारी में 35 दरवाजे और 70 बारियों थीं।

सौजत दुर्ग

इस दुर्ग का निर्माण प्रसिद्ध वीर हरियाहुला ने करवाया था। हुला ने अपनी कूलदेवी सौजत के नाम पर इसका नाम सौजत दिया है। सौजत को कई बार युद्ध झेलने पड़े, यहां के अनेक मन्दिरों के चतुर्भुज लक्ष्मीनाथ सूखेश्वर के नाम उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त दुर्गों के अतिरिक्त पाली जिले की सीमा में कुम्भलगढ़ के पास खामलयां गिरासियों का किला तथा जैतारण का किला ऐतिहासिक महत्व के हैं।

जूनाखेड़ा (नाडोल)

देसूरी तहसील के निकट पुरातात्विक महत्व का स्थल जूना खेडा चौहान वंणीय क्षत्रियों की प्राचीन राजधानी रहा है। इस स्थल की खुदाई की पुरातत्व महत्व की दुर्लभ वस्तुएं प्राप्त हुईं जो पूर्वमध्यकालीन जीवन को रेखांकित करती हैं। मारवाड़ और मेवाड़ की सीमा-रेखा पर स्थित जूना बेडा एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसका इतिहास आठवीं से दसवीं शताब्दी का है। इसे महमूद गजनवी ने उजाड़ दिया था। यहीं सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के पिता सोमेसर सोलंकियों से युद्ध करते हुए शहीद हुये थे। यहां पर स्थित बावडियां आज भी दर्शकों को चकित कर देती हैं।

पाली की हल्दीघाटी

गिरि का मैदान-अरावली पर्वत श्रेणियों के बीच जैतारण तहसील के बीच गिरि गांव के पास का मैदान हल्दीघाटी की तरह प्रख्यात युद्ध-स्थल रहा है। यहीं शेरशाह सूरी ने राठौडों से लड़ते हुए कहा था कि मैं मुट्ठी भर बाजरे के लिए दिल्ली की सल्लनत गंवा बैठता।

सूरी बोल्यों बैण यू, गिरी घाट घमसाण।
मुट्ठी बाजरे कारणों, खो देतो हिन्दुआण।।

देसूरी दुर्ग

देसूरी का किला सोलहवीं शताब्दी में निर्मित हुआ था जिसे चौहानों ने बनवाया था। इस दुर्ग में घनेश्वर शिवालय दर्शनीय है। इस दुर्ग के चौहानों और राठौडों में कई बार युद्ध हुए हैं।

नृत्य, नाटक और संगीत परम्परा

लोक-नृत्य

राजस्थान को विश्व के अनेक भागों में नृत्य के क्षेत्र में प्रसिद्धि दिलाने वाला तेरहताली नृत्य पाली जिले की ही देन है। अन्य नृत्यों में मुण्डारा की कच्छीघोड़ी नृत्य, मादा का डण्डिया गैर, बूसी का राग नृत्य, भील जलाति का घूमर नृत्य गरासियों का गणगौर नृत्य, चौघरियों जाति की लूर और बाली, सोजत तथा पाली का डण्डिया गैर-नृत्य अपने-अपने क्षेत्र के साथ पूरे प्रदेश में लोकप्रिय है।

लोक-संगीत

राज्य के अन्य भागों की तरह यहां की ढोली मिरासी आदि गाने बजाने वाली जातियों लोक संगीत के प्रति आज भी समर्पित हैं। लोक नाटयों में यहां के कई समुदाय विशेष पर्वों पर लोक गाथाओं पर आधारित ख्याल और नाटक आदि खेलते हैं। खोड के लोक-कला मण्डल ने काफी प्रसिद्धि अर्जित की है। कुछ वर्षों पूर्व श्रीमाली जाति द्वारा खेले जाने वाले ख्याल भी बड़े लोक-प्रिय रहे हैं। आधुनिक युग में विडियो, सिनेमा, दूरदर्शन आदि के व्यापक प्रचार के कारण लोक नृत्यों और लोक गीतों का प्रचलन कम हो रहा है। इन्हें संरक्षण देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

संगीत एव नृत्य से जुड़े प्रमुख लोक दल-

1. तेरहताल नृत्य दल, पादरला
2. कच्छी घोड़ी नृत्य दल मुण्डारा
3. डंया गैर मादा ग्राम
4. बूसी का राग-नृत्य
5. भीलों का घूर नृत्य
6. ग्रासियों का गौर नृत्य
7. सीरवियों की लूर एवं डंडिया नृत्य
8. लोक-कला मंडल खोड

इस प्रकार हम देखते हैं पाली जिला सांस्कृतिक सम्पदा की दृष्टि से सदा समृद्ध रहा है। यहां के तीर्थ और मेले मानव एकता धर्म सद्भाव, राष्ट्रीय अखण्डता और विश्वबन्धुता का सन्देश देते हैं तो यहां की कलाकृतियों सुसंस्कृत पाली निवासियों की सुरुचि का परिचय देती है। यहां के दुर्ग शौर्य की मौन गाथा के साथ-साथ अनित्य

सांसारिक वैभव की मौन कथा कहते हैं तो यहां के लोक गीतों और नृत्यों में जीवन का उल्लास थिरकता है शील, शक्ति और सौन्दर्भ से सम्पन्न यहां की सांस्कृतिक सम्पदा को संरक्षित रखने की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि यही पाली का आत्मा है और आत्मा के बिना शरीर का महत्व की क्या है? वर्तमान में इस धरोहर के संरक्षण द्वारा न केवल सांस्कृतिक गौरव को बचाया जा सकती है बल्कि पर्यटन को बढ़ावा देकर इस क्षेत्र को आर्थिक सम्पन्न भी बनाया जा सकता है।

पाली जिले की साहित्य-सृजन परम्परा

शौर्य और भक्ति के अमर कवियों ने पाली जिले को महिमा-मण्डित किया है। पाली जिले के कुड़ली ग्राम में जन्मी मरूगंगा मीराबाई (सत्र् 1504-1563) ने अपनी भक्ति-भीनी कविता से विश्व को अक्षय आनन्द से आप्लावित किया है। शौर्य के अमर गायक दुरसा आडा (सन् 1535-1655) ने अपनी ओजस्विनी वाणी से न केवल पाली और राजस्थान को ही गौरवान्वित किया, अपितु भारत माता के यश को दिग्दिंगत तक फैलाया है।

मीराबाई

मरू मन्दाकिनी मीराबाई का जन्म पाली जिले के जैतारण कस्बे के जैतारण कस्बे के निकट कुड़की ग्राम में राठौड़ वंश की मेड़तिया शाखा में हुआ था। इस शाखा के प्रवर्तक राव दूधा थे। मीरा उन्हीं के पुत्र रावल रत्नसिंह की आत्मजा थी। मीराबाई का विवाह चितौड़ के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ 1516 ई. में हुआ। दुर्भाग्यवश विवाह के सात वर्ष पश्चात् भोजराज का स्वर्गवास हो गया, जिससे मीरा के अर्न्तमन में विद्यमान अब तक अप्रकट अन्तर्द्वंद्व प्रकट रूप से उनके जीवन का अंग बन गया। मीरा तत्कालीन प्रथा के अनुसार सती नहीं हुई, क्योंकि वह स्वयं को अजर-अमर स्वामी कृष्ण की चिरसुहागिनी मानती थी। 'मीरा रचित-नरसीजी को मायरो', गीत गोविन्द की टीका, सत्यभामा-रूकमण, मीरा की गरवी, रूक्मिरणी मंगल, नरमी मेहता की हुण्डी, अनपेक चरित एवं स्फुट पद अत्यन्त लोकप्रिय हैं जो 'मीराबाई की पदावली' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं।

मीरा की भक्ति माधुर्यभाव से परिपूर्ण है। मीरा के मन में बसी मनमोहन की छवि का दर्शन अद्भुत है :-

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल
मोहनी मूरति सांवरी सूरति नैणा बने विशाल।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल,
अरूण तिलक दिये झाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर वैजन्ती माल।
क्षुद्र घाकिा कटितट शोभिज, नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई, भगत बछल गोपाल।

अपने अलौकिक प्रियतम के मिलन की आतुरता भी दर्शनीय है :-

राम मिलन को घणों उमावों,
नित उठ जोऊ' बाटड़ियां।
दरस बिना मोहि कछु न सुहावै,
जक न पड़त है आखड़ल्याँ।।

आंखड़लियां और बाटड़िया शब्दों में माधुर्य गुण झलक रहा है। मीराबाई ने पाखण्ड पर भी कटु प्रहार किया है :-

याहि विधि भक्ति कैसे होय।
मनु को मैल यि न छूटे, दियों तिलक सिर धोय।।

मीरा ने अपने प्रिय के साथ किस प्रकार होली खेली है :-

शील सन्तोष की केसर घोली, प्रेम प्रीति पिचकार रे।
उड़त गुलाल लाल भ्यो अंबर, बरसत रंग अपार रे।
घट के पट सब खोल दिये हैं, लोक-लाज सब हार रे।
होली खेल प्रिय घर आये, सोड़ प्यारी प्रिय प्लार रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवल बलिहार रे।।

इस प्रकार होली विकृति या गन्दगी का त्यौहार नहीं, अपितु शील, सन्तोष और प्रेम से जीवन को सजाने का मंगल पर्व है। होली-पर्व को इसी पवित्र रूप में मनाने का निर्देश है न कि गाली-गलोज, जुआ खेलकर तथा मदिरोन्मत होकर मनाने का।

महाकवि दुरसा आढ़ा

दुरसाजी मध्यकालीन राजस्थानी साहित्य के उदारचेता मनीषी थे। अपने सुदीर्घ यशस्वी जीवन में उन्होंने साहित्य के माध्यम से अपने युग के दु:खी शोषित, असहाय वर्ग के उद्धार के लिए प्रयत्न किया। स्वतन्त्रता के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने वाले महाराणा प्रताप के यशोगान के कारण महाकवि दुरसाजी सभी स्वतन्त्रता प्रेमियों के लिए पूज्य बन गये हैं। वीरता, दानशीलता एवं ऊंचे चारित्रित गुणों को उन्होंने अपने साहित्य में प्रतिष्ठित किया और ऐसा कर उन्होंने तत्कालील क्षत्रिय समाज को अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक बनाने का पवित्र कार्य किया।

उनका जन्म में पाली के धून्दला (सोजत) ग्राम में

हुआ था। यद्यपि उनको प्रारम्भिक शिक्षा भी नहीं मिली थी, किन्तु उन्होंने इस कथन को कि-'कवि जन्मते हैं, तैयार नहीं किये जाते' को सार्थक कर दिया। बाल्यकाल में ही उनको पितृ-सुख से वंचित होना पड़ा तथा माला ने बड़ी कठिनाई से उनका पालन-पोषण किया। अभावों और कष्टों में तपकर वे इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए कुन्दन बन गये। तप्तं तप्तं पुनरपि कांचनम् कान्तवर्जम्। ये महाकवि कलम और तलवार दोनों के धनी थे। उनके काव्यत्थ से रीझकर जोधपुर के महाराजा गजसिंह ने उन्हें सोजत परगने का गांव पांचेटिया और जोधपुर गरगने का गांव हींगोला भेंट किया। सिरोही के महाराव ने उन्हें पेशुश्रा व झाकर गांव प्रदान किये थे। सिरोही के महाराव ने उन्हें वराल एवं 35 गांव भेंट में दिये थे। मेवाड़ के महाराणा अमरसिह ने उनके सम्मान में डूठारिया गांव तथा कोड़प्रसाद के साथ रायपुरिया गांव भी प्रदान किया था यह सब उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की गरिमा का सम्मान था। सन्त रज्जब से उनकी घनिष्ठता थी एवं 'वेलि किसन रूक्मणी री' के रचयिता कविराज राठौड़ पृथ्वीराज के वे प्रशंसक थे।

दुरसाजी ने 120 वर्ष की लम्बी आयु पायी थी। अपने कृतित्व के बल पर उन्होंने तत्कालीन राजस्थानी कवियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था। उनकी मृत्यु पांचेटिया गांव में पांचेटियां के तालाब की पाल पर इनका एक देवल बना हुआ है। आबू में इनकी हाथी पर सवार धातु की प्रतिमा सिरोही के राजमहल के पास स्थित है। उनकी प्रख्यात रचनाएं हैं। विरूद्व छिहतरी (महाराणा प्रताप की प्रशंसा), राव सुरताण रा झूलना (सिरोही के स्वतन्त्रता-प्रेमी राव सुरताण की प्रशंसा में), झूलना राव अमरसिंह गजसिंघोत रा (जोधपुर के महाराजा गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र राव अमरसिह की वीरता में), राव सुरताण रा कवित, झूलना रावत मेघा रा, दूहा सोलंकी वीरमदे रा, 'किरतार बावनी', कुमार अज्जानी, झूचर मोरीनी, गजगज आदि। किरतार बावली, लोकमंगल भावना की प्रसिद्ध रचना। प्रत्येक छंद में जन-सामान्य के दु:ख का वर्णन है। इसमें कृषकों मल्लाहों, लकड़हारों आदि की वेदना मुखरित हुई है। माताजी रा छनद रचना भक्तिरस में परिपूर्ण है।

केशवदास गाडण

ये सोजत के पास चिड़िया गांव के रहने वाले थे। इनका जन्म सन् 1553 में तथा देहान्त सन् 1640 में हुआ। इनकी प्रमुख रचनाएं गुण रूपक, गजगुण चरित, राव अमरसिंह रा दुहा, विवके वार्ता, गोरखनाथ रा छनद आदि। वीर और शान्त रस-प्रधान उनकी राजस्थानी रचनाएं काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सुन्दर है। बीकानेर महाराजा पृथ्वीराज राठौड़ ने इनकी प्रशंसा में यह दोहा रचा था-

केसो गोरखनाथ कवि, चेला कियो चकार।
सिघ रूप रहता सबद, गाडण गुण भंडार।।

माधोदास दधवाड़िया

ये कविराज कलम और तलवार के धनी वीर पुरुष थे। एक बार इनके घर से दस्यु गायें चुराकर ले गये तो ये उनका पीछा करते हुए मुठभेड़ में (सन् 1633 में) वीरगति को प्राप्त हुए। ये बलून्दा के निवासी थे। इनकी रचनाएं रामरासों भाषा, दसमू-स्कंध एवं गजमोक्ष है।

लूणपाल

राजोला (सोजत) के कविराज लूणपाल मेवाड़ के महाराणा मोकल के समकालीन थे। सिवाना के यति जबरचन्द जैन के पास सन् 1739 ईस्वी में इनके द्वारा लिखा ग्रन्थ-'ढोला मारू रा दूहा' मिला है। लूणपाल श्रृंगार और शान्त रस के कवि थे।

हेम रतन

ये जैतारण के रहने वाले थे। इनका रचनाकाल सं. 1581 से 1598 का है। इनकी अमर क्रति 'गोरा-बादल' है। जो वीर-रस-प्रधान है। इसका युद्ध वर्णन अत्यन्त सजीव है।

दिनकर सागर

इनका रचनाकाल सं. 1879 का है। इन्होंने चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति में 'जिणावर चौबीसी' और 'रणकपुर चौबीसी' लिखी ये कृतियां भक्ति-रस-प्रधान हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से ये रचनाएं सुन्दर हैं। अलंकार-योजना भव्य है।

जयमल

ये लांबिया के निवासी थे। इन्होंने सं. 1840 से 1852 के बीच जैन शास्त्रों की व्याख्याएँ लिखीं, जिसमें दर्शन और काव्य का संगम दर्शनीय है।

चौथमल

ये चण्डावल के निवासी थे। इन्होंने चण्डावल ठिकाणों का क्रमवार इतिहास काव्य 'चण्डावल स्तुति' लिखा। इतिहास और साहित्य का अनूठा मेल इनके काव्य में हुआ है।

भद्रराज (लधराज)

इनका जन्म सोजत में हुआ। इनका रचनाकाल सन् 1708 से 1730 ईस्वी था। इनकी प्रमुख रचनाएं 'देवविलास' और 'पाबूजी रा दूहा' है।

सान्दू रायसिंह

ये बाली तहसील के मिरगेश्वर गांव के रहने वाले थे। इनका जन्म सं. 1970 में हुआ था। इनकी प्रसिद्ध रचना 'मोतीया रा दूहा' है। दूहों की संख्या 400 है। यह नीति-परक काव्य है। दूहे की एक बानगी देखिए :-

हिम्मत किस्मत होय, बिना हिम्मत किस्मत नहीं।
करना बादर कोय, रद कागज ज्यू मोतीया।।

आचार्य भिक्षु

इनका जन्म कान्टालिया ग्राम में हुआ। इनको भीखणजी भी कहते हैं। ये जैन तेरापंढ सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्होंने हजारों पद्यबद्ध रचनाएं कीं। जिनके दो खण्ड 1650 पृष्ठों में प्रकाशित हुए हैं। इनकी रचनाओं के तत्व, दर्शन और साहित्य का अनूठा मेल है। नैतिक जीवन की महिमा तथा मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए इनकी रचनाओं का महत्व है। राजस्थानी साहित्य के बेजोड़ कवियों में इनका नाम हैं। मिरियारी में इनका देहावसान हुआ जहां एक विशाल स्मारक बना हुआ है।

आचार्य मिश्रीमलजी

इनका जन्म पाली में हुआ। इन्होंने राजस्थानी भाषा की लगभग सौ पुस्तकें लिखीं। इन ग्रन्थों में 'महाभारत' नामक महाकाव्य प्रसिद्ध है। आप स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के आचार्य थे। इनका स्वर्गवास सन् 1984 में जैतारण में हुआ।

आचार्य जीतमल जी (जयाचार्य)

इनका जन्म रोयट ग्राम में हुआ था। ये तेरापंथ धर्मसघ के चतुर्थ आचार्य थे। इन्होंने राजस्थानी गद्य-पद्य के साढ़े तीन लाख पद्य-प्रमाण की रचना की। इनकी रचना 'भगवती सूत्र' अस्सी हजार ढालबन्ध श्लोकों में रचित राजस्थानी की विशालमय एवं महान् कृति है।

श्री मानसागरजी

श्री मानसागरजी जैन यति थे। ग्राम वारलाई इनको जन्म स्थली व कार्य-स्थली रही है। ये संस्कृत और ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मानसागरी' है।

श्री फूलचन्द बाफना

14 मार्च, 1913 को सादड़ी कस्बे में जन्में श्री बाफना स्वतन्त्रता-सेनानी और साहित्यकार दोनों रूपों में लोकप्रिय हैं। इनके द्वारा लिखी गई पुस्तकें-घर का ज्योतिष, फडफता संग्रह एवं आधुनिक पंचतन्त्र है। इनमें समाज की कुरीतियों, पाखण्ड, मनुष्यत्व पाक्षिक पत्र का सम्पादन कर रहे हैं।

श्री धीरजमल बच्छावत

स्वर्गीय धीरजमलजी सादडी के निवासी थे। उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम में सक्रिय भाग लिया तथा 'शुभ-गीत' रचकर जनता को संस्कारित करने का आन्दोलन चलाया। विवाह एवं होली पर्व आदि तीज त्यौहारों में गाली-गलौजयुक्त गीतों के स्थान पर शुभ-गीत गाने के लिए नर-नारियों को प्रोत्साहित किया। इनके गीत आज भी घर-घर गाये जाते हैं।

श्री हरिभाई किंकर

सोजत में विक्रम सं. 1950 में जन्में किंकर जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे स्वतन्त्रता-सेनानी और कवि-रूप में विख्यात थे। उनके गीतों में क्रांति की आग धधकती है। दरिद्रनारायण के प्रति वेदना इनकी कविता में मुखरित हुई है। देश-प्रेम का स्वर इनकी कविता में प्रखर है :-

होना आजाद या मिट जाना,
प्राण मित्रों भले ही गंवाना
पर न झण्डा नीचे झुकाना।

श्री पुष्पेन्द्र झाला

छेवली कला (चण्डावल) के स्वतन्त्रता सेनानी झालाजी कवि और गीतकार के रूप में सुविख्यात है। ये राजस्थानी भाषा के एक ओजस्वी कवि हैं। गरीब जनता के प्रति हमदर्दी उनके गीतों में मुखरित हुई है :-

मजदूरी री मेहनत माथे, मोडा जौज उड़ावे रे,
ऐ महलां बसे, मोटरां धूमे, मीठा खावे रे,
कमाई करसां री, हां कमाई करसा री-
था लूट देखों, लाम्बा बरसों री।

श्री महीधर शर्मा

श्री महीधरजी शर्मा का जन्म घाणेराव गांव में हुआ। इन्हें हिन्दी के अलावा संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान है और ज्योतिष के विख्यात जानकार हैं। इनकी करीब 35 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जिनमें कुछ तो काव्यमय हैं। और शेष ज्योतिष, योग, धार्मिक कथाएं व कर्मकाण्ड सम्बन्धी प्रकाशन हैं। इनकी पुस्तकों में जड़ी-बूटियां, कुछ पक्षियों की भाषा और संकेत भाषा तथा लंगूर (बन्दर)

जाति में चार आश्रम, सरीखी खोजपूर्ण पुस्तकें भी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं पाली जिला सांस्कृतिक सम्पदा की दृष्टि से सदा समृद्ध रहा है। यहां के तीर्थ और मेले मानव एकता, धर्म सद्भाव, राष्ट्रीय अखण्डता और विश्वबन्धुता का सन्देश देते हैं तो यहां की कलाकृतियों सुसंस्कृत पाली निवासियों की सुरुचि का परिचय देती है। यहां के दुर्ग शौर्य की मौन गाथा के साथ-साथ अनित्य सांसारिक वैभव की मौन कथा कहते हैं तो यहां के लोक गीतों और नृत्यों में जीवन का उल्लास थिरकता है शील, शक्ति और सौन्दर्भ से सम्पन्न यहां की सांस्कृतिक सम्पदा को संरक्षित रखने की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि यही पाली का आत्मा है और आत्मा के बिना शरीर का महत्व की क्या है? वर्तमान में इस धरोहर के संरक्षण द्वारा न केवल सांस्कृतिक गौरव को बचाया जा सकती है बल्कि पर्यटन को बढ़ावा देकर इस क्षेत्र को आर्थिक सम्पन्न भी बनाया जा सकता है।

उपर्युक्त पाली साहित्य सृजन परम्परा वीररस, श्रृंगार रस, भक्तिरस, वात्सल्य तथा लौकिक जीवन के विभिन्न आयामों की लिये हुए हैं। जो एक तरफ आर्थिक भावों को प्रदर्शित करती है वहीं दूसरी तरफ धार्मिक एवं सामाजिक कुरितियों पर प्रहार कर समाज सुधार की ओर आगे बढ़ती है।

सहायक आचार्य, इतिहास
राजकीय महाविद्यालय, बाली
ई-मेल : aidansingh4599@gmail.com

संदर्भ सूची

1. कर्नल जेम्स टॉड - राजस्थान का पुरातत्व एवं इतिहास प्रथम व द्वितीय
2. मरदूमशुमारी - राज मारवाड़ री रिपोर्ट 1891
3. गोपीनाथ शर्मा - राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास
4. गोरी शंकर हिराचन्द ओझा - जोधपुर राज्य का इतिहास
5. हरिशंकर राजपुरोहित - युग युगीन पाली राज्य का इतिहास
6. डॉ. मोहनलाल गुप्ता - जोधपुर संभाग का जिलेवार सांस्कृतिक व ऐतिहासिक अध्ययन
7 पं. विश्वेश्वर नाथ रेऊ - मारवाड का इतिहास
8. राजस्थान डिस्ट्रीक गजेटियर पाली जिला 1976
9. मारवाड़ रा परगना री विगत मुननोत नैनसी कृत नरेन्द्रसिंह भाटी
10. नैनसी री ख्यात
11. डॉ. राघवेन्द्रसिंह मनोहर - राजस्थान के प्राचीन नगर एवं कस्बे
12. नाथूराम संस्कृता - राजस्थानी लोक साहित्य
13. डॉ. नारायणसिंह भाटी - राजस्थान साहित्य का आदिकाल
14. राजमल बोहरा - राजस्थान के ऐतिहासिक गौरव ग्रन्थ
15. श्री गोविन्द अग्रवाल - राजस्थानी लोक कथाएं
16. राजस्थान का संत साहित्य
17. सुखवीरसिंह गहलोत - राजस्थान का इतिहास कोश
18. डॉ. जयसिंह नीरज - राजस्थान का सांस्कृतिक परम्परा

शोध-पत्र

डॉ. आशा तिवारी

भारतीय चिन्तनपरम्परा में परिवार संकल्पना

भारतीय चिन्तनपरम्परा सदैव प्राणियों के कल्याण हेतु तत्पर रही है। इसी उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए सम्पूर्ण वाङ्मय का सृजन हुआ है जो वैदिक काल से प्रारम्भ होकर अद्यावधि पर्यन्त सतत् प्रवाहशील है। हमारे ऋषियों, कवियों, विद्वानों ने अपनी ज्ञानराशी को सांसारिक कल्याण के सरलतम पथ के लिए प्रदर्शित किया है। वे सम्पूर्ण मनोयोग से सर्वहित सम्भाव होकर चराचर जगत के लिए सार्वकालिक एवं उपकारी चिन्तन-मनन करते रहे हैं **'अतिथि देवो भव'** तथा **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** इत्यादि आदर्श वाक्य आपस मे सहयोग व समन्वय को स्थापित करते हैं। सहयोग व समन्वय का साक्ष्य परिवार संकल्पना भी रही है। परिवार एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसके समस्त सदस्य आपस में मिलकर प्रेम, स्नेह, भाईचारे का निर्वाह करते हैं। संस्कार, मर्यादा, समर्पण, आदर, अनुशासन आदि किसी सम्पन्न एवं खुशहाल परिवार के गुण हैं। परिवार शब्द को अंग्रेजी में फेमिली (family) कहते हैं जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'फेमूलस' (famulus) शब्द से हुई है। जिसका अर्थ सेवक अथवा नौकर है। परिवार शब्द संस्कृत के परि उपसर्ग पूर्वक वृ धातु में घञ् प्रत्यय के संयोग से बनता है संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ में ''परिव्रियते अनेन इति परिवार:'' प्राप्त होता है। वाचस्पत्यम् कोश में 'परिवार' शब्द मिलता है, जिसकी व्याख्या है 'परित: वारयति इति परिवार:' अर्थात् निकटतम सम्बन्धियों से घिरी हुई परिवृत्त संस्था। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार परिवार ''परिव्रियतेऽनेन'' परि-वृ-करणे घञ् अर्थात् एक ही कुल में उत्पन्न और परस्पर घनिष्ट संबन्ध रखने वाले मनुष्यों का समुदाय है। हिन्दी ज्ञानकोश के अनुसार एक घर में और एक के ही संरक्षण में रहने वाले लोग तथा एक ही पूर्व पुरुष के वंशज को परिवार कहा गया है।

इस प्रकार परिवार व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जो विवाह, रक्त अथवा दत्तक बंधकों से बधा होता है इसके द्वारा एक अकेले घर की रचना होती है। इसके सदस्य पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन की सामाजिक भूमिका में एक दूसरे से अन्त:क्रिया तथा अन्त:सम्प्रेषण करते हुए सामान्य संस्कृति की रचना करते हैं। परिवार समाज की प्रमुख तथा प्रारम्भिक संस्था है, परिवार में ही मानव का जीवन आरम्भ होता हैं। भारतीय चिन्तनपरम्परा में परिवार संकल्पना को दृष्टि पथ पर रखते हुए निम्नलिखित विचारों को आचार्यों ने व्यक्त किया है। वैदिक संहिताओं में परिवार से सम्बन्धित मंत्रांश दृष्टिगोचर होते हैं। वैदिक परिवार में प्राय: तीन पीढ़ी तक के प्राणी सम्मिलित होते हैं। श्राद्ध में तथा यज्ञों मे पितरों के आह्वान से यह बात भली-भांति पुष्ट होती है। यजुर्वेद में कहा गया है कि हम आज यज्ञ में पिता और दादा वाले ब्राह्मण प्राप्त करें (ब्राह्मणमद्य विदेयम्पितृमन्त पैतृमत्यम्)[1], यजुर्वेद में पिता पितामह और प्रपितामह को नमस्कार किया गया है और उनके प्रति प्रार्थना की गई है कि वे अपने वंशज को शुद्ध करें[2] ऋग्वेद में वर्णन है कि जब विवाह के बाद पुरोहित वर वधू को आशीर्वाद देते हुए कहता है तुम यहीं इसी घर में रहो, वियुक्त मत हो अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए और आनन्द मनाते हुए सारी आयु उपभोग करो-**इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृमोदमानौ स्वे गृहे।**[3] यजुर्वेद में दाम्पत्य जीवन के

प्रति कहा गया है कि दम्पत्ति के मन, कर्म और चित्त समान हो।[4] इसी प्रकार अथर्ववेद में दम्पत्ती चकवा चकवी के समान एक-दूसरे से प्रेम करने वाले हों[5] ऐसा कहा गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि परिवार में दोनों का ही सामञ्जस्य अनिवार्य माना जाता है। वैदिक युग में कुटुम्ब पद्धति की सूचना हमें स्वापन और सांमनस्य सूक्तों से भी मिलती हैं सांमनस्य सूक्त में परिवार के उच्चतम आदर्शो पर बल देते हुए कुटुम्ब के सदस्यों को संयुक्त बने रहने, एक साथ खाना खाने तथा एक साथ उपासना करने की प्रेरणा दी गई है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कुटुम्ब का कोई वृद्ध पुरुष परिवार के सभी व्यक्तियों को मिलकर प्रेमपूर्वक रहने की सलाह दे रहा है-**सहृदयं सांमनस्य मद्विद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो मभिर्यत वत्सं जातमिवानया।। ज्यायस्वान्तशिचतनो मा वियोष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरतः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ समानि प्रपा सह वोऽन्नभागः॥ सध्रीचीनान्वः संमनस्कृणीम्येकश्चष्टी-न्संवननेन सर्वान्। देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसौ वो अस्तु।**[6] में परिवार-निर्माण के द्वारा धर्म का पालन भी किया जाता है। वैदिक युग यज्ञ अनिवार्य थे, प्रत्येक व्यक्ति स्नातक होकर यज्ञ कर्म करता था, किन्तु यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था अतः पत्नी-ग्रहण या विवाह सभी के लिए अनिवार्य था। श्री राम द्वारा अश्वमेध यज्ञ उनकी पत्नी के बिना पूरा नहीं हो सकता था अतः उन्हें सीता की प्रतिमा स्थापित करनी पड़ी।[7] आचार्य पाणिनि का कथन भी है कि **''पत्युर्नो यज्ञसंयोगे।''**[8] याज्ञवलक्य ने एक पत्नी के मरने पर यज्ञ हेतु दूसरा विवाह करने का आदेश दिया है।[9] वैदिक युग में नवदम्पत्ति को आमरण गृहस्थाश्रम का सुख भोगने को कहा गया है।[10] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पत्नी निश्चयपूर्वक पति का आधा हिस्सा है, जब तक वह पत्नी नहीं प्राप्त करता उस समय तक वह सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकता है और अपूर्ण है जब स्त्री को प्राप्त करता है, प्रजा पैदा करता है तभी वह पूर्ण होता है - **अर्धो वा एषा अत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैवं तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जाया विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति।**[11] एतरेय आरण्यक में पत्नी की प्राप्ति से मनुष्य की पूर्णता बतायी गई है।[12] इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि वैदिक युग में पती व पत्नी मिलकर एक सम्पूर्ण परिवार की आधारशिला का निर्माण करते थे तथा एक दूसरे के प्रति स्नेह व सुख और दुःखों के सहित परिवार का निर्वाह करते थे। भारतीय पारिवारिक संकल्पना समर्पण व सत्कार, विनम्रता आदि गुणों से ओत-प्रोत है। इसी कारणवश भारतीय समाज में आचार्य, माता, पिता व अतिथि को भी देवतुल्य माना जाता है- **मातृदेवो भवः। पितृदेवोभवः। आचार्यदेवो भवः। अतिथिदेवो भवः.।**[13] प्राचीन समय में ऋषियों ने संस्कारों का निर्माण मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए किया था तथा उन प्रमुखतः षोडश संस्कारों को जन साधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया जिसका निर्वाह आज प्रायः सभी कर रहे हैं। ये संस्कार मानव में शीलगुण, सत्कार आदि का आदर्श स्थापित करते हैं। संस्कार का अर्थ है किसी वस्तु का परिष्कार, सुधार अथवा परिशोधित करना, भारतीय परिवार व्यवस्था में प्रायः सभी को संस्कारित करने का प्रयास किया ही जाता है। महर्षि चरक के अनुसार ''संस्कारों हि गुणान्तराधानमुच्यते'' अर्थात् वस्तु में नये गुणों का आधान का नाम संस्कार हैं। प्रायः सभी संस्कारों की मानव जीवन में उपादेयता है परन्तु जिस प्रकार आकाश और पृथ्वी, सोम और सूर्य तथा सांख्यदर्शन प्रतिपादित पुरुष और प्रकृति विश्व की सृष्टि करने वाले तत्त्व है, उसी प्रकार स्त्री और पुरुष मानवीय सृष्टि के आधार है, विवाह संस्कार शिक्षित से भी शिक्षित, असभ्य से भी असभ्य सभी जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है, विवाह का उद्देश्य भोग-विलास नहीं अपितु सन्तानोत्पत्ति ही इसका प्रयोजन है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए दम्पत्ति का एक-दूसरे के हित के लिए स्वार्थ, त्याग, प्रतिकूल व्यवहार में क्षमा अत्यन्त कष्ट में धैर्य आदि गुणों को धारण करते हुए अपना आदर्शपूर्ण पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं।

पारिवारिक कुल वंश परम्परा को आगे हस्तान्तरित करने के लिए सदैव उत्तम सन्तान की कामना पति-पत्नी द्वारा की जाती है। इसी आभीष्ट की पूर्ति गर्भाधान एवं गर्भ को स्थिर तथा सुरक्षित रखने की दृष्टि से मन्त्रोच्चारण सहित परमेश्वर से प्रार्थना की जाती है। पुत्र प्राप्ति के लिए देवनाओं से अभयदान मांगा जाता है।[14] व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात विधिवत् उसका अन्त्येष्टि संस्कार उसके पारिवारिक सदस्यों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार मनुष्य जीवन के साथ संस्कारों का संबन्ध होने के कारण समाज में इनकी उपयोगिता एवं अनिवार्यता को नकारा

नहीं जा सकता है। अभिप्राय यह है कि संस्कारों का समाज निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान है जिसकी प्राथमिक सीढ़ी परिवार है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में कण्व ऋषि के आश्रम में सभी आश्रमवासियों को देखकर भी पशु पक्षी भयभीत नहीं होते हैं बल्कि प्रेम व स्नेह के साथ रहते हैं[15] **'आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो इति'** शाङ्र्गरव द्वारा कहा गया वाक्य पशुओं से भी मैत्री सम्बन्ध को दर्शाता है। सप्तमांक में शकुन्तलापुत्र सर्वदमन का सिंह के दांत गिनते हुए चित्रण अत्यन्त उत्कृष्ट है **''जृम्भस्व रे सिंहशावकः जृम्भस्व मुखव्यादान् विधेहि। दन्तास्ते गणयिष्यामि।''** इसमें मानव व अन्य जीव का प्रेम एक दूसरे के प्रति न केवल विश्वास प्रस्तुत करता है अपितु पारिवारिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट करता है कि प्रेम पूर्वक क्रूर जीव भी सरल व सहज बनाया जा सकता है। माता-पिता ही अपने सन्तान के विषय मे आजीवन चिन्तित रहते हैं। यह तो उनका स्वभाविक दायित्व है परन्तु गुरुकुल के पारिवारिक सम्बन्ध को भी कालिदास नि मार्मिक रूप से प्रस्तुत किया है जहाँ पुत्री की विदाई के दृश्य में सभी आश्रमवासी पशु-पक्षी, मृग, मयूर आदि भाव विह्वल है। कण्व अपनी पुत्री के लिए हार्दिक शुभकामना प्रकट करते हैं। ऋषि कण्व शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उतने ही दुःखित हैं जितना कि एक सदगृहस्थ उनका हृदय दुःख से भरा हुआ है गला अवरुद्ध है आंखों में अश्रु हैं-

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुः खैर्नवैः।।[16]

महाकवि कालिदास ने रघुवंशमहाकाव्य में कहा है कि रघुवंशी राजा संतान के लिए गृहस्थ होते थे न कि विषय-वासना के लिए अर्थात् राजाओं का परमकर्तव्य प्रजापालन होता है न कि वासना, जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र रुपी कुटुम्ब ही नष्ट होने की स्थिति में हो जाते थे इसलिए रघुवंशी राजा सन्तानोत्पत्ति के लिए ही गृहस्थ होते थे।[17] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तमांक में मारीच दुष्यन्त को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि श्रद्धा, धन और विधि के प्रयोग से जैसे यज्ञ की पूर्णता होती है वैसे आपका इन तीनों से पूर्ण हुआ है-

दिष्टया शकुन्तला साध्वी सदपत्यनिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्।।[18]

इस प्रकार यहां यह ज्ञात होता है कि परिवार में पति पत्नी व पुत्र का विशेष महत्व होता है। ये तीनों मिलकर एक परिवार को पूर्ण बनाते हैं। स्त्री व पुरुष परिवार संस्था के मूल स्तम्भ है। दोनों मानो नदी के दो तट हों, उत्तररामचरित नाटक में भवभूति द्वारा उल्लिखित यह पद्य स्त्री व पुरुष के मध्य प्रेम वासना के स्तर से बहुत ही ऊंचा है जिसमें दाम्पत्य जीवन के प्रति निर्देश दिया गया है कि जो दाम्पत्य सुख व दुःख में एक रूप है, सभी अवस्थाओं में अनुसरण करने वाला है, जिसमें हृदय का विश्राम है, जिसमें वृद्धावस्था से अनुराग छीना नहीं जा सकता है जो समय पाकर आवरण ने नष्ट हो जाने के कारण (संकोचों के समाप्त हो जाने के कारण) अथवा विवाह से लेकर मृत्युपर्यन्त परिपक्व उत्कृष्ट प्रेम में अवस्थित है, उस दाम्पत्य का वह एक कल्याण किसी प्रकार (बड़े पुण्य से) प्राप्त किया जाता है -

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं ही तत्प्रार्थ्यते।।[19]

महर्षि वेदव्यास ने लिखा है कि जितने में हमारा पेट भर जाये उतने पर ही हमारा अधिकार है उससे अधिक मांगने की जो इच्छा रखता है वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिए।[20] इसी को कबीरदास जी ने भी कहा था कि 'साई इतना दीजिए जामे कुटुम्ब न भूखा जाय' आज के युग में किसी भी तरह से अर्थ संग्रह की दृष्टि अनेक समस्याओं की जननी है। जिससे व्यक्ति और परिवार असंस्कारित हो रहा है।

भारतीय परिवार की संकल्पना में तो जड़, चेतन, नदी, पर्वत सभी के प्रति आत्मीयता का भाव दिखाई देता है। मछली को दाना देना, गाय को रोटी देना, सबके प्रति मानव एकात्म दिखाई देता है इसलिए विवाह के बाद पति-पत्नी अलग हो जाये ऐसा मान्यता नहीं है जहां पाश्चात्य समाज में दो पति-पत्नी मात्र का विवाह संबन्ध देखा जाता है वहीं भारतीय विवाह पद्धति दो समाजों अथवा दो परिवारों के मध्य सौहार्द व सामंजस्य को स्थापित करता है। हमारे ग्रन्थों मे कहा गया है कि-

त्येजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।[21]

अर्थात् राष्ट्र हित के लिए जनपद का हित, जनपद के

हित के लिये परिवार का हित, ग्राम के हित के लिए परिवार का हित तथा पृथ्वी अर्थात् सृष्टि के हित के लिए आत्मा का हित त्याज्य है यही कारण है कि भारतीय पारिवारिक चिंतन में राष्ट्र को सर्वोपरि माना गया है तथा उदार चरित वालों के लिए यह पृथ्वी भी कुटुम्ब के समान प्रतीत होती है। कहा भी गया है कि-

अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्।
उदारचरितान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

धर्म के सद्गुणों से परिवार का सिंचन करना चाहिए। परिवार के प्रत्येक सदस्य के मन की अभिलाषा रहती है। परिवार को महान बनाओ, श्रेष्ठ बनाओ, उसे रुप संपन्न करो, प्राण संपन्न करो, धर्म, अर्थ, काम संज्ञक पुरुषार्थे से सम्पन्न करो, अपने जीवन की शक्ति की नवीन धारा उसमें प्रवाहित करो- इस प्रकार उत्साहमयी मानसिक स्थिति परिवार की उच्चता का कारण बनती है। कुल का प्रत्येक सदस्य सोचता है मेरे कारण इस महती परम्परा का विशकलन न होने पावे, पिता, माता पति-पत्नी, भाई, बहनों से लहराता हुआ परिवार रुपी उद्यान कितना रमणीय व रसपूर्ण होता है, इसे शब्दों में कहना कठिन है। पाणिनी मुनि ने भी अपने सूत्रों के माध्यम से प्रकाश डाला है यथा **''जीवति तु वंशे युवा''** इस सूत्र से वंश मे होने वाले पिता, पितामह आदि के जीवित रहते पौत्र आदि का अपत्य चतुर्थ आदि पीढ़ी स्थित हो, उसकी युवन् संज्ञा अर्थात् युवा संज्ञा होती है। यहां पर अवलोकनीय बात यह है कि व्यक्ति अपनी पांचवीं पीढ़ी को भी देख सकता है इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि परिवार कितना बड़ा हो सकता है।

उपसंहारः-

प्रस्तुत शोधपत्र में परिवार की संकल्पना को समझने का प्रयास किया गया है। परिवार व्यक्तियों को समाज द्वारा निर्धारित मानकों के अनुरुप अपने पारिवारिक सम्बन्धों के माध्यम से मानसिक प्रभाव, सुरक्षा, स्नेह व पथप्रदर्शक बनकर समाज के समक्ष आदर्श बन सकता है। परिवार ही समाज का आधार स्तम्भ है अर्थात् परिवार समाज को जैसे व्यक्ति प्रदान करेगा, उसी के अनुरुप समाज का निर्माण होगा। परिवार की व्यवस्था से कहीं आगे बढ़कर मनुष्यों ने परिवार से अतिरिक्त व्यक्तियों से सहयोग व समन्वय स्थापित किया जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र भी कुटुम्ब के समान प्रतीत होता है। परिवार संस्था में स्त्री व पुरुष दोनों परिवार के मूल हैं नदी के दो तट की भांति वे सहयुक्त हैं। दोनों के बीच में ही जीवन की धारा प्रवाहित है। स्त्री वृत्त का व्यास है और पुरुष उसकी परिधि है जिस प्रकार ऋग्वेद के मंत्र को ही आधार बनाकर उसे साम के गीत में परिवर्धित किया जाता है और जिस प्रकार वृत्त के व्यास को तिगुना करके परिधि बनती है उसी प्रकार स्त्री के जीवन से गुणित होकर पुरुष का जीवन बनता है। बच्चों का संस्कार करने और आचार-व्यवहार में दीक्षित करने का कार्य मुख्य रुप से परिवार में होता है। इसके द्वारा समाज की सांस्कृतिक विरासत एक से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है।

आधुनिकता की इस दौड़ में व्यक्ति परिवार को पीछे छोड़ता जा रहा है। आधुनिक औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप परिवार की रचना और कार्यों में गंभीर परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। पहले सभी समाजों में परिवार सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक संस्था थी परन्तु अब स्वार्थ तथा अन्य कारणवश हर किसी को व्यवसाय की दृष्टि से देखा जा रहा है तथा औद्योगिकरण के इस युग में व्यक्ति अपने निजिजनों की भी स्वार्थपरक दृष्टि से देखता है। इस प्रकार यदि अच्छे समाज व राष्ट्र का निर्माण करना है तो सबसे पहले संस्कारों व आदर्शों का पाठ प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ाना होगा तथा महर्षियों द्वारा प्रदत्त संस्कृत व संस्कृति को प्रत्येक व्यक्ति में चरितार्थ करना होगा।

एसोसिएट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग,
भारती महाविद्यालय, दिल्ली
tiwariaasha7@gmail.com

संदर्भ सूची

1. यजु.वे.7/46
2. पितृभ्यः स्वधायिभ्यःस्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः, प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पुनन्तु मा पितर सोम्यासः पुनन्तु मा पितामह। यजु.वे.19/36-37
3. ऋग्वेद. 10/85/42
4. सं वा मनांसि सं व्रता, सं चित्तान्याकरम्। यजु.वे. 1258
5. चक्रवाकेव दम्पती. अथर्व.वे. 12/2/64 तथा वेदालंकार,

हरिदत्त. हिन्दू-परिवार - मीमांसा पृ.सं. 163

6. अथ.वे. 3/30/1.5-7
7. वा. रा. 8/19/24
8. अष्टाध्यायी 441/33
9. दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवर्ती पतिः आहेर द्विविवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन्।। याज्ञ.स्मृ.1/89
10. ऋग्वेद. 10/85/42
11. श. ब्रा. 5/2/1/10
12. तस्मात्पुरुषो जायां वित्वा कृस्नतरमिवात्मानं मन्यते।। ऐ.आ.1/2/5
13. ईशादि नौ उपनिषद् पृ. 364
14. अथर्ववेद. 2/23/2
15. विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः, अभि. शा. 1/14
16. अभि. शा. 4/6
17. प्रजायै गृहमेदिनाम्, रघु. म. 1/7
18. अभि. शा. 7/21
19. उत्तररामचरितम्. ना, 1/39
20. 'यावत् भ्रियते जटरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।। श्रीमद्भागवतम्-7/14/8
21. चा. नी. 3/11

सन्दर्भ ग्रन्थसूचीः-

1. वेदालंकार, हरिदत्त. हिन्दू-परिवार - मीमांसा, बंगाल हिन्दी माडल प्रकाशन, कलकत्ता, 2011
2. कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, सम्पा. विद्यालंकार, निरुपण, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2011
3. ऋषि, उमाशंकर, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा संकृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1999
4. डॉ, त्रिपाठी, रमाकान्त, उत्तररामचरितम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2012
5. कालिदास,रघुवंशम्, सम्पादक. रेग्मी, शेषराजशर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी 2015
6. गोयन्दका, हरिकृष्णदास, ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, सं 2073
7. उपाध्याय, बलदेव. संस्कृत साहित्य का इतिहास. वाराणसी शान्ति निकेतन, 2008
8. भट्टाचार्य, तर्कवाचस्पति तारानाथ, वाचस्पत्यम्, चौखम्बा संस्कृतग्रन्थमाला, वाराणसी, 1969.
9. चाणक्यनीति, सम्पा.पं. श्रीमाली, राधा कृष्ण, अनुराग प्रकाशन महरौली, 1987

शोध-पत्र

हिंदी उपन्यास में किन्नर समाज

डॉ. मनीष कनौजिया

हिंदी साहित्य में अनेक विधाओं में से श्रेष्ठ विधा उपन्यास को माना गया है। उपन्यास ही एक मात्र ऐसी विधा है जिसके माध्यम से हम अपनी सम्पूर्ण विचार प्रकट कर सकते हैं। कहानी के अपेक्षा उपन्यास का क्षेत्र विस्तार सम्ब्रिद्ध होता है। उपन्यास में अनेकों पात्रों को लेकर कई कहानियां एक साथ चलती हैं जिन्हें उपन्यासकार बड़े ही रोचक और संवेदना के साथ गढ़ता है ताकि उपन्यास बोझिल और उबाऊ न हो सके। हिंदी लेखन में उपन्यास का आरम्भ भारतेंदु युग से माना जाता है तद्पश्चात हिंदी का पहला उपन्यास श्रीनिवासदास द्वारा कृत 'परीक्षा गुरु' को माना जाता है। इसके बाद प्रेमचंद कथा साहित्य के सम्राट बन गये। उन्होंने कई उपन्यास सामाजिक समस्याओं को केंद्र बना लिखा। तद्पश्चात हिंदी में उपन्यास की गाड़ी तेजी से चल पड़ी और कई लेखकों ने उपन्यास लेखन में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई। इस संदर्भ में प्रेमचंद का कहना है कि ''गत पचास वर्षों में भारत की साहित्यिक शक्ति का जितना उपयोग उपन्यास-रचना में हुआ उतना शायद साहित्य के और किसी भाग में नहीं हुआ। बंगला ने बंकिम पैदा किया, गुजराती ने गोविन्ददास, मराठी ने आप्टे, उर्दू ने रतननाथ और शरर, जो संसार के किसी उपन्यासकार से घटकर नहीं हैं।''[1]

आज उपन्यासकारों ने समाज में व्याप्त अनेक पहलुओं पर अपनी पारखी दृष्टि डाली है जिससे किन्नर समाज भी अछूता नहीं रहा है। किन्नर समाज की मानवीय संवेदनाओं को हिंदी लेखन में उपन्यास के जरिये पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है। जिसमें मानव जीवन से सम्बद्ध तमाम कोनों-अंतरों में झांकने की कोशिश की गई है, परन्तु शोध की दृष्टि से जब मैंने इसका अध्ययन किया तो पाया कि ये विषय इतना उपेक्षित है कि इससे जुड़े कुछ ही उपन्यास उपलब्ध हो पाते हैं।

21वीं सदी के आरम्भ से ही हिंदी उपन्यासकार का ध्यान किन्नर समाज की ओर गया और वे इन्हें अपने उपन्यासों में स्थान देने लगे जिससे यह हाशिये का समाज भी आज केंद्र में खड़ा दिखाई पड़ता है। लेखकों ने इनके प्रति अपनी मानवीय संवेदना को प्रकट करते हुए इनके लिए तमाम अधिकारों की मांग करते हैं। ये लेखक ही हैं जो अपने उपन्यासों के माध्यम से किन्नर समाज के प्रति पाठकों की सोच बदलने में कामयाब हो सके हैं। इस कड़ी में सबसे पहला नाम नीरजा माधव का आता है जिन्होंने किन्नरों को केंद्र बना 'यमदीप' नामक उपन्यास की रचना 2002 में की। यह किन्नरों पर आधारित हिंदी का पहला उपन्यास माना जाता है। इसके पश्चात् कई और उपन्यास हिंदी में लिखे गये जो इस प्रकार हैं-- महेंद्र भीष्म (किन्नर कथा-2011), प्रदीप सौरभ (तीसरी ताली-2011), डॉ. अनुसुइया त्यागी (मैं भी औरत हूँ-2011), महेंद्र भीष्म (मैं पायल-2016), निर्मला भुराड़िया (गुलाम मंडी-2016), चित्रा मुद्गल (पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा-2016), भगवंत अनमोल (जिन्दगी 50-50-2017), सुभाष अखिल (दरमियाना-2018), राजेश मलिक (आधा आदमी-2018), गिरिजा भारती (अस्तित्व-2018), डॉ. मुक्ति शर्मा (श्रापित किन्नर-2019), भुवनेश्वर उपाध्याय (हॉफ मैन-2020), रेनू बहल (मेरे होने में क्या बुराई हैं-2020), शरद सिंह (शिखंडी-2020), हरभजन सिंह मेहरोत्रा (ऐ जिन्दगी तुझे सलाम-2020) इत्यादि। ये सभी

उपन्यास हिंदी साहित्य लेखन में एक नये विमर्श को जन्म देते हैं जो सदियों से उपेक्षित, घृणित, तिरष्कृत मानकर हाशिये पर धकेल दिया गया है। उपन्यासकार ने किन्नरों को समाज के केंद्र में लाने का प्रयास किया है।

नीरजा माधव ने अपने उपन्यास यमदीप में नाजबीबी के माध्यम से किन्नरों की मानवीय संवेदना को दिखाते हुए उनके विशाल हृदय का चित्रण किया है जिसमें ये किन्नर एक पागल की प्रसव कराते हैं और उसकी बच्ची को सबसे छुपा अपने बस्ती में पालते हैं तथा उसे एक बेहतर भविष्य देने की कोशिश करते हैं। लेखिका ने यहाँ किन्नरों के भावनात्मक प्रेम का वर्णन किया है। इस उपन्यास में किन्नर गन्दी बस्तियों में रहने को मजबूर हैं। वे अपनी जीविका के लिए बधाई-टोली करते हैं तथा आर्थिक समस्या को दूर करने के लिए देह व्यापार भी करते हैं। शरद सिंह के अनुसार 'यमदीप' उपन्यास ''तृतीय लिंग के लोगों के विषय में केवल चर्चा नहीं करता, बल्कि लेखिका द्वारा किया उनका चित्रण लेखिका के गहन अध्ययन का परिचय देता है। समाज के सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों पक्षों को उद्घाटित करता है।''[2]

किन्नरों का जीवन उपेक्षित और अनाद्रित ही रहता है, उन्हें न तो समाज उचित स्थान देता है और न ही परिवार उन्हें समान दर्जा दे पाते हैं, ऐसे ही किन्नरों की गाथा को महेंद्र भीष्म ने अपने उपन्यास किन्नर कथा में दिखाने का प्रयास किया है। किन्नर कथा उपन्यास दो उच्च कुलों में जन्म लेने वाली तारा और सोना की कथा को रेखांकित करता है। ये दोनों किन्नर अपने परिवार से विस्थापित हो, किन्नरों के डेरे में रहने को मजबूर होते हैं। इनका परिवार सम्पन्नता के बाद भी इन्हें अभाव का जीवन जीना पड़ता है। लेखक इनके अधिकारों की मांग करते हैं और अंत में सोना को परिवार द्वारा अपना लेने की वकालत भी करते हैं।

''प्रदीप सौरभ द्वारा रचित चर्चित उपन्यास तीसरी ताली किन्नरों के रहस्यमयी दुनिया में झाँकने का प्रयास करता है। उपन्यास में किन्नर समाज में हो रहे गतिविधियों, आचरण एवं उनके संस्कारों से पाठकों को रू-ब-रू करवाता है। हउपन्यास एक किन्नर समुदाय में गद्दी अर्थात् शीर्ष नायकत्व को हासिल करने के लिए चलाने वाले षड्यंत्र और परस्पर संघर्ष को दर्शाता है। आकर्षक किन्नर अक्सर तथाकथित संभ्रांत वर्ग के विकृत यौनाचार के शिकार हो जाते हैं, ऐसी घटनाओं को किन्नर कथा साहित्य में प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहाँ एक ओर प्रदीप सौरभ किन्नरों के सशक्तिकरण के लिए आवाज उठाते हैं वही दूसरी ओर महेंद्र भीष्म किन्नरों के मानवाधिकारों के लिए पक्षधर बनकर खड़े होते हैं।''[3]

अनुसुइया त्यागी का उपन्यास 'मैं भी औरत हूँ' में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि किन्नरों को उचित सलाह एवं चिकित्सा की मदद से एक बेहतर जिन्दगी दी जा सकती है। वे समाज के मुख्यधारा में सम्मिलित हो सामान्यपूर्वक जीवन जी सकते हैं। लेखिका ने इस उपन्यास में मंजुला और रोशनी जैसी किन्नरों को मेडिकल और साइंस के अतिआधुनिक दृष्टिकोण से देखा है। एक ऑपरेशन मंजुला का जीवन बदल देता है और वह एक सामान्य स्त्री की तरह वैवाहिक जीवन जीती हैं, वहीं रोशनी भी चिकित्सा की मदद से विवाह करती है और बच्ची गोद ले मातृत्व सुख की अनुभूति करती है। इस उपन्यास में लेखिका समाज का ध्यान ऐसे कुछ किन्नर बच्चों पर दिलाती हैं जो चिकित्सा की मदद से सामान्य स्त्री और सामान्य पुरुष की भांति जीवन जी सकते हैं किन्तु अज्ञानता बस आजीवन किन्नर होने का श्राप झेलते रहते हैं।

महेंद्र भीष्म ने 'मैं पायल' के रूप में पाठकों के समक्ष किन्नरों पर दूसरी रचना प्रस्तुत की है। यह एक वास्तविक चरित्र लखनऊ की गुरु पायल सिंह के जीवन संघर्ष को केंद्र बनाकर लिखा गया है। अत: यह एक जीवनीपरक उपन्यास है। ''पायल के जीवन में आए उतार-चढ़ाव समाज के गलीज व सुंदर दोनों पक्षों को उद्घाटित करते हैं, किन्नर की नियति नहीं बदलती या सामाजिक यथास्थितिवाद उसे बदलने नहीं देता। यह भी स्पष्ट होता है कि यदि सभी किन्नर व्यक्तिगत रूप से अपनी स्थिति में सुधार लाना चाहें और अपना मानसिक एवं वैयक्तिक विकास करते हुए अन्य क्षेत्रों में रोजगार की संभावनाओं को तलाशें तो सकारात्मक परिणाम मिल सकते हैं।''[4]

'गुलाम मंडी' उपन्यास में लेखिका ने किन्नरों के मनोभावों को संवेदना के साथ प्रकट किया है कि ये किन्नर समाज और परिवार से बहिष्कृत होकर किस प्रकार उपेक्षित जीवन जीते हैं। इस उपन्यास में किन्नरों का दु:ख और सभ्य समाज के प्रति घृणा, आक्रोश दिखाई

पड़ता है। इस उपन्यास में किन्नरों के कई पात्र रचे गये हैं और उनके बारे में उनकी तरफ से रचा गया है, समाज की ओर से नहीं। उसके लिए स्वयं के एक किन्नर होने की कल्पना करनी पड़ी तो वह भी किया। ''उपन्यास में अंगूरी के माध्यम से लेखिका इस समाज की समस्या को केंद्र में लाती हैं। किन्नर भले ही विषम लिंगी हैं, किन्तु वे हैं तो मनुष्य ही। मान-सम्मान, पीड़ा-अपमान, शक्ति और दलन इन सबसे प्रभावित। समाज द्वारा की जाने वाली उपेक्षा का दंश इन्हें और भी अलग-थलग बनाए रखता है। निर्मला भुराड़िया अंगूरी के बहाने किन्नरों के उपेक्षित जीवन के कई पृष्ठ खोलती हैं।''[5]

चित्रा जी ने अपने उपन्यास पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नालासोपारा में किन्नर विनोद के विस्थापन की पीड़ा को रेखांकित करती हैं। इस उपन्यास में विनोद अपने अन्य भाई-बहनों से अलग होने के कारण परिवार से दूर कर दिया जाता है और वह किन्नरों के साथ रहने को मजबूर हो जाता हैं। इस उपन्यास में पत्रों के माध्यम से विनोद अपनी बात ('बा'), माँ के समक्ष किन्नर समाज के तमाम पहलुओं को खोलते हुए उनके पीड़ा, अपमान जैसे दर्द से भी रू-ब-रू करवाता है। ''वह बिन्नी जरूर बनता है, पर अपने मूल्यों से किसी तरह से कोई समझौता नहीं करता, अपने जीवन के हर उतार-चढ़ाव की पल-पल की जानकारी मां को चिट्ठियों के माध्यम से देता है। मां का जो जवाब आता है, उससे भी जूझता है। एक अधूरेपन और कशमकश में होने के बावजूद उसका संकल्प है कुछ बनने का, अपनी बिरादरी के लोगों को समाज में इज्जत दिलाने का, आसपास बहुत घुटन है, राजनीति है, क्रूरता है, इन सबके बीच से ही रास्ता निकालना है। उधर बा भी विचलित है, यह गम उन्हें सताता है कि अपने बेटे को कैसे उन्होंने हिजड़ा बिरादरी को सौंपने दिया? विनोद की जिन्दगी बदलते-बदलते रह जाती है। जिन खुशनुमा दिनों की उसने चाह की थी, वह पूरी नहीं हो पाती। बिन्नी के साथ-साथ कहीं हम भी टूटते हैं और हार हमारी भी होती है। बिन्नी की साबुत बेटा बनने की चाहत समाज की ना जाने कितनी विसंगतियों से पर्दा उठाती है। चित्रा जी ने बा और बिन्नी का मर्मस्पर्शी रिश्ता बहुत संजीदगी से पेश किया है।''[6]

अनमोल भगवंत का चर्चित उपन्यास 'जिन्दगी 50-50' में नायक का भाई किन्नर होने की पीड़ा सहता है। नायक संवेदनशील होने के बाद भी अपने भाई की मदद नहीं कर पाता परन्तु उसे दूसरा अवसर उसका पुत्र सूर्या देता है क्योंकि वह भी किन्नर होता है। नायक अब सोचता है कि जो मेरे भाई के साथ हुआ वो उसके पुत्र के साथ कभी नहीं होगा। वह अपने पुत्र का कदम-कदम पर साथ देता उसे हौंसला देकर आगे बढ़ने की ओर प्रेरित करता है। सूर्या अपने पिता के प्रेम और सहयोग से पढ़ लिखकर एक दिन सफल डिटेक्टिव बन जाता है। लेखक इस उपन्यास में इस बात की पैरवी करते दिखाई पड़ते हैं कि अगर किन्नरों को प्रेम और सहयोग दिया जाए तो वे समाज में अपने अस्तित्व को स्थापित कर एक नया मुकाम हाशिल कर सकते हैं। ''जिन्दगी 50-50 उपन्यास कुछ बेहतरीन प्रश्न भी उठाता है कि आखिर क्यों जेनाइटल डिफॉर्मिटीज के साथ पैदा हुए बच्चों को अलग-थलग कर किन्नरों के समूह में भेज दिया जाता है? क्यों उन्हें सामान्य मनुष्य या परिवार के सदस्य की तरह प्यार नहीं किया जाता? और एक पिता के रूप में उपन्यास का नायक इन सवालों के न सिर्फ जवाब देता है, बल्कि उन्हें अमल में लाकर दिखाता है।''[7]

सुभाष अखिल द्वारा रचित 'दरमियाना' उपन्यास किन्नरों के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया है। यह उपन्यास किन्नर समाज की संस्कृति, रहन-सहन, वेशभूषा, भाषा और उन्हें हाशिये पर लाने के कारणों का विस्तार से वर्णन करता है। ''कथाकार ने इस उपन्यास को पाँच अध्यायों में विभक्त किया है। तारा और रेशमा से प्रारंभ होकर दिल्ली के गलियारों में राजनैतिक उठा-पटक के साथ यह उपन्यास अपने अहम्-बिंदु को रेखांकित करता है।''[8]

राजेश मलिक का उपन्यास 'आधा आदमी' में किन्नरों के शोषण, पीड़ा और उपेक्षाओं को उद्घाटित किया गया है। इस उपन्यास में किन्नरों की दुनिया की सच्चाई से समाज को अवगत कराने का प्रयास किया गया है। आधा आदमी उपन्यास में किन्नरों की त्रासदी, उनकी समस्याओं, उनके रहन-सहन व रीति-रिवाजों को बहुत ही अच्छे ढंग से प्रदर्शित किया गया है। इस उपन्यास में यह भी दिखाया गया है कि एक आम आदमी किन्नरों का किस प्रकार शोषण करता है। राजेश मलिक भी अन्य लेखकों की तरह किन्नरों के पक्ष में उनकी वकालत करते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे उनके लिए समाज से न्याय की मांग करते हैं।

'अस्तित्व' उपन्यास में किन्नरों के अस्तित्व को

स्थापित करने की पहल की गई है। उपन्यास में लेखिका ने माता-पिता तथा परिवार की बदलती सोच के परिदृश्य को समाज के समक्ष लाने का प्रयास किया है। उपन्यास की किन्नर पात्र प्रीत को उसके माता-पिता एक बेहतर भविष्य देने में कामयाब रहे हैं लेखिका यह प्रकट करती है कि अगर किन्नरों को परिवार और समाज का साथ मिले तो वह अपनी पहचान बना एक बेहतर जीवन जी सकते हैं।

उपन्यास 'श्रापित किन्नर' हिना के जीवन-संघर्ष की गाथा है, जिसमें प्रत्येक किन्नर के अतीत के संघर्ष की झलक दिखाई देती है। जीवन जीने वाली हिना जो बचपन से श्रापित होने का दाग लिए अपना जीवन जीती है और अंत क्षणों में सोचती है कि मुझे घुटन भरी जिन्दगी से मुक्त जीवन जीना है।

'हॉफ मैन' उपन्यास में किन्नर अर्जुन की कहानी है जो उसके साहस, संघर्ष, धैर्य, प्रेम, द्वन्द्व, नफरत और सफलता की बानगी भर है। वह इस समाज का अंग है परन्तु उसके लिए इस समाज में कोई स्थान नहीं है। वह अपनी मेहनत और सफलता के बल पर समाज में अपने आप को स्थापित करता है और अपने जैसे अन्य किन्नरों के लिए नए आयाम तलाशने की ओर अग्रसर करता है।

'मेरे होने में क्या बुराई है' उपन्यास में लेखिका ने दुनिया की सोच बदलने की एक पुरजोर कोशिश की है। वह बड़े बेबाकी ढंग से हमारे समाज के समक्ष यह सवाल भी खड़ा कर देती हैं कि जब हम ईश्वर की बनायी तमाम सृष्टि की तारीफ हरदम करते रहते हैं, तो फिर उसी के बनाये किन्नरों को कैसे ठुकरा सकते हैं आखिर उनका अपराध क्या है? क्यों हमारा समाज उन्हें अपना नहीं सकता? क्यों हमारा समाज उनसे दोहरा व्यवहार करता है? क्या किन्नर जन्म लेना ही अपराध है? लेखिका समाज से यह उम्मीद भी करती हैं कि शायद एक दिन समाज इन्हें समानता का दर्जा दे और अपने जैसा इन्हें भी समझ सके। फिर इनकी अंधेरी दुनिया में भी खुशी की रोशनी झिलमिलायेगी।

शरद सिंह द्वारा रचित उपन्यास 'शिखंडी' महाभारत के किन्नर पात्र शिखंडी पर आधारित है। महाभारत में शिखंडी एक पात्र के रूप में उभरकर आता है। वही इस उपन्यास में पूरी कहानी का ताना-बाना शिखंडी को लेकर ही बुना गया है वह किस प्रकार अम्बा राजकुमारी से शिखंडी बनती है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। लेखिका सराहना के योग्य है जिन्होंने महाभारत के एक पात्र शिखंडी को लेकर बेहतरीन उपन्यास की रचना की।

'ऐ जिन्दगी तुझे सलाम' उपन्यास में किन्नरों के त्रासदी भरे जीवन का खाका प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में किन्नर दुनिया के रहन-सहन, किन्नरों पर लगायी गयी बंदिशें और उन पर हो रहे अत्याचार को भी रेखांकित किया गया है। इस उपन्यास में एक किन्नर बच्ची रोशनी के जन्म और उसे किसी असहाय परिवार द्वारा अपनाये जाने का प्रसंग बहुत ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया हैं। तद्पश्चात अपहरण द्वारा रोशनी किन्नर समाज में पहुंच जाती है। लेखक का मानना है कि दुर्भाग्य, किन्नर बच्चों के सामने बार-बार आकर खड़ा हो जाता है परन्तु किन्नर समाज में भी कुछ ऐसे लोग हैं जो अपनी बिरादरी के बच्चों की बेहतरी के लिए हर संभव कदम उठाते हैं और उन्हें बेहतर भविष्य देने का प्रयास भी करते हैं जो इस उपन्यास में दिखाया गया है। रोशनी अपनी किन्नर मौसी की मदद से पढ़-लिखकर एक उच्च अधिकारी बन जाती हैं। उपन्यास में लेखक की संवेदना किन्नरों के साथ दिखाई पड़ती है। ''लेखक ने जिस निम्नवर्गी परिवेश में इस कहानी को गढ़ा है, वे इस वर्ग के पात्रों, उनके परिवेश, आपसी संबंधों, सामाजिक सरोकारों और उनकी भाषा तथा संवादों को भी बेहतरीन ढंग से समझते हैं। उपन्यास की यही विशेषता आद्योपांत बनी रहती है कि यह अपने सभी पात्रों व परिवेश के अनुकूल बहुत ही मनोवैज्ञानिक आधार पर विकसित होती हुई चलती है। हरभजन जी पृष्ठ-दर-पृष्ठ एक 'हिजड़े के जीवन' की त्रासदी को, पूरी प्रामाणिकता के साथ उतारते हुए चलते हैं।''[9]

अंततः हम यह कह सकते हैं कि हिंदी लेखन में उपन्यास लेखन सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। उपन्यास के माध्यम से ही हम सम्पूर्ण समाज का चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं। किन्नर समाज एक ऐसा हाशिये का समाज है जो सदियों से मुख्य धारा के समाज से अलग-थलग रहा है। आज विमर्शों के दौर में हर वर्ग अपनी अस्मिता की मांग कर रहा है वहीं किन्नर समाज भी अपनी मनुष्यता और न्याय की मांग कर रहा है। कुछ लेखकों का ध्यान इन तबकों की ओर गया और वे इन किन्नरों को अपने कथा का पात्र बना समाज के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। कोई इनके न्याय

की बात कर रहा है तो कोई इन्हें समानता का दर्जा दिलाने की वकालत कर रहा है तो कोई सम्मानपूर्वक इन्हें परिवार में सम्मिलित करने की बात करता है। इन लेखकों के प्रयास से समाज इन तबकों के बारे में जागरूक हो पाया है और आज समाज में कुछ ऐसे लोग हैं जो इनके बारे में कुछ अच्छा सोचते हैं तथा इनके प्रति अपनी संवेदना भी प्रकट करते हैं। उपयुक्त उपन्यासों में किन्नर जीवन के त्रासदी, अपमान, विस्थापन के दंश को दिखाया गया है वही कुछ उपन्यासों में चिकित्सा, शिक्षा की सहायता से इन्हें बेहतर जीवन जीने का मार्ग भी दिखाया गया है। आज हमें किन्नरों को समान मनुष्य की श्रेणी में रखने की आवश्यकता है ताकि वो भी हमारी तरह परिवार और समाज में सम्मिलित हो सरकारी सुविधाओं का लाभ उठाते हुए अपने जीवन की बेहतरी की ओर अग्रसर हो सके।

सहायक प्राध्यापक
आचार्य नरेन्द्र देव महाविद्यालय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा, बिहार

संदर्भ सूची

1. प्रेमचंद के विचार, लेखक- प्रेमचंद, खंड-2, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. 13
2. थर्ड जेंडर विमर्श, संपादक- शरद सिंह, आलेख- हिंदी उपन्यासों में थर्ड जेंडर, लेखिका- पुष्पा गुप्ता, पृ. 57
3. हिंदी कथा-साहित्य में किन्नर स्वर, लेखक-डॉ. एम. वेंकटेश्वर website- m.sahityakunj.net
4. थर्ड जेंडर विमर्श, संपादक- शरद सिंह, आलेख- हिंदी उपन्यासों में थर्ड जेंडर, लेखिका- पुष्पा गुप्ता, पृ. 54
5. थर्ड जेंडर विमर्श, संपादक-शरद सिंह, आलेख- किन्नरों के जीवन की गहन पड़ताल, लेखिका- शरद सिंह, पृ. 167
6. पोस्ट बॉक्स नंबर 203 नालासोपारा, जयन्ती रंगनाथन, website- m.femina.in
7. जिन्दगी 50-50, शिल्पा वर्मा, website- m.femina.in
8. वाङमय हिंदी पत्रिका, आलेख- दरमियाना, लेखक- डॉ. मो. शमीम, website- vangmaypatrika.blogspot.com
9. ऐ जिन्दगी तुझे सलाम, लेखक- हरभजन सिंह मेहरोत्रा, फ्लैप पेज से, प्रकाशक- अमन प्रकाशन, कानपुर

हिन्दी उपन्यास और मुस्लिम जीवन का यथार्थ

हृदय कुमार

सारांश : उपन्यास का यथार्थ से घनिष्ठ रिश्ता है। उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य कहा जाता है। उपन्यास में जीवन अपनी सम्पूर्णता में अभिव्यक्ति पाता है। हिन्दी उपन्यास में हिन्दी प्रदेश के जीवन की धड़कन को सुना जा सकता है। हिन्दू के साथ-साथ मुस्लिमों की बहुसंख्यक आबादी यहाँ निवास करती है। हिन्दी उपन्यास में मुसलमानों के जीवन एवं संस्कृति का चित्रण मिलता है।

बीज शब्द - उपन्यास, महाकाव्य, यथार्थवाद, भारतीय, मुसलमान, अल्पसंख्यक, धर्म-निरपेक्षता

भूमिका - आधुनिक युग को विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का युग भी माना जाता है। ''विद्वानों का अभिमत है कि विज्ञान के बहुविध अविष्कारों एवं बढ़ते हुए औद्योगिकीकरण के कारण हमारा सामाजिक जीवन और उसमें चलने वाले मानवीय संबंध इतने जटिल उलझनपूर्ण और संशलिष्ट हो गए हैं कि उन्हें कविता की भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। गद्य की भाषा ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जो युग की तथा मानवीय संबंधों की इस जटिलता की प्रमाणिक अभिव्यक्ति हो सकती है।''[1] शायद इसलिए निराला ने गद्य को 'जीवन संग्राम' की भाषा कहा है। 'उपन्यास' आधुनिक युग की सशक्त गद्य-विद्या है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक राल्फ फाक्स ने उपन्यास को पूंजीवादी व्यवस्था के एक महान प्रदेय के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने 'उपन्यास' को 'महाकाव्य' का स्थानापन्न भी माना है।

(क) उपन्यास और यथार्थ जीवन

उपन्यास और यथार्थ जीवन में घनिष्ठ संबंध है। गतिमान, प्रवाहयुक्त-यथार्थ मानव जीवन ही उपन्यास-लेखक को सामग्री प्रदान करता है और उपन्यास बहुत अंशों में इसी जीवन की अनुकृति है। प्रेमचन्द का मानना है कि 'उपन्यास' मानव चरित्र का चित्र है। वास्तव में उपन्यास मानव के सम्पूर्ण जीवन को चित्रित करता है। उपन्यासकार अपने उपन्यास में एक संसार रचता है। उस संसार में वास्तविक जीवन को ज्यों का त्यों नहीं रखता, बल्कि उसमें कुछ जोड़-घटाकर व्यक्त करता है। लेखक में जीवन के विस्तृत क्षेत्र की जितनी अनुभूति होती है उतना ही उसका यथार्थ-बोध प्रमाणिक होता है। लेखक का यह दायित्व है कि वह अपने समय के यथार्थ की गहरी छान-बीन कर उसे कलात्मक रूप में प्रस्तुत करे।

कथा-साहित्य में यद्यपि बाह्य रूप की यथार्थता को अधिक महत्त्व दिया जाता है, फिर भी उसका वास्तविक उद्देश्य वस्तु की आत्मा को ही चित्रित करना है। फोटो-चित्र की तरह बाह्य यथार्थ का मात्र नकल करना कदापि नहीं। मोपांसा जैसे 'यथार्थवादी साहित्यकार ने भी इस सत्य का समर्थन करते हुए कहा है-यथार्थवादी अगर कलाकार है तो वह सामान्य फोटो चित्र के रूप में जीवन का अंकन नहीं करेगा, वरन् जीवन का वह रूप प्रस्तुत करेगा, जो सतही यथार्थ से अधिक पूर्ण, अधिक स्पष्ट, अधिक गहरा और गत्यात्मक होगा।'

हिन्दी उपन्यास के विकास में प्रेमचन्द की भूमिका महत्वपूर्ण है। प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास में यथार्थ का चित्रण प्रामाणिक रूप से नहीं हुआ है। इस समय के महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में चन्द्रकांता और चन्द्रकांता संतति का विषय तिलस्मी एवं ऐय्यारी है। किशोरी लाल गोस्वामी, गोपालराम

गहमरी आदि के उपन्यासों में कथा है लेकिन कथावस्तु में कार्य-कारण संबंध का अभाव है। 'परीक्षा गुरु' उपन्यास में लाला श्री निवास दास ने दिल्ली के युवा व्यापारी मदनमोहन का यथार्थ-चित्रण किया है, लेकिन प्रेमचन्द की तरह युग की सीमाओं को वे पार नहीं कर सके।

''हिन्दी उपन्यास को प्रेमचन्द ने न केवल नई दिशा सुझाई, अपने कृतित्व से सम्पन्न भी किया। वह पहले उपन्यास लेखक हैं जिन्होंने पूरी संजीदगी के साथ उपन्यास-विधा को सोद्देश्य लेखन के रूप में मान्यता दिलाई, उसे महज किस्सा कहानियों की श्रेणी से उठाकर गंभीरमना पाठकों की वस्तु बनाया। उपन्यास के क्षेत्र में उनका सर्वाधिक मूल्यवान प्रदेय सामाजिक यथार्थ के साथ उसकी अभिन्नता सूचित करता है।''[2] प्रेमचन्द का समय अनेक प्रकार के परिवर्तन एवं आन्दोलनों का समय था, भारतीय जनता दोहरी दासता झेल रही थी। पहला शोषक भारतीय जमींदार वर्ग था; दूसरा उपनिवेशवादी अंग्रेज। इसके अलावा सामाजिक, व्यवस्था के पंडित-पुरोहित वर्ग जनता को चूस रहे ाि। समाज में गरीब, पिछड़े, दलित, स्त्रियों की स्थिति चिन्ताजनक थी। प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' (1918) से लेकर 'गोदान' (1936) तक अपने समय के उत्तरी भारत के हर वर्ग के जीवन के हर पक्ष का यथार्थपूर्ण चित्रण किया है। रामविलास शर्मा के अनुसार-''प्रेमाश्रम का आधार किसान-मजदूर का जमींदार से संघर्ष, 'गोदान' की समस्या किसान महाजन की है। 'कर्म-भूमि' में अछूत और लगान-बन्दी आन्दोलनों और 'रंगभूमि' में नये उद्योग धन्धे से गांवों में परिवर्तन का चित्रण किया गया है। समाज के इतने विभिन्न स्तरों का व्यापक ज्ञान संसार के बहुत कम साहित्यकारों में मिलेगा।''[3] प्रेमचन्द यथार्थ जनित समस्याओं को आलोचनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं और 'गोदान' से पहले तक उपन्यासों में उनका समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। इसलिए प्रेमचन्द को आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी साहित्यकार माना जाता है।

'रंगभूमि' के अन्दर भारतीय ग्रामीणों के दैनिक संघर्षों की गाथा है, 'सूरदास' को उनके प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया गया है। 'प्रेमाश्रम' के अन्दर तो लेखक ने अपने आदर्श समाज की स्थापना भी कर दी है। अनेक ऐसे व्यक्ति जो भारतीय जीवन से बहुत दूर थे, अपने विलासी जीवन का परित्याग करके, प्रेमशंकर के साथ 'प्रेमाश्रम' में सेवा कार्य में लग जाते हैं। 'काया-कल्प' के अन्दर मुस्लिम-वैमनस्य को सुलझाने की ओर लेखक की दृष्टि गयी है। 'निर्मला' में अनमेल विवाह तथा विधुर परिणय के परित्याग का संदेश है।

यथार्थ जब 'वाद' का रूप धारण करता है तब उसका स्वरूप अधिक जटिल, स्थिर और पारिभाषिक बन जाता है। उपन्यास के संदर्भ में जब यथार्थ यथार्थवाद बना तो उसने अनेक रूप धारण किये। शिव कु. मिश्र के अनुसार - ''यथार्थवादी दश्नन एवं चिंतन की एक मजबूत कड़ी हमें विरासत में मिली है, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में आज हम जिसे यथार्थवाद के नाम से जानते-पहचानते हैं, जीवन दृष्टि और कला-सर्जना दोनों ही आयामों पर उसकी समझ हमें पश्चिम से ही प्राप्त हुई।''[4] यथार्थवाद के विविध रूप में एक है - आलोचनात्मक यथार्थवाद। यह सबसे पहले फ्रांस में बालजाक और स्तेन्दल के उपन्यासों में उभरां उस समय फ्रांस में सामन्तवादी उच्चवर्ग के विरुद्ध पूंजीवादी बुर्जुआ वर्ग उभर रहा था। बालजाक ओर स्तेन्दल ने अपने उपन्यासों में इस नये बुर्जुआ वर्ग के जीवन के अन्तर्विरोधों को चित्रित किया और उसके प्रति आलोचनात्मक दृष्टि अपनायी। इसलिए उन्हें आलोचनात्मक यथार्थवादी उपन्यासकार कहा गया है। जो काम फ्रांसीसी साहित्य में बालजाक और स्तेन्दल ने अपने उपन्यासों के द्वारा किया, वही काम प्रेमचन्द ने हिन्दी में अपने उपन्यासों के द्वारा किया।

जयशंकर प्रसाद का उपन्यास साहित्य में प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। उन्होंने अपने उपन्यास 'कंकाल' के द्वारा उपन्यास साहित्य में एक मोड़ उपस्थित किया। 'कंकाल' में दो प्रकार की प्रवृत्तियों का संधि-स्थल है। 'कंकाल' में प्रेमचन्द वाली 'आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद' तथा प्रकृतिवादी विचारधारा का सामंजस्य है।

यथार्थवाद का एक रूप 'प्रकृतवादी यथार्थवाद' है। इस यथार्थवाद का प्रारंभ भी फ्रांस में हुआ। एमिल जोला इसके पुरस्कर्त्ता माने जाते हैं। उनकी स्थापना थी कि उपन्यासकार को पूर्ण तटस्थता और निर्ममता के साथ नैतिक रूढ़ियों और सैद्धान्तिक स्थापनाओं से मुक्त होकर एक वैज्ञानिक के द्वारा तैयार किये गये दस्तावेज की तरह उपन्यास लिखना चाहिए। जोला तथा उस समय के अन्य उपन्यासकारों ने मनुष्य को इसी रूप में देखा-परखा ओर उसकी

पाश्विक प्रवृत्ति का खुला और विस्तृत चित्रण अपने उपन्यासों में किया। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र जब अपना साहित्य लेकर आये तो लोगों ने उसे अश्लील घोषित किया। 'उग्र' ने भी एक सीमा तक अपने उपन्यासों में सभ्य समाज के द्वारा तिरस्कृत स्त्री-पुरुषों, गुण्डों, वेश्याओं, उनके दलालों, व्याभिचारियों आदि के क्रिया-कलापों का नग्न चित्रण किया। 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', 'फागुन के दिन चार', 'कलकत्ता रहस्य' आदि उपन्यासों में काम-क्रीड़ाओं के खुले-चित्रण ने मध्य वर्ग के रूढ़ नैतिक संस्कारों को चोट पहुंचायी। उस समय 'उग्र' लगभग अकेले पड़ गये, यद्यपि चतुरसेन शास्त्री, पहाड़ी, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि ने भी 'उग्र' की तरह कुछ उपन्यास अवश्य लिखे। लेकिन भारतीय समाज में बाद में परिवर्तन आ जाने के कारण राजकमल चौधरी, महेन्द्र भल्ला, कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग आदि के उपन्यासों में काम-चित्रण को लगभग चुपचाप स्वीकार कर लिया गया। शिव कु. मिश्र के अनुसार - ''यथार्थ के समूल तथा कुत्सित रूप को प्रस्तुत करना ही प्रकृतवाद नहीं है, उसके लिए भिन्न दृष्टिकोण भी चाहिए।''

जैनेन्द्र प्रेमचन्द के जीवनकाल में ही 'परख' (1929) उपन्यास लेकर आये। इससे मनोवैज्ञानिक उपन्यास का श्री गणेश होता है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि के द्वारा मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में व्यक्ति मन के निजी यथार्थ-चित्रण की शुरुआत हुई। यथार्थ-चित्रण में उपन्यास का जो सहज नाता है, वह तो इनके उपन्यासों में बरकरार रहा, किन्तु प्रधानता व्यक्ति मन के चित्रण को प्राप्त हुई और इसी आधार पर इनकी कृतियों में चित्रित यथार्थ को मनोवैज्ञानिक यथार्थ का नाम दिया गया। दास्तोयव्स्की के उपन्यासों और फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक अनुसंधान ने इस वाद को जन्म दिया। यद्यपि इसे यथार्थ के रूप में स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति है, क्योंकि मनोक्रियाओं का स्थूल तथ्यों की तरह विवेचन-विश्लेषण संभव नहीं है। फिर भी यथार्थवाद की एक प्रवृत्ति के रूप में इसे स्वीकृति मिली है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में फ्रायड या अन्य मनोविश्लेषकों की स्थापनाओं का प्रभाव खोजा जा सकता है और खोजा भी गया है, लेकिन इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में तो वह प्रत्यक्ष है। उनके उपन्यास मनोग्रन्थियों और मनोरोगियों की कहानियाँ हैं। उदाहरण के लिए उनके उपन्यास 'प्रेम और छाया' (1944) को लें। इस उपन्यास के नायक पारसनाथ को जब पता चलता है कि उसकी माँ व्यभिचारिणी है तो वह एक मनोग्रन्थि का शिकार हो जाता है। दुनिया की हर औरत उसे व्यभिचारिणी लगती है। लेकिन उसका पिता जब उसे बताता है कि उसकी माँ सती थी, तो वह मनोग्रन्थि से छुटकारा पा जाता है तथा सहज-सामान्य जीवन यापन करता है। 'सन्यासी' (1940) जोशी जी का अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। उनके उपन्यासों में यथार्थजीवन का अनुभव, मनोविज्ञान का अध्ययन ओर कला तीनों का सुखद सामंजस्य हुआ है। वे अपने उपन्यासों में पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार करते हैं।

इन तीन प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने अपने वैशिष्ट्य के साथ अपने उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के विभिन्न आयामों का उद्घाटन किया है। डॉ. देवराज, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, रघुवंश, नरेश मेहता, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि उपन्यासकारों ने मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के कुछ अन्य आयामों का उद्घाटन किया है, लेकिन यह सच है कि हिन्दी में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद कोई आन्दोलन नहीं बन सका। जिस यथार्थवाद ने हिन्दी में आन्दोलन का रूप धारण किया है, वह है - समाजवादी यथार्थवादी। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर रूस में क्रांति हुई। रूसी क्रान्ति ने मार्क्सवाद को सारी दुनिया में लोकप्रिय बना दिया।

1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। हिन्दी में औपचारिक रूप से समाजवादी यथार्थवाद का प्रारंभ इसी वर्ष से मानना चाहिए, यूँ उसके संकेत साहित्य में पहले से मिलने लगे थे। प्रगतिशील आंदोलन ने अवश्य हमें कुछ प्रखर यथार्थ द्रष्टा उपन्यासकार दिए, जिन्होंने प्रेमचन्द से प्राप्त परंपरा को मार्क्सवाद- समाजवाद के वैज्ञानिक आलोक में नई ऊँचाईयों तक ले जाने का प्रयास किया। ऐसे कथाकारों की एक पंक्ति को परिगणित किया जा सकता है। भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, मार्कण्डेय एवं शिव प्र. सिंह, भीष्म साहनी, गिरिराज किशोर, श्री लाल शुक्ल, काशीनाथ सिंह आधुनिक साहित्य के वे नाम हैं, जिनकी कृतियों में सामाजिक यथार्थ का सजीव चित्रण हमें उपलब्ध होता है। आंचलिक उपन्यास की नई विधा को प्रमुखता देने वाले

फणीश्वरनाथ 'रेणु' भी इसी पंक्ति के प्रमुख व्यक्तित्व हैं। यह सही है कि उक्त उपन्यासकारों में से जहाँ अनेक मार्क्सवादी-समाजवादी चेतना से प्रतिबद्ध है, वहीं कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने इस चिन्तन में ऐसी प्रतिबद्धता सूचित नहीं की है।

इन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में आर्थिक, सामाजिक, लैंगिक आदि सभी प्रकार की विषमता का विरोध किया है और क्रान्ति के द्वारा वर्गहीन समतामूलक समाज की स्थापना का लक्ष्य का प्रचार किया है। इनमें कुछ उपन्यासकारों ने बड़े स्थूल ढंग से अपने उपन्यासों में मार्क्स के सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है। असमल में हिन्दी के समाजवादी उपन्यासकारों ने प्रचारवादी रूख अपनाया है और इसे स्पष्टता के साथ स्वीकार किया है। राहुल सांकृत्यायन ने अपने लेख ''मैं कहानी लेखक कैसे बना'' में स्वीकार किया है कि ''मेरे उपन्यास या कहानियों में प्रोपगेण्डा के तत्त्व ढूंढ़ने के लिए बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनके लिखने में मेरा उद्देश्य ही है; कुछ आदर्शों की ओर पाठकों को प्रेरित करना।'' इसके कारण हिन्दी के प्रगतिवादी उपन्यासकारों के उपन्यास सतही और बनावटी लगने लगते हैं।

सन् 1942 की क्रान्ति, बंगाल का अकाल, नाविक विद्रोह, आजाद हिन्द फौज, मजदूरों की ऐतिहासिक हड़तालें और इनका नेतृत्व संभालने के लिए आतुर विभिन्न राजनीति दलों की टक्करें, किसानों में जागृति अभियान, भारत-विभाजन, पूंजीपति वर्ग का विलासपूर्ण-अनैतिक जीवन, स्वातन्त्र्योत्तर युवा-आक्रोश, ये सब, एक व्यापक सामाजिक जीवन का अंग बनकर प्रगतिशील कथाकारों की वृत्तियों में मूर्त हुआ है। इस संदर्भ में यशपाल का 'झूठा-सच', रंगेय राधव का 'विषाद मठ', 'कब तक पुकारूं', नागार्जुन की 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', अमृतराय की 'बीज', भैरवप्रसाद गुप्त की 'गंगा मइया', जगदम्बा प्र. दीक्षित की 'मुर्दाघर' एवं काशीनाथ सिंह की 'अपना मोर्चा' जैसी कृतियों का सहज उल्लेख किया जा सकता है।

स्वतन्त्रता के बाद हमारे देश में बहुत तेजी से मध्यवर्गीय व्यक्तिवादिता का विकास हुआ। उपन्यासकार सामूहिक जीवन की अपेक्षा व्यक्ति के जीवन का अवगाहन करने लगे, और व्यक्ति भी ऐसा, जो सहज सामान्य नहीं है। ऐसे व्यक्ति के अन्तर्जगत के यथार्थ का चित्रण मनोवैज्ञानिक यथार्थवादियों ने किया था। स्वाधीनता के बाद एक और यथार्थवाद (सुर्रियलीज्य) अतियथार्थ, स्वच्छन्दतावाद का तर्कातीत रूप है। पश्चिम में मूल्यों का ह्रास, तर्कसंगता के प्रति विद्रोह, हीगेल, फ्रायड और मार्क्स के अनुसंधानों, नैतिकता और अभिरूचियों के निश्चित मानदण्डों के विनाश और घोर व्यक्तिवादिता आदि ने मिलकर पश्चिम में अतियथार्थवाद को जन्म दिया। ऐसी रचना को अतियथार्थवादी माना गया है, जिनमें स्वप्नों, मुक्त-आंसग, चेतन और अचेतन अनुभूतियों के संश्लेषण, तर्क-हीनता, ऊलजलूल आदि का चित्रण किया गया हो। पश्चिम में इस प्रकार के उपन्यास कम ही लिखे गये। हिन्दी में भी ऐसे उपन्यास सायास खोजने पड़ते हैं। राजकमल चौधरी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, प्रभाकर माचवे और लक्ष्मीकांत वर्मा के उपन्यासों में अतियथार्थवाद के कुछ लक्षण खोजे जा सकते हैं। किन्तु अतियथार्थवाद के सबसे अधिक लक्षण मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास–'कसप', 'कुरु कुरु स्वाह', 'हरिया हरकुलिस की हैरानी', विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास–'नौकर की कमीज', 'दीवार में एक खिड़की रहती थी', 'खिलेगा तो देखेंगे', तथा कृष्ण बलदेव वेद के कुछ उपन्यासों में देखा जा सकता है, जिन्हें उत्तर-आधुनिक यथार्थवाद के भी उपन्यास सिद्ध किए जा रहे हैं।

(ख) भारतीय मुसलमान और उनका जीवन यथार्थ

'इस्लाम' धर्म को मानने वाले मुसलमान कहलाते हैं। आबादी के हिसाब से मुसलमानों की आबादी विश्व में दूसरे स्थान पर है। हाल के वर्षों में आतंकवादी गतिविधि यों में वृद्धि हुई है। पूरे विश्व में मुसलमानों को आतंक का पर्याय समझा जाने लगा हैं 'ओसामा बिन लादेन' जैसे कुछ व्यक्ति इनके मुखिया माने जाते हैं। सच्चाई यह है कि आतंकवादियों की कोई जाति या धर्म नहीं होता। भारत का विभाजन धर्म के आधार पर हुआ था। 'पाकिस्तान' का निर्माण मुसलमानों के लिए एक अलग देश के रूप में हुआ। जिससे भारत में मुसलमान अल्पसंख्यक बनकर रह गये। कुछ लोग मानते हें कि उन्हें भारत के दोयम दर्जे का नागरिक समझा जाता है। जितने भी साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, उसमें अत्यधिक नुकसान मुसलमानों का ही होता है।

सातवीं सदी से हमारे देश में 'इस्लाम' से परिचय है। बाहर से जो मुसलमान आये, उनका एक हिस्सा अपने देश

नहीं लौटा, यहीं रह गया। आज की मुसलमान आबादी में ऐसे लोगों के वंशधर भी हैं। लेकिन कुल मुसलमान आबादी में इनकी संख्या ज्यादा नहीं है। सभी इतिहासकारों का मत है कि देश के अधिकांश मुसलमानों के पूर्वज भारतीय ही हैं। हमारे पूर्वजों ने इस्लाम क्यों अपनाया, इस बारे में मोटे तौर पर दो मत हैं–

1. मुसलमान शासकों ने उन्हें जबरदस्ती धर्म परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया तथा

2. जाति भेद और निचली जातियों के लोगों को किसी भी तरह के सामाजिक अधिकार न होने के कारण वे इस्लाम की समता और भाईचारे की भावना से आकृष्ट हुए। ये दोनों कारण इतिहास सम्मत हैं। लोग अपने पूर्वाग्रहों से इनकी व्याख्या करते हैं।[6]

स्वतंत्र भारत में मुसलमानों की स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ। अपने पिछड़े हुए आर्थिक स्तर के कारण वे भारत में निम्न मध्य वग्र के सदस्य रहे हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से उन पर मुख्यत: दो आरोप हैं, जिसके कारण उन्हें बुरी हालत झेलनी पड़ती है–

1. अतीत में कुछ मुसलमान शासकों के कु-कर्म, खासकर उनका हिन्दुओं को सताना तथा हिन्दू मन्दिरों को अपवित्र तथा नष्ट करना। साथ ही कुछ मुसलमान शासकों के जजिया लगाने से हिन्दुओं को पहुँची पीड़ा।

2. अपने समुदाय की रक्षा के लिए मुस्लिम नेताओं द्वारा अलगाववादी मांगें करना, जिसे हिन्दुओं ने देशभक्ति के खिलाफ तथा भारत के विभाजन की जड़ माना है।

आज के मुसलमानों को अतीत के मुस्लिम शासकों के पापों के लिए जिम्मेदार ठहराना वैसा ही है जैसे आज के जर्मन युवकों को हिटलर की करतूतों के लिए उत्तरदायी माना जाए। महमूद गजनवी, औरंगजेब आदि शासक थे कोई धार्मिक नेता नहीं। उन्होंने जो कुछ किया उसका मूल्यांकन इस संदर्भ में होना चाहिए कि मध्यकाल में सारी दुनिया में क्या होता था। उन्होंने जो कुछ किया, वह धर्म से मान्यता प्राप्त या पवित्र नहीं था और न ही मुसलमानों के रूप में उसका पालन करना आवश्यक था।

जन्म लेने से पूर्व कोई यह निर्धारित नहीं करता कि वह किस जाति, धर्म के परिवार में जन्म लेगा। कहने का मतलब यह है कि व्यक्ति का जन्म लेना उसके बस की बात नहीं है लेकिन सच्चाई यह है कि उस परिवार का संस्कार बच्चे पर पड़ता है, लेकिन उसके लिए अपने को अपराधी मानना उचित नहीं है। भारतीय मुसलमान होना एक तरह हीन भावना ग्रस्त होना माना जाता है। जिसकी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है।

अंग्रेजों ने भारत में अपने शासन को स्थायी बनाने के लिए 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनायी। इसमें अंग्रेजों ने सफलता भी पायी। भारत का विभाजन बहुत हद तक इस बात का परिणाम था। हिन्दू-मुसलमान जनता के बीच यह बात बैठा दी गई कि वे दोनों अलग-अलग कौम हैं तथा वे साथ-साथ नहीं रह सकते। भारत-विभाजन के लिए केवल जिन्ना या मुस्लिम लीग को जिम्मेदार ठहराना उतना सही नहीं है क्योंकि 'द्विराष्ट्र' सिद्धान्त के समर्थकों में नेहरू और पटेल का भी नाम लिया जाता है। सच्चाई यह है कि ''90 प्रतिशत भारतीय मुसलमानों की व्यावहारिक रूप से पाकिस्तान के निर्माण में कोई प्रभावशाली भूमिका नहीं थी।''[7] कुछ स्वार्थी तत्वों ने इस बात को प्रचारित किया कि 'मुस्लिम लीग' सारे मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करता है तथा सारे मुसलमानों ने भारत-विभाजन की 'मुस्लिम लीग' की मांग का समर्थन किया। इन मान्यताओं ने भारतीय मुसलमानों के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक हितों को बड़े पैमाने पर नुकसान पहुँचाया। इस तरह के 'मिथ' को दूर करने के लिए बमुश्किल ही कोई प्रयास हुए हैं।

(ग) हिन्दी उपन्यासों में चित्रित मुस्लिम जीवन

हिन्दी कथा-साहित्य के संदर्भ में यह आरोप प्राय: लगता है कि प्रेमचन्द के बाद मुस्लिम जीवन का चित्रण बहुत कम हुआ है। मुस्लिम समाज भारत के बहुसंस्कृतीय समाज का एक अभिन्न अंग हैं। उपन्यास जैसे वृहत्तर जीवन को समेटने वाले साहित्य रूप में इस जीवन की अनुपस्थिति स्वभावत: चिन्ता का विषय है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी उपन्यासकार की मुस्लिम जीवन की पकड़ कुछ ढीली हो गई है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय समाज का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उपेक्षित हो रहा है। इसके साथ ही चिन्तनीय है 'मुस्लिम हिन्दी लेखक' का लेबल जो शानी और राही मासूम रज़ा आदि उपन्यासकारों के लिए जोड़ दिया जाता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह इस विभाजित दृष्टि का विरोध करते हैं। वे लिखते हैं,

''समकालीन उपन्यास से संबंधित जब कोई लेख दिखाई पड़ता है तो उसमें अलग से कुछ इस किस्म का वाक्य लिखा मिलता है। 'इधर हिन्दी के कुछ मुसलमान कथाकार भी आये हैं, जिन्होंने समाज को चित्रित करने वाले उपन्यास लिखे हैं।' गनीमत है कि अभी सिख उपन्यासकारों के नाम अलग से नहीं गिनाये जाते लेकिन महिला उपन्यासकार तो हैं ही। अब दलित उपन्यासकार भी कहे जा रहे हैं।''[8]

यशपाल ने 'झूठा-सच' तथा भैरव प्रसाद गुप्त ने 'सत्ती मैया का चौरा' में मुस्लिम जीवन का चित्रण किया है। मुस्लिम जीवन पर लिखे गये प्रामाणिक उपन्यासों में 'काला जल' (शानी), 'आधा गाँव' (राही मासूम रज़ा), 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' (अब्दुल बिस्मिल्लाह), 'छाको की वापसी' (बदी उज़्ज़मा), 'सूखा बरगद' (मंजूर एहतेशाम), 'ठीकरे की मंगनी' तथा 'जिन्दा मुहावरे' (नासिरा शर्मा), 'सात आसमान' और 'कैसी आगी लगाई' (असग़र वजाहत) आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इन उपन्यासों में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश के बदलते यथार्थ के बीच मुस्लिम अल्पसंख्यक वर्ग की सोच एवं उनकी चिन्ताओं, जीवन-संघर्षों अन्तर्द्वंद्वों का चित्रण हुआ है। भीष्म साहनी का 'तमस' विभाजन की पृष्ठभूमि पर साम्प्रदायिकता के अंधकार की गाथा कहते हुए हिन्दू-मुस्लिम के बदलते संदर्भों के मनोवैज्ञानिक आयामों को खोलता है।

स्वतंत्रता की लड़ाई एक होकर लड़ने वाले हिन्दू-मुस्लिम दोनों वर्गों के सामने आजादी के बाद स्थिति भिन्न हो गई। मुस्लिम राष्ट्रीयता संदेह के घेरे में आ गई। आज भी उन्हें अविश्वास व शंका के माहौल से गुजरना पड़ता है। इसने भावनात्मक धरातल पर गहरी ठेस पहुँचाई है। परिणाम स्वरूप एक असुरक्षा तथा भय का वातावरण उसकी चेतना में व्याप्त हो गया है, जिसने उसे अपने भीतर और अधिक सिमटने को मजबूर कर दिया हैं असुरक्षित व्यक्ति धर्म में सुरक्षा की तलाश करता है, अपनी वर्गीय पहचान को दृढ़ता से पकड़े रहना चाहता है। मुस्लिम साम्प्रदायिकता के मनोविज्ञान की जटिलता का बिन्दु यही है।

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश के इस यथार्थ को विभिन्न उपन्यासों में स्वर मिला है। भीष्म साहनी का 'तमस' विभाजन के समय साम्प्रदायिकता के विष के प्रसार के कारणों का संकेत करते हुए मानवीय संवेदना की टूटन को चित्रित करता है। उपन्यास में दंगा कराने वाली भी शासन व्यवस्था है, दंगा शान्त करवाने वाली भी शासन व्यवस्था है, सब कुछ एक सोची-समझी रणनीति के तहत कार्यान्वित होता है। मस्जिद के सामने चोरी से सुअर की लाश फिकवाने वाला मुराद अली शान्ति समिति की बस में सबसे आगे बैठा दिखाई देता है। 'तमस' उस धार्मिक उन्माद का जीवंत चित्रण करता है।

स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में भारतीय मुस्लिम-वर्ग द्वारा अनुभव किए जाने वाले संदेह व अविश्वास ने धीरे-धीरे भय और असुरक्षा का अपेक्षाकृत घना रूप धारण कर लिया। यह असुरक्षा पाकिस्तान गए मुसलमानों के सामने भी है। 'जिन्दा-मुहावरे' में पाकिस्तान गए निजाम का युवा बेटा अख्तर (जो पाक में ही जन्मा है) कहता है–''यह तजुर्बा कितना तकलीफ देह होता है कि आप जहाँ पैदा हों, जिस जमीन को आप वतन समझें उसे बाकी लोग आपका गलत कब्जा बतायें। कदम-कदम पर यह अहसास दिलाये कि तुम यहाँ के नहीं बाहर के हो। हिन्दुस्तान के गाँवों से निकलकर आए हो।''[9] यही अनुभव भारतीय मुसलमान का है जो बिना कहीं गए 'टोबाटेक सिंह' के विशन सिंह की तरह अपनी ही जमीन पर पराया हो गया है। 'काला जल' के मोहसिन कथावाचक बब्बन द्वारा हताश मन:स्थिति में प्रश्न पूछे जाने पर कि कहाँ जाओगे- पाकिस्तान के रूप में जैसे एक कोना ढूंढ़ लेता है। जहाँ पहुँचका जैसे उसकी सारी चिन्ताएँ समाप्त हो जायेगी। वास्तव में पाकिस्तान उसके लिए देश नहीं है। कल्पना में बने एक स्वप्न द्वीप का पर्याय है। जहाँ वह पलायन कर सकता है। बदीउज़्ज़मा का 'छाको की वापसी' (1975) इन सपनों की दुनिया के चूर-चूर होने की कहानी है। हबीब भाई का पाकिस्तान से आया खत इन सपनों को तोड़ता है। बंगाली बिहारी मुसलमान का भेद उन्हें वहाँ भी अजनबी बनाये रखता है।

स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी आज अल्पसंख्क-वर्ग असुरक्षा की चुनौती से बुरी तरह जूझ रहा है। शक व संदेह के कारण अपमानजनक स्थितियाँ आज भी नए-नए रूपों में उपस्थित होती रहती हैं। 'जिन्दा-मुहावरे' के भारत-पाक युद्ध की आशंका के साथ मुस्लिम तहसीलदार से लेकर सामान्य हैसियत के हर व्यक्ति के घर की

तलाशी ली जाती है। अपमान के इस सदमे से रहीमुद्दीन की मृत्यु हो जाती है। जब्बार मियाँ का आक्रोश इन शब्दों में निकलता है। ''हमारी शराफत, वतन परस्ती, खानदानी इज्जत, सब कुछ आपने वर्दी के नीचे रौंद डाली।''[10] मूजर एहतेशम का 'सूखा-बरगद' तथा शानी का कथा साहित्य भय-असुरक्षा व अविश्वास की स्थितियों को अत्यंत सूक्ष्मता व गहराई के साथ व्यंजित करता है। 'काला धन' का बब्बन स्वतंत्रता के बाद के उन वर्षों का स्मरण करता है–''जब हम सब एक शक की नजर से देखे जाते थे। स्कूल के लड़के हम लोगों को देखकर ताने कसते कि 'भेजो सालों को पाकिस्तान, बाँधों सालों को जिन्ना की दुम से।''[11]

असिस्टेंट प्रोफेसर
श्री अरविन्द महाविद्यालय (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. शिव कु. मिश्र, यथार्थवाद, पृ. 176
2. वही, पृ. 193
3. रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृ. 178
4. शिव कु. मिश्र, यथार्थवाद, पृ. 167
5. वही, पृ. 182
6. असग़र वजाहज, हंस, अगस्त 2003, पृ. 29
7. असग़र वजाहज, हंस, अगस्त 2003, पृ. 29
8. अब्दुल बिस्मिल्लाह, हंस, जनवरी 1999, पृ. 111
9. नासिरा शर्मा, जिन्दा मुहावरे, पृ. 101
10. वही, पृ. 63
11. शानी, काला जल, पृ. 89

आशु मिश्रा

विजयदेव नारायण साही की आलोचना-दृष्टि

साहित्यिक आलोचना साहित्यिक सर्जना की तरह ही एक कला है। कला इस अर्थ में कि आलोचक, आलोच्य कृति का मूल्यांकन करते हुए कृति का पुनर्पाठ ही नहीं करता बल्कि अपने युग के साथ उस कृति के माध्यम से एक संवाद भी स्थापित करता है। संवाद स्थापना की यह प्रक्रिया कभी आलोचक की विचारधारा के आधार पर निर्मित होती है और कभी कृति में अभिव्यक्त मान्यताएँ, उसका मूल्यबोध, आलोचक को आलोच्य-कृति के साथ अपने युग बोध के आलोक में संवाद स्थापित करने के लिए उत्प्रेरित करती है। कुल मिलाकर यह प्रक्रिया एकांगी नहीं हो सकती और ना ही वह विशुद्ध शास्त्रीय ही हो सकती है। विजयदेव नारायण साही भी ऐसे ही आलोचक हैं जिन्होंने अपने युग के साथ तादात्म स्थापित करते हुए उस युग-बोध के आलोक में हिंदी साहित्य की परम्परा को परखने का प्रयास किया।

विजयदेव नारायण साही मूलत: काव्यालोचक हैं किन्तु काव्यालोचना के अतिरिक्त भी अनेक विषयों पर उन्होंने अनेक निबंध लिखे एवं व्याख्यान दिये। उनके समस्त लेखन के केन्द्र में उनके युग की अनेक चिंताओं की अनुगूँज सुनी जा सकती है। इन अनुगूँजों का सामूहिक आकलन ही उनके युग-बोध एवं उनकी आलोचना-दृष्टि को समझने में सहायक हो सकता है। प्रस्तावित अध्ययन साही के आलोचनात्मक मूल्यांकन का प्रयत्न ना होकर उनकी आलोचना दृष्टि के कुछ पहलुओं पर विचार करने से सम्बद्ध है। उनकी आलोचना-दृष्टि के इन पहलुओं पर विचार करने पर ही यह भी समझा जा सकेगा कि हिंदी साहित्य के लिए उनका आलोचनात्मक प्रदेय क्या है?

बीसवीं शताब्दी का छठा, सातवां एवं आठवां दशक साही की केन्द्रीय चिंताओं से जुड़ा हुआ है फलत: इस युग की अनेक समस्याओं का हल उन्होंने हिंदी साहित्य में तलाशने की कोशिश की। इस प्रकार हिंदी साहित्य की सम्पूर्ण परम्परा एवं उनका युग-बोध दोनों के बीच उन्होंने अन्नोन्याश्रित संबंध स्थापित कर दिया। विजयदेव नारायण साही यह देख रहे थे कि आजादी के बाद के भारत के लिए सबसे महत्वपूर्ण चुनौती यह है कि देश आत्मगौरव का भाव प्राप्त करे। एक ऐसे देश के लिए जिसका शोषण शताब्दियों से होता रहा था। जिसके आत्मगौरव को लगातार ठेस पहुँचायी जाती रही तो ऐसे देश को आत्मगौरव प्राप्त कर लेने में कितनी कठिनाईयाँ होंगी, यह वे भलीभाँति समझते थे।

साही जानते थे भारतीय समाज में विद्यमान अनेक सामाजिक विसंगतियों को दूर किये बगैर भारतीय जनता द्वारा उस आत्मगौरव को वापस प्राप्त कर लेना अत्यंत कठिन है। इस कारण वे इन सामाजिक विसंगतियों के निदान में जुट गये सम्भवत: यही कारण है कि लोकतांत्रिक मूल्य उनकी आलोचना-दृष्टि के केन्द्र में है। साही यह जानते थे कि ''दुनिया के किसी भी मुल्क में ऐसा लोकतंत्र नहीं है कि उसके लिए यह कहा जा सके यहाँ दुनिया का आदर्श राज्य स्थित है।''[1] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारत इस खुशफहमी में जिता रहे कि हमारे यहाँ सब ठीक है। वह यह भी जानते थे कि ''लोकतंत्र राजनीतिक ही नहीं सैद्धान्तिक भी होता है।''[2] इसलिए वे कभी भी महज सैद्धान्तिक लोकतंत्र के पक्षधर नहीं

रहे।

सही अर्थों में लोकतंत्र की स्थापना तभी हो सकती है जब सम्पूर्ण जनता के बीच गैर-बराबरी हो, गैर-बराबरी की पहली शर्त है समाज में लैंगिग समानता का होना। साही न केवल स्त्री के अधिकारों का समर्थन करते हैं बल्कि वे इस लैंगिग बराबरी के लिए सक्रिय रूप से संघर्ष करते रहे उन्होंने लिखा कि ''स्त्री का अधिकार सिर्फ इसलिए नहीं बनता कि वह हमारी दया की पात्र है या हमारे लिए उपयोगी है या केवल आँचल में दूध और आँखों में पानी लिये माता या देवी रूप है। बल्कि इसलिए क्योंकि स्त्री भी एक व्यक्ति है जीवित और मांसल व्यक्ति पुरुषों की तरह।''[3]

सामाजिक गैर-बराबरी की स्थापना के लिए यह भी अनिवार्य है कि व्यक्ति किसी भी प्रकार के श्रेष्ठता भाव से मुक्त रहते हुए राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रयास करे। साही भारतीय समाज में विद्यमान श्रेष्ठतावादी मनोभावों से खूब परिचित थे। वे जानते थे कि यह श्रेष्ठतावाद कभी भी अलगाववाद की समस्या में परिवर्तित हो सकता है। बीसवीं शताब्दी के छठवें दशक में ही भाषा एवं स्थानियता पर आधारित अलगाववादी स्वर सुनाई देने लगे थे। यही कारण है कि साही ने अपने लेखन में स्थानीयता के खतरों की ओर संकेत किया। ''स्थानीयता हिन्दुस्तान के बहुत से रोगों की जड़ में है। हर प्रांत में स्थानीय धरतीपुत्रों और दूसरों प्रांतों व विदेशियों के बीच के शासक वर्ग जहर भरी खाईयाँ खोदने में लगा है।''[4] किन्तु इससे यह मान लेना नहीं चाहिए कि साही भारतीय राष्ट्रवाद के खिलाफ थे या फिर भारतीयता के प्रति उनमें आदर न था। वे लिखते हैं कि ''भारतीयता बहुत कुछ आपके चारों ओर लिपटे उस वायुमण्डल की तरह है। फर्क इतना है कि वह वायुमण्डल निर्मल होगा कि दूषित होगा इसमें औसत आदमी की तरह आपके आचारों, विचारों, व्यवहारों का भी योगदान है।''[5]

भारत की गरीबी, सामाजिक असमानता तथा गैर-बराबरी से मुक्ति के लिए साही ने लोकतांत्रिक समाजवाद का स्वप्न देखा। समाजवाद का यह स्वप्न किसी भी प्रकार की सैद्धान्तिकी से अलग भारतीय समस्याओं को केन्द्र में रखकर गढ़ा जा रहा था तथा इस स्वप्न के मूल में थे राममनोहर लोहिया एवं लोकनायक जयप्रकाश तथा आचार्य नरेन्द्र देव के विचार। मधुलिमय ने लिखा है कि ''साही जी ऐसे समाजवाद की कल्पना करते थे जो विकेन्द्रीकरण और एकता तथा स्वाधीनता और समानता में समन्वय स्थापित हो सके। साथ-साथ जिसमें अस्तित्व की भावना भी भरपूर पनपे।''[6]

अपने युग की चिंताएं साही की आलोचना कर्म की केन्द्रीय चिंताएं हैं। यही कारण है कि चाहे वह मलिक मुहम्मद जायसी पर विचार कर रहे हों या फिर गोदान का विश्लेषण कर रहे हों, उस विचार एवं विश्लेषण के केन्द्र में उनके युग की चिंताएं ही रही हैं। अपने युगबोध से अलग होकर जिस प्रकार कोई साहित्यिक रचना कालजयी नहीं हो सकती उसी प्रकार किसी आलोच्य कृति का भी युगबोध से अलग होकर अपनी पहचान बनाए रखना प्रायः असम्भव है। उनके आलोचना-कर्म के संदर्भ में केशवचंद्र वर्मा ने ठीक ही लिखा है, ''उन्होंने जायसी के बहाने आधुनिक हिंदी कविता के बहस को आगे बढ़ाया।''[7]

साही ने साहित्य एवं आलोचना को महज दार्शनिक नजरिए से नहीं देखा यदि वह दर्शन है भी तो उसकी मूल चिंता मनुष्य की चिंता ही है। ''दर्शन जिस प्रश्न को इस रूप में पूछता है कि साहित्य क्या है? साहित्य उसी प्रश्न को इस ढंग से पूछता है कि मनुष्य क्या है?''[8]

चूँकि विजयदेव नारायण साही कि केन्द्रीय चिंता मनुष्य की है इसलिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे अपने आलोचना कर्म में किसी भी विचारधारा से पृथक होकर ही विचार करते। यद्यपि आजकल यह भी कहा जाने लगा है कि किसी भी प्रकार के विचारधारा को न मानना भी अपने-आप में एक विचारधारा है। किन्तु साही जैसे आलोचक के संबंध में विचार करते हुए इस सरलीकरण से बचना होगा। विचारधारा से परे रहने को (या फिर मार्क्सवादी विचारधारा से अलग रहने को) वे अपने युग की अनिवार्य जरूरत समझते थे। साही के लिए साहित्यिक कृति का मूल्यांकन कलावाद के सिद्धांतों के आधार पर करना इसलिए अनिवार्य हो गया क्योंकि वे यह देख रहे थे कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अथवा मार्क्सवादी आलोचना पद्धति ने हिंदी आलोचना एवं हिंदी साहित्य के विश्लेषण के सम्बन्ध में अनेक पूर्वाग्रह निर्मित कर लिए थे। इन पूर्वाग्रहों का प्रभाव साहित्यकारों एवं साहित्यालोचकों के मूल्यांकन पर पड़ रहा था। उदाहरण के लिए नन्दकिशोर नवल के हिंदी आलोचना परम्परा के विश्लेषण संबंधी उनकी धारणा पर विचार किया जा सकता है। वे लिखते

हैं, ''अपने अध्ययन के उपरांत मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि हिंदी आलोचना की मुख्यधारा प्रगतिशील धारा है। जिसका निर्माण पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नामवर सिंह ने किया है।''[9]

कहना न होगा कि आलोचना की इस कथित प्रगतिशील धारा (मुख्यधारा) में अनेक महत्वपूर्ण आलोचक नहीं हैं। इसमें भारतेन्दु नहीं हैं, सुमित्रानंदन पंत नहीं हैं, नन्ददुलारे वाजपेयी नहीं है, यहाँ तक कि अज्ञेय भी नहीं हैं। तब इस बात पर क्या आश्चर्य कि आलोचना की कथित इस मुख्यधारा में विजयदेव नारायण साही का स्थान नहीं है। यह इसलिए है क्योंकि नन्दकिशोर नवल ने प्रगतिशीलता का एक सिद्धान्तशास्त्र निर्मित किया तथा उस चौखटे के बाहर जो कुछ था उसे मुख्यधारा से पृथक कर दिया। विजयदेव नारायण साही ने इस विचारधारा के आग्रह को तोड़ा तथा मूल्यांकन के लिए एक वस्तुनिष्ट सिद्धांत के निर्माण की वकालत की। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मलिक मुहम्मद जायसी विश्लेषण के संदर्भ में वे शुक्ल जी की वस्तुनिष्ठता की प्रशंसा करते हैं। वस्तुनिष्ठ हुए बिना निष्पक्ष मूल्यांकन भला कैसे सम्भव है?

विजयदेव नारायण साही की आलोचना कर्म की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे कृति को महज विचारधारा से ही मुक्त नहीं करते कृतिकार से भी मुक्त कर देते हैं। कोई भी कृति रचे जाने के पश्चात् रचनाकार से पृथक एक स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण कर लेती है और तब उसके अस्तित्व पर रचनाकार का नियंत्रण भी नहीं रह जाता। ''कविता सिर्फ जन्म ही नहीं लेती वह कवि से अलग होकर एक सार्वजनिक अस्तित्व ग्रहण करती है।''[10] कृति के मूल्यांकन के लिए मूल्यांकन के संकेतों की खोज साही कृति के भीतर करते हैं। शमशेर बहादुर सिंह की कविता का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उनकी कविता को अभिव्यक्ति एवं संकोच के तनाव के बिन्दु पर विकसित होते हुए देखा। इसी प्रकार मलिक मुहम्मद जायसी के विश्लेषण के लिए उन्होंने स्थापित मानदण्डों से मुक्त होकर पद्मावत का विश्लेषण विशुद्ध ट्रेजडी के अर्थ में किया। यह करने की आवश्यकता साही को इसलिए पड़ी क्योंकि उन्होंने कविता क्या है? इस अवधारणा में किंचित बदलाव कर दिये थे। कविता महज सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। यदि यह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति मात्र है तो फिर कविता की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति तो साहित्य की अनेक विधाओं तथा समाज विज्ञान के अन्य विषयों में बेहतर ढंग से की जा सकती है। ऐसी स्थिति में भला कविता लिखी ही क्यों जाए? साही कहते हैं, ''हमारे चारों ओर रोजमर्रा का एक जीवन है। इसी का अतिक्रमण करने की कोशिश कविता करती है।''[11] इस प्रकार कविता महज जीवन की अभिव्यक्ति नहीं है वह जीवन का अतिक्रमण भी है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन के साथ-साथ साही आलोचना भाषा की भी चिंता कर रहे थे। उन्होंने अपने अनेक निबंधों में पश्चिम से चले आ रहे अंग्रेजी के शब्दों को हिंदी में स्वीकारे जाने अथवा न स्वीकारे जाने को लेकर अनेक चिंताएँ व्यक्त की हैं। वे यह प्रयास कर रहे थे कि पश्चिम से चली आ रही शब्दावली का प्रयोग हिंदी में भारतीय संदर्भों में किया जाए। उनका यह कार्य इस रूप में महत्वपूर्ण था। क्योंकि आलोचना, आलोचक के लिए महज सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति की वस्तु नहीं है। कोई भी आलोचक किसी भी कृति का विश्लेषण उतनी ही दूर तक कर सकता है जिस हद तक विश्लेषण की स्वतंत्र उसे उसकी भाषिक अनुभूतियाँ प्रदान करे। भाषिक अनुभूति के विस्तार के लिए यह अनिवार्य है कि आलोचक भाषा के विकास की भी चिंता करे।

विजयदेव नारायण साही महज कविता के आलोचक नहीं है अपने आलोचना कर्म में उन्होंने गोदान एवं अलग-अलग वैतरणी कृतियों का भी विश्लेषण किया। साथ ही वे अपने युग के अनेक सामाजिक प्रश्नों से भी जूझते रहे। उनकी आलोचना अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक व साहित्यिक चिंतन का जीता-जागता दस्तावेज है। यह दस्तावेज पूर्ण भले ही न हो किन्तु अपने युग की अनेक चिंताओं की अनुगूँज हैं तथा एक बेहतर भविष्य के निर्माण का रास्ता भी। साही के आलोचना कर्म को इस रूप में याद किया जाना चाहिए।

सहायक प्राध्यापक
संकुल नव-प्रर्वतन केन्द्र
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : ashumishra087@gmail.com

संदर्भ सूची

1. लोकतंत्र की कसौटियाँ, विजयदेव नारायण साही, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–1991, पृ. 06
2. वही, पृ. 06
3. वही, पृ. 144
4. वही, पृ. 146
5. साहित्य क्यों? विजयदेव नारायण साही, प्रदीपन एकांश, इलाहाबाद, संस्करण–1983, पृ. 109
6. लोकतंत्र की कसौटियाँ, विजयदेव नारायण साही, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–1991, पृ. X
7. साहित्य क्यों? विजयदेव नारायण साही, प्रदीपन एकांश, इलाहाबाद, संस्करण–1983, पृ. 13
8. छठवाँ दशक, विजयदेव नारायण साही, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, संस्करण–2007, पृ. 138
9. हिंदी आलोचना का विकास, नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1979, पृ. 07
10. छठवाँ दशक, विजयदेव नारायण साही, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, संस्करण–2007, पृ. 196
11. छठवाँ दशक, विजयदेव नारायण साही, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, संस्करण–2007, पृ. 196